

**TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186187

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP-43-30.1.71-1,000

OSMANIA UNIVERSITY

Call No.

H81

Accession No.

H2222

Author

B57H

Title

भट्ट, विश्वम्भरनाथ प.
रत्नकर उनकी प्रतिभा आ
कला -

This book should be returned on or before the date last marked below.

रत्नाकर : उनकी प्रतिभा और कला

रत्नाकर : उनकी प्रतिभा और कला

डा० विश्वम्भर नाथ भट्ट,

एम० ए०, एल-एल बी०, पी-एच० डी०

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग ;

दिल्ली-कॉलेज, दिल्ली

हिन्दी की नवीनतम पुस्तकें मिलने का स्थान

माहिती रत्न भण्डार, आगरा ।

दिल्ली पुस्तक सदन

नई दिल्ली :: पटना

प्रकाशक :

दिल्ली पुस्तक सदन

१२६ कमला मार्किट

नई दिल्ली ।

प्रथम संस्करण—अगस्त १९५७

मूल्य : नौ रुपए

मुद्रक :

सुरेन्द्र प्रिंटर्स प्राइवेट लि०,

डिप्टी गंज, दिल्ली ।

रत्नाकर : उनकी प्रतिभा और कला शीर्षक प्रबन्ध के सम्बन्ध में खेद-प्रकाशन या परिकीर्तन मुझे ईप्सित नहीं है । सन् १९५२ में आलिखित 'थीसिस' का यह परिमार्जित प्रथम मुद्राङ्कन है । सम्प्रधारणा से विरति मुझे भी नहीं है, अतः परन्तवों का प्रतिग्रह—आनुषङ्गिक रूप में ही सही—मेरे लिए लाभप्रद ही होगा ।

विश्वम्भर नाथ भट्ट

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

संक्षिप्त जीवनी

[पृष्ठ १—२२]

पूर्वज—१, जन्म, बाल्यकाल तथा प्रारम्भिक जीवन—२, यौवनकाल—४, नौकरी—६, पर्यटन—९, चरित्र-निर्माण तथा ज्ञानार्जन—९, व्यक्तित्व और प्रभाव—१०, अभिरुचि तथा मनोरञ्जन—१६, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन—१७, विभिन्न संस्थाओं से सम्बन्ध—१७, गार्हस्थ्य जीवन—१७, मैत्री तथा परिचय—१८, अन्तिम यात्रा—२० ।

द्वितीय अध्याय

रत्नाकर-युग की परिस्थितियाँ

[पृष्ठ २३—४३]

राजनीतिक परिस्थितियाँ—२३, सामाजिक परिस्थितियाँ—२६, धार्मिक परिस्थितियाँ—२९, आर्थिक परिस्थितियाँ—३१, साहित्यिक प्रवृत्तियाँ—३२ ।

तृतीय अध्याय

रत्नाकर का साहित्यिक मण्डल

[पृष्ठ ४४—६३]

काशी-कवि-समाज—४४, विभिन्न कवि-समाजों पर प्रभाव—६०, रत्नाकर और काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा—६१, रसिक-मण्डल प्रयाग—६३ ।

चतुर्थ अध्याय

रत्नाकर के गद्यलेख

[पृष्ठ ६४—७९]

गद्यलेखक रत्नाकर—६४, भूमिकाएँ—६४, द्विवेदीयुग का प्रभाव—७१, गद्यलेख तथा उनकी भाषा-शैली—७२

पञ्चम अध्याय

रत्नाकर की अनुवाद एवं सम्पादन-कला

[पृष्ठ ८०—१०८]

अनुवाद-कला—८०, कतिपय नवीन शब्द—८६, 'पोप' की त्रुटियाँ और रत्नाकर—८९, उत्कृष्ट पंक्तियाँ—९१, कतिपय शिथिल पंक्तियाँ—९३, भारतीय वातावरण—९४, 'समालोचनादर्श' का मौलिक अंश—९८, रत्नाकर की सम्पादन-कला—९९, सम्पादित ग्रन्थ—१००, 'सरस्वती'—१०३, टीकाकार रत्नाकर १०४, 'सूर सागर' का सम्पादन—१०६ ।

षष्ठ अध्याय

रत्नाकर की विचार-धारा

[पृष्ठ १०९—१६०]

राजनीतिक दृष्टिकोण—१०९, राष्ट्रीय तथा सामाजिक दृष्टिकोण—११७, दार्शनिक दृष्टिकोण—१२४, भक्ति-भावना और धार्मिक दृष्टिकोण—१३१ ।

सप्तम अध्याय

रत्नाकर का काव्य-कलाप

काव्य ग्रन्थ और उनका संक्षिप्त परिचय

[पृष्ठ १६१—१८६]

हिंडोला—१६१, समालोचनादर्श—१६२, हरिश्चन्द्र—१६२, कलकाशी—१६६, शृंगारलहरी तथा प्रकीर्ण पद्यावली—१६९, गंगा-विष्णु-लहरी—१६९, रत्नाष्टक तथा वीराष्टक—१७२, गंगावतरण—१७३, उद्धवशतक—१८० ।

अष्टम अध्याय

रत्नाकर का काव्य-कल्प

[पृष्ठ १८७—२५०]

अलङ्कार-सौन्दर्य—१८७, छन्द-संघटन—२२५, भाषा-शैली—२३२ ।

नवम अध्याय
रत्नाकर का भाव-वैभव
रस-योजना

[पृष्ठ २५१—३७४]

संयोगशृङ्गार—२५१, वियोग शृङ्गार—२७६, वत्सल रस—३१०, वीर-
रस—३११, रौद्ररस—३१९, भयानक रस—३२०, करुणरस—३२३, हास्यरस—
३२८, वीभत्स रस—३३१, अद्भुत रस—३३२, शान्तरस—३३३, प्रकृति-चित्रण—
३३५, प्रतिभा-प्रकर्ष और बहुज्ञता—३५६ ।

दशम अध्याय
उपसंहार

[पृष्ठ ३७५—३८८] 7

ब्रज-भाषा-कवियों में रत्नाकरजी का स्थान—३७५, हिन्दी-साहित्य के विकास
में रत्नाकरजी का योग—३८३ ।

प्रथम अध्याय संक्षिप्त जीवनी

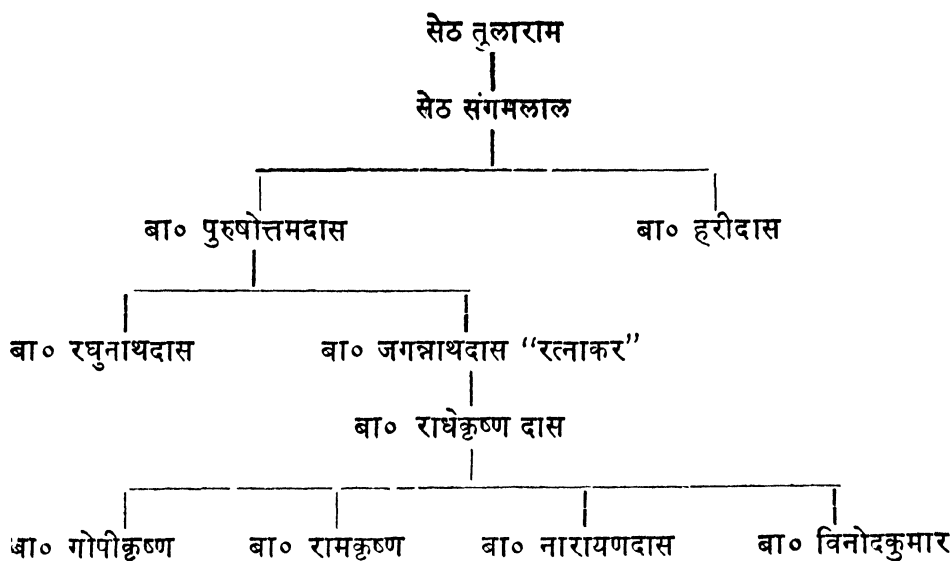
पूर्वज

वैश्य-कुल-भूषण कविवर श्री जगन्नाथदास रत्नाकर के पूर्वज मूलरूप से सफीदों (सर्पदमन) जिला पानीपत के निवासी थे । जन-श्रुति के अनुसार सर्पदमन वही स्थान है, जहाँ जनमेजय ने नाग-यज्ञ करके सर्पों का दमन किया था । पानीपत के द्वितीय युद्ध के पश्चात् रत्नाकर जी के पूर्वज सम्राट् अकबर के दरबार में आये, तथा मुगल-साम्राज्य के समृद्धि-काल में प्रतिष्ठित राजकीय पदों को शोभित करते हुए दिल्ली में ही बस गये । सांस्कृतिक एवं आर्थिक दृष्टि से रत्नाकरजी का वंश अपने पूर्वजों से ही सम्पन्न रहा है । आपके प्रपितामह सेठ तुलाराम भी अपार वैभव एवं विशेष राज-सम्मान के अधिकारी थे ।

मुगल शासन के ह्रासकाल में अनेक विद्वान् तथा धनी-मानी लोग दिल्ली छोड़कर यत्र-तत्र बिखर गये । सम्भवतः इन्हीं दिनों रत्नाकरजी के पूर्वज भी दिल्ली से लखनऊ आ बसे थे ।

लखनऊ में भी इन लोगों का सम्बन्ध राजघराने से बना रहा । सेठ तुलाराम की जहाँदारशाह के दरबार में अच्छी प्रतिष्ठा थी । उनकी गणना लखनऊ के तत्कालीन धनकुबेरों और श्रेष्ठ महाजनों में की जाती थी । एक बार उन्हें लखनऊ के किसी नवाब को तीन करोड़ रुपये उधार भी देने पड़े थे । इस अनिवार्य ऋण-दान से उनकी सम्पत्ति का अधिकांश हाथ से निकल गया, परन्तु फिर भी उनके अमीरी ठाठ में विशेष अन्तर उपस्थित न हुआ । जहाँदारशाह के साथ तुलारामजी एक बार काशी आये । काशी उन्हें इतनी प्रिय लगी कि शिवाला घाट पर मकान खरीद कर वे वहीं रहने लगे । अभी तक उनके वंशज इसी मकान में रह रहे हैं । धीरे-धीरे उन लोगों ने और भी मकान खरीदे । उनके वर्तमान वंशजों के पास बनारस में ही इस समय लगभग साठ-पैंसठ मकान हैं ।

सेठ तुलाराम के सुपुत्र सेठ संगमलाल भी अपने युग के प्रसिद्ध महाजन तथा अग्रवाल जाति के चौधरी थे । संगमलालजी ने शिवाला घाट के निकट ही एक पक्का घाट बनवाया था, जो आज भी दण्डीघाट के नाम से प्रसिद्ध है । सेठ तुलाराम के वंशजों का वृक्ष इस प्रकार है :—



सेठ संगमलाल के सुपुत्र बाबू पुरुषोत्तमदास भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के सम-कालीन, उनके जाति-भाई, तथा अभिन्न हृदय मित्र थे । बाबू पुरुषोत्तमदास फारसी के श्रेष्ठ विद्वान् थे । हिन्दी-कविता के प्रति भी उनका विशेष आकर्षण था । भारतेन्दुजी के घर पर जो कवि सम्मेलन होते थे, उनमें ये अवश्य जाते थे; इसके अति-रिक्त स्वतः इनके यहाँ भी प्रायः कवि-सम्मेलन होते रहते थे । भारतेन्दुजी की ससुराल और ननिहाल दोनों ही काशी के शिवाला मुहल्ले में थीं । हरिश्चन्द्रजी जब वहाँ आते तो बा० पुरुषोत्तमदास के घर भी अवश्य जाते थे । ऐसे ही एक अवसर पर जब हरिश्चन्द्रजी शिवाला मुहल्ले में आये हुए थे, तब वे अपने विनोदी स्वभाव के कारण छद्मवेश में पुरुषोत्तमदासजी के घर पहुँचे और दरवाजे के पास बैठकर भिखारियों की तरह पैसा माँगने लगे । जाड़े के दिन थे और प्रातःकाल का समय, अतः उन्हें कोई जल्दी पहचान न सका । बाबू पुरुषोत्तमदासजी ने जब नौकर के द्वारा पसा भेजा, तो वह हरिश्चन्द्रजी को तुरन्त पहचान गया । जब उसने आकर उनके आने की सूचना दी, तब हरिश्चन्द्रजी के परिहास से घर का वातावरण तुमुल हास्य से मुखरित हो उठा । इस घटना से स्पष्ट हो जाता है कि बा० पुरुषोत्तमदास की भारतेन्दुजी से कितनी घनिष्ठता थी ।

जन्म, बाल्यकाल तथा प्रारम्भिक जीवन

इन्हीं पुरुषोत्तमदासजी के सुपुत्र बा० जगन्नाथदास थे जो हिन्दी-संसार में 'रत्नाकर' उपनाम से प्रसिद्ध हुए । रत्नाकरजी का जन्म विक्रमी संवत् १९२३ (सन् १८६६ ई०) में भाद्रपद शुक्ला ५ (ऋषि पंचमी) को काशी में हुआ । 'बिहारी रत्नाकर'

की टीका समाप्त करते हुए रत्नाकरजी ने अपनी जन्म-तिथि को इस प्रकार स्वीकार किया है :—

“ग्रह ऋषि निधि ब्रजचंद पाइ अनुकूल बरष बर ।
 ऋषि पंचमी पुनीत, सुबल भादों, रबि बासर ॥
 शोभा लखत नसीम-बाग, कसमीर कुधर की ।
 करि रचना यह रुचिर ‘बिहारी रत्नाकर’ की ॥
 निज छप्पनवें बयप्रंथि-दिन हरण्यौ रत्नाकर हियौ ।
 श्री जगदंबा-अवधेश्वरी-करकमलनि अर्पित कियौ ॥”^१

इसी ग्रन्थ के पृष्ठ अट्ठाईस पर भी रत्नाकरजी ने अपनी जन्म-तिथि को स्पष्टतः व्यक्त किया है । वे लिखते हैं कि, “इस ग्रंथ का टीका भाग सं० १९७९ के भाद्रपद की ऋषि पंचमी को हमारी ५६ वीं वर्षगांठ के दिन, कश्मीर प्रान्त के निशातबाग नामक स्थान में समाप्त हुआ ।” संयोग की बात है कि, भारतेन्दुजी का जन्म भी भाद्रपद शुक्ला ५ (ऋषि पंचमी) को काशी में ही हुआ था । भारतेन्दुजी का जन्म संवत् १९०७ है तथा रत्नाकर जी का १९२३, अतः रत्नाकरजी भारतेन्दुजी से ठीक सोलह वर्ष छोटे थे ।

रत्नाकरजी के पूर्वजों का सम्बन्ध मुगल राज-दरबारों से रहा था तथा उनके बाल्य-काल में भी उर्दू-फारसी का ही बोलबाला था, अतः लगभग पाँच वर्ष की अवस्था में आपका भी मक़तब प्रारंभ हुआ । यह प्रथा कई पीढ़ियों से चली आ रही थी, अतः आपको भी एक मौलवी द्वारा उर्दू-फारसी की शिक्षा दी जाने लगी । इसके एक वर्ष पश्चात् हिन्दी-शिक्षा आरम्भ हुई । लगभग आठ वर्ष की अवस्था में आप अंग्रेजी की शिक्षा के लिए बनारस के बी० पी० स्कूल में भर्ती हुए । यह स्कूल आजकल बंगाली टोला हाई स्कूल कहलाता है । अध्ययनशील स्वभाव और कुशाग्र बुद्धि के कारण आपके अध्यापक आपसे सदैव प्रसन्न रहते थे । इन दिनों आप अपना मनोरञ्जन प्रायः कबूतरों से किया करते थे । भिन्न-भिन्न जातियों के एक-से-एक सुन्दर तथा मूल्यवान कपोत आपने पाल रखे थे । उन्हें दाना-पानी देने तथा उड़ाने में आप बड़े प्रसन्न होते थे । रत्नाकरजी की रचनाओं में कहीं-कहीं कबूतरों की स्वाभाविक चेष्टाओं का जो सुन्दर निरूपण हुआ है, उसका कारण बाल्यावस्था का यही मनोरञ्जन है ।^२

१. बिहारी रत्नाकर पृष्ठ २९६

२. गंगाक्षरण में उनकी यह उत्प्रेक्षा द्रष्टव्य है:—

रत्नाकरजी को अपनी बाल्यावस्था से ही कवि-समाजों और विद्वानों की मण्डली में बैठने का अवसर मिलने लगा था। घर पर कवि-गोष्ठियाँ होती ही थीं, इधर अपने पिता के साथ ये हरिश्चन्द्रजी के कवि-समाज में भी जाते रहते थे। इस प्रकार विद्वानों के सम्पर्क में आते रहने से उनकी प्रतिभा बाल्यावस्था में ही जाग्रत हो गयी थी। इन्हीं दिनों उन्होंने दो-एक कवित्त बनाये जिन्हें सुनकर बा० पुरुषोत्तमदासजी बहुत प्रसन्न हुए थे।^१

भारतेन्दुजी ने इन कवित्तों को सुनकर कहा था कि “यह लड़का कभी अच्छा कवि होगा।” यह आशीर्वाद रत्नाकरजी के लिये अमोघ सिद्ध हुआ।

यौवन-काल

रत्नाकरजी की सम्पूर्ण शिक्षा काशी में हुई। बी० पी० स्कूल में अपनी शिक्षा समाप्त करके आप क्वीन्स कॉलिज में भरती हुए। इसी कॉलिज से आपने सन् १८९१ में अंग्रेजी, फिलौसफी तथा फारसी लेकर लगभग पच्चीस वर्ष की अवस्था में बी० ए० की डिग्री प्राप्त की। बी० ए० के पश्चात् आपने एल-एल० बी० तथा फारसी में एम० ए० के लिए अध्ययन प्रारम्भ किया, परन्तु उन्हीं दिनों आपकी माताजी का स्वर्गवास हो गया, अतः आप परीक्षाएँ न दे सके। रत्नाकरजी का जन्म एक सम्पन्न परिवार में हुआ था, धन की उन्हें कमी थी नहीं, अतः यौवनावस्था में सामान्यतः उनके अध्ययन में अनेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हो सकती थीं। परन्तु बी० ए० तक व्यवधान रहित अव्याहत सफलता उनकी अध्ययनशील अभिरुचि का सजीव प्रमाण है।

“जल सौं जल टकराइ कहैं उच्छलत उमंगत ।

पुनि नीचै गिरि गाजि चलत उत्तंग तरंगत ॥

मनु कागदी कपोत गोत के गोत उड़ाए ।

लरि अति ऊँचें उलरि गोति गुथि चलत सुहाए ॥” (गंगावतरण पृष्ठ २५४)

गंगावतरण के दशम सर्ग में भी उन्होंने कबूतरों की स्वाभाविक चेष्टा का सजीव चित्र उपस्थित किया है :—

“स्यामा सीटी देति चटक चुटकी चुटकावत ।

झूमि झूमि झुकि कल कपोत तबला गुटकावत ॥” (गंगावतरण पृष्ठ २७८)

१. इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग से प्रकाशित उद्धव शतक के ‘निवेदन’ में पृष्ठ सात पर रत्नाकरजी ने इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है:

“कविता में मेरी रुचि लड़कपन ही से है। ४० या ४५ वर्ष हुए जब मैंने दो-

बी० ए० के पश्चात् सन् १८९१ ई० से लगभग नौ वर्षों तक रत्नाकरजी का जीवन साहित्यिक हलचलों में व्यतीत हुआ। स्वभावतः काव्य-प्रेमी होने के कारण आप विद्यार्थी जीवन में ही उर्दू तथा फारसी में थोड़ी बहुत कविता करने लगे थे। इस समय आपका तखल्लुस “जकी” था। फारसी की शायरी में आपके उस्ताद मिरजा मुहम्मद हसन फायज थे। अपने उस्ताद के प्रति आपकी जैसी अगाध श्रद्धा थी, वैसी आज के युग में कम विद्यार्थियों में दृष्टिगोचर होती है। अस्तु, फारसी की कमनीयता आपको अधिक न लुभा सकी। निरन्तर हिन्दी कवियों के सम्पर्क में आते रहने से अन्ततः आप हिन्दी की ओर अधिक आकृष्ट होने लगे। विद्यार्थी जीवन के पश्चात् तो आप फारसी छोड़कर ब्रजभाषा के ही अनन्य उपासक बन गये थे।

काशी से आपने “साहित्य सुधानिधि” नामक एक मासिक-पत्र सन् १८९३ ई० में निकाला। यह पत्र अपनी विशेषताओं के कारण लोकप्रिय हो गया था। सन् १८९३-९४ के लगभग आपने ‘काशी-कवि-समाज’ के अधिवेशनों में भाग लेना प्रारम्भ किया। इस कवि-समाज में दी हुई समस्याओं की आपने जो पूर्तियाँ की थीं, उनमें से अधिकांश नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित “रत्नाकर” में संगृहीत हो चुकी हैं। सन् १८९६ में सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने ‘लालचन्द्रिका’ की भूमिका में दोहा छन्द पर रत्नाकरजी के विचारों को उद्धृत किया।^१ “दोहा नियम रत्नाकर” शीर्षक एक लेख आपने सन् १८९४ ई० में “साहित्य सुधानिधि” में प्रकाशित किया था। उसी लेख के कुछ उद्धरण देते हुए ग्रियर्सन ने रत्नाकरजी की संवर्द्धना की थी। ‘लालचन्द्रिका’ के पृष्ठ अठारह पर जो “फुट नोट” छपा है, उसमें भी ग्रियर्सन ने आपकी बड़ी प्रशंसा की है। इस प्रकार रत्नाकरजी शनैः-शनैः एक साहित्यिक तथा कवि के रूप में प्रसिद्ध होने लगे थे। इन दिनों आपका जीवन विभिन्न पुस्तकों के सम्पादन अथवा मौलिक ग्रन्थों के प्रणयन में व्यतीत हो रहा था।

सरकारी दफ्तरों में हिन्दी-प्रवेश कराने के लिये सन् १८९८ ई० में एक प्रभावशाली ‘डेपुटेशन’ तत्कालीन लाट साहब से मिला था। इस ‘डेपुटेशन’ में रत्नाकरजी भी थे। इसी के प्रयत्न से सन् १९०० ई० में सरकार ने कचहरियों में नागरी-

एक कवित्त उद्धव सम्बन्धी बनाये थे। वे कई मित्रों तथा उस समय के कवियों को रुचिकर प्रतीत हुए। पूज्यपाद स्वर्गीय पिता जी ने भी उन पर प्रसन्नता प्रकट की। इस प्रकार प्रोत्साहित होकर मैंने उद्धव-विषयक ५-७ कवित्त और बनाये और फिर यह विचार किया कि एक उद्धव शतक की रचना की जाय।”

१. देखिए, ‘लालचन्द्रिका’ की भूमिका पृष्ठ १५ संस्करण सन् १८९६ ई०

प्रवेश की घोषणा की।

प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का प्रकाशन सन् १९०० ई० से प्रारम्भ होता है। इस वर्ष के प्रथम अङ्क में सम्पादक समिति की जो नामावली प्रकाशित हुई है, उसमें रत्नाकरजी का भी नाम है। इस समिति में निम्नलिखित ५ विद्वान् सम्मिलित थे :

- | | |
|----------------------------|---------------------------|
| १. बा० कार्तिकप्रसाद खत्री | २. पं० किशोरीलाल गोस्वामी |
| ३. बा० जगन्नाथदास बी० ए० | ४. बा० राधाकृष्णदास |
| ५. बा० श्यामसुन्दरदास। | |

नौकरी

रत्नाकरजी ने सन् १९०० ई० में अवागढ़ में नौकरी की। वहाँ आप खजाने के निरीक्षक नियुक्त हुए थे, किन्तु जलवायु अनुकूल न होने से दो वर्ष तक नौकरी करके आपने त्यागपत्र दे दिया और पुनः काशी लौट आये। सन् १९०२ ई० में आप तत्कालीन अयोध्या-नरेश महाराजा सर प्रतापनारायणसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० के प्राइवेट सेक्रेटरी बनकर अयोध्या चले गये। आपकी कार्य-कुशलता से प्रसन्न होकर कुछ ही दिनों पश्चात् महाराज ने आपको चीफ सेक्रेटरी बना दिया। सन् १९०६ में महाराज का स्वर्गवास हो जाने के पश्चात् अयोध्या की महारानी श्रीमती जगदम्बादेवी ने आपको अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाया। सन् १९२८ ई० तक रत्नाकरजी इसी पद पर आसीन रहे। आपकी कार्य-कुशलता तथा योग्यता से महारानी सदैव सन्तुष्ट रहती थीं। अनेक विषम परिस्थितियों में आपने राज्य को बड़ी सहायता पहुँचाई; किन्तु महाराज की मृत्यु के पश्चात् महारानी ने आपको अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाया था तथा महारानी के आप विशेष कृपा-पात्र भी थे, अतः आपके चरित्र के सम्बन्ध में विरोधियों ने मिथ्या-प्रचार करना आरम्भ कर दिया। तथापि प्रमाण-पूर्वक कोई बात सिद्ध न की जा सकी। कुछ पट्टीदारों ने रियासत पर अधिकार कर लेने के लिये मुकदमा भी चलाया, परन्तु रत्नाकरजी के प्रयत्नों के कारण वे सफल न हो सके। सन् १९१६ के लगभग यह मुकदमा पट्टीदारों के विरोध, तथा महारानी के पक्ष में निर्णीत हुआ। सन् १९११ ई० से लेकर सन् १९२४ ई० तक रत्नाकरजी को फैजाबाद के कमिश्नरों, डिप्टी कमिश्नरों तथा कोर्ट ऑफ वार्ड्स के मैनेजर द्वारा जो प्रमाण-पत्र दिये गये, उनमें से कुछ यहाँ उद्धृत हैं। इन प्रमाण-पत्रों से उनकी तत्कालीन परिस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है :—

फैजाबाद के कमिशनर श्री जे० ब्राउन,^१ आई० सी० एस० का प्रमाणपत्र

अयोध्या की महारानी के प्राइवेट सेक्रेटरी बा० जगन्नाथदास ने मुझसे प्रमाण पत्र मांगा है।

मैं उन्हें बहुत दिनों से जानता हूँ। वे किशोर राजा की भली-भाँति देखभाल कर रहे हैं तथा महारानी के योग्य सेवक रहे हैं। जब म प्रथमवार इस 'डिवीजन' में आया तब उनके शत्रुओं ने उनके विषय में अनर्गल बातें फैलाना प्रारम्भ किया था, जिन्हें वे कभी प्रमाणित न कर सके। वे लोग अब चुप हैं, परन्तु बहुत सम्भव है मेरे जाने के पश्चात् उन बातों को पुनः उठाने का प्रयत्न करें, अतः मैं यह बात लिखे दे रहा हूँ।

मैं उनका भला चाहता हूँ।

(हस्ताक्षर) जे० ए० ब्राउन

२०-३-११

कमिशनर

श्री ई० रोजर्स^२ आई० सी० एस० डिप्टी कमिशनर फैजाबाद का प्रमाण-पत्र

अयोध्या की महारानी के प्राइवेट सेक्रेटरी श्री जगन्नाथदास को मैं ढाई वर्षों से

1. From the Hon'ble J. A. Brown Esqr. C. S. I., I. C. S., Commissioner of Fyzabad, and afterwards member of the Board of Revenue, U. P.

Babu Jagannath Das, Private Secretary to the Maharani of Ajodhya has asked me for a certificate.

I have known him for a long time. He is looking most carefully after the young Raja, and has been a good servant to the Maharani. His enemies started false stories about him which they never attempted to prove, when I first came to the Division. They have now ceased, but it is quite possible that an attempt may be made to start them again after I leave, so I am putting this on record.

I wish him well.

(Sd.) J. A. Broun

20-3-11

Comr.

2. From E. Rogers Esqr., I. C. S., Deputy Commissioner, Fyzabad.

जानता हूँ। वे योग्य व्यक्ति तथा महारानी के विश्वासपात्र सेवक हैं। उनके कुछ शत्रु भी हैं जो उनके विषय में झूठी बातें फैलाते रहते हैं, परन्तु मुझे विश्वास है कि वे बातें सर्वथा निराधार हैं।

वे महारानी के गोद लिये हुए पुत्र की भली-भाँति देखभाल कर रहे हैं और उसे सन्तोषप्रद ढंग से शिक्षा दिलवा रहे हैं।

फँजाबाद

(हस्ताक्षर) ई० रोजर्स

८ अप्रैल, १९११

डिप्टी कमिश्नर

हाँ, तो, रत्नाकरजी का हृदय इन दिनों बड़ा ही उद्विग्न था। उनके चरित्र को लेकर जो अनेक अनर्गल बातें फैल गयी थीं, उनसे वे खिन्न थे। ऐसी बातें पर लगाकर उड़ती हैं। औचित्य पर विचार किये बिना लोग इन पर विश्वास भी जल्दी कर लेते हैं, परिणामतः प्रायः चरित्रवान व्यक्ति भी धूर्तों की दुष्टता से अकारण दोषी समझे जाने लगते हैं। इन सब झगड़ों के कारण रत्नाकरजी दीर्घकाल तक साहित्य-क्षेत्र से अलग रहे। सन् १९०७ में 'हम्मीर हठ' के सम्पादन के पश्चात् सन् १९२० तक उन्होंने कोई पुस्तक नहीं लिखी। महारानी जगदम्बादेवी की प्रेरणा से १४ मई सन् १९२१ से रत्नाकरजी ने गंगावतरण की रचना के साथ पुनः साहित्य-सेवा प्रारम्भ की। अवसर मिलने पर आप 'बिहारी' पर टीका भी लिखते जाते थे। सन् १९२५ में 'बिहारी रत्नाकर' की रचना समाप्त हुई। 'गंगावतरण' और 'बिहारी रत्नाकर' दोनों ही को आपने महारानी जगदम्बादेवी को समर्पित किया है।

रत्नाकरजी का स्वास्थ्य अब गिरने लगा था, अतः वे अधिक परिश्रम नहीं कर पाते थे। इसी कारण सन् १९२८ ई० के लगभग अपने पद से त्यागपत्र देकर आप पुनः

Mr. Jagannath Das Private Secretary to the Maharani of Ajodhya has been known to me for two and a half years. He is a very capable man and a loyal servant to the Maharani. He has enemies who spread stories about him, but I believe that there is no foundation for these stories.

He is looking after the Maharani's adopted son very well, and educating him in a satisfactory manner.

Fyzabad,

(Sd.) E. Rogers

8th April, 1911.

Deputy Commissioner

काशी में रहने लगे । सन् १९०६ से सन् १९२१ तक अर्थात् लगभग पन्द्रह वर्षों तक रत्नाकरजी कविता से प्रायः तटस्थ से रहे । पन्द्रह वर्षों का अन्तराल बहुत अधिक है । यदि इन वर्षों में रत्नाकरजी ने हिन्दी-सेवा की होती तो निश्चय ही हिन्दी के भण्डार में अनेक अमूल्य ग्रंथ-रत्नों की वृद्धि हो जाती । सन् १९२१ के पश्चात् रत्नाकरजी ने पुनः बड़े परिश्रम से साहित्य-सेवा प्रारम्भ की । इन दिनों आप आराम की चिन्ता छोड़कर काम में जुट गये थे । वर्षों तक विश्राम कर चुकने के पश्चात् उनकी लेखनी अब पिछली कमी को शीघ्रतापूर्वक पूरा कर लेना चाहती थी ।

पर्यटन

रत्नाकरजी का पर्यटन बड़ा विस्तृत था । सुदूर दक्षिण को छोड़कर उन्होंने सम्पूर्ण भारत का परिभ्रमण किया था । यह बात नहीं कि कार्यवश ही वे कहीं भाते-जाते हों; पर्यटन में उनकी रुचि थी, अतः सुविधा और अवकाश मिलने पर वे प्रायः दूर-दूर जाकर अपना अनुभव बढ़ाते रहते थे । आठ-दस बार वे कलकत्ते भी गये । बम्बई घूमने के भी उन्हें अनेक अवसर मिले थे । वहीं उन्होंने मोटर चलाना भी सीख लिया था, परन्तु स्वतः कभी मोटर नहीं रखी । हरिद्वार, श्रीनाथद्वारा, जगन्नाथपुरी, तथा कश्मीर उनके प्रिय स्थान थे । प्रायः गर्मियों में वे मसूरी, नैनीताल अथवा शिमला चले जाते थे, परन्तु इन सब स्थानों से उन्हें हरिद्वार विशेष प्रिय था । प्रतिवर्ष वे हरिद्वार अवश्य जाते थे । सम्भवतः गंगा के प्रति असीम भक्ति होने के कारण ही हरिद्वार से उन्हें इतना मोह था । अनेक राजा-महाराजाओं से परिचय होने के कारण वे सम्पूर्ण राजपूताना भी घूम चुके थे । रत्नाकरजी को समुद्र-तट अथवा पहाड़ी प्रदेश विशेष प्रिय थे । 'बिहारी रत्नाकर' तो उन्होंने काश्मीर में ही समाप्त किया था ।

चरित्र-निर्माण तथा ज्ञानार्जन

रत्नाकर जी प्राचीन संस्कृति के कट्टर पुजारी थे । उर्दू, फारसी, तथा मध्यकालीन हिन्दी-कवियों के अध्ययन ने उन्हें एक विशेष साँचे में ढाल दिया था । भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित पुराणों, अन्य धार्मिक ग्रन्थों तथा इतिहास का भी उन्होंने अध्ययन किया था । उनका जन्म ही ऐसे परिवार में हुआ था, जो प्राचीनता-प्रिय तथा मध्ययुगीन सभ्यता से अनुप्राणित था । राज-दरबार में उच्च पदों पर रहने के कारण उनका सामान्य ज्ञान भी विस्तृत हो गया था । संगीतज्ञ, वैद्य, कवि, रसायनशास्त्री इत्यादि प्रायः सभी भिन्न-भिन्न विषयों के विशेषज्ञों का राज-दरबार से सम्बन्ध रहता ही है । प्राइवेट सेक्रेटरी तथा चीफ सेक्रेटरी होने के कारण आपका भी इन सभी से सम्पर्क रहता था, फलतः

बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग प्रकृति के पर्यवेक्षण से आपका अनुभव अत्यधिक व्यापक हो गया था। कठिन परिश्रम से आपने संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश (पुरानी हिन्दी) पर भी अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया था। मराठी, बंगला और पंजाबी का भी आपने अध्ययन किया था। वैद्यक का तो आपको बड़ा ही शौक था। आप बड़े परिश्रम से स्वतः अनेक मूल्यवान औषधियाँ तैयार करते थे। आपके वंशजों के पास अभी तक आपकी बनायी मूल्यवान औषधियाँ विद्यमान हैं। संगीत का भी आपने परिश्रमपूर्वक अभ्यास किया था। मृदंग, तबला, सितार तथा वायलिन आप अच्छा बजा लेते थे। शास्त्रीय संगीत के इस अध्ययन ने आपकी रचनाओं में विलक्षण संगीतात्मक प्रवाह भर दिया है। वैद्यक और संगीत के अतिरिक्त आप ज्योतिष के गणित तथा फलित दोनों ही अंगों के ज्ञाता थे। व्याकरण और छन्द-शास्त्र के तो आप पूर्ण पण्डित ही थे। विज्ञान, योग, दर्शन, इतिहास, तथा जैनधर्म के ग्रन्थों का भी आपने गहरा अध्ययन किया था। रीतिकालीन कवियों में से आप केशव, मतिराम, देव, पद्माकर, घनानन्द, तथा बिहारी से विशेष प्रभावित थे। सूर, नन्ददास, तथा बिहारी का आपने विशेष अध्ययन किया था। 'बिहारी-रत्नाकर' तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'सूर सागर' आपके इस गहन अध्ययन को प्रमाणित करने वाली पुस्तकें हैं। नन्ददास पर आपकी हस्त-लिखित कुछ पुस्तकें नागरी प्रचारिणी सभा काशी में सुरक्षित हैं।

व्यक्तित्व और प्रभाव

रत्नाकरजी कोमल और मधुर स्वभाव के व्यक्ति थे। उनका रहन-सहन पुराने ढंग के रईसों के समान था। वे प्रातःकाल लगभग चार बजे ही शैया त्याग देते थे। हुक्का उन्हें बड़ा प्रिय था। हर समय बढ़िया सुगन्धित चिलम सुलगती रहती थी। पान का भी उन्हें शौक था। प्रातःकाल शौचादि से निवृत्त होकर वे नित्य नियम-पूर्वक व्यायाम करते थे। मुग्दर, डण्ड-बैठक, पैदल टहलना और घोड़े की सवारी उन्हें प्रिय थी। उन्होंने एक अरबी घोड़ा अपनी सवारी के लिये रख छोड़ा था। उनकी व्यायाम-प्रियता ने उनके शरीर को बड़ा पुष्ट और सुडौल बना दिया था। इसी कारण वे साठ वर्ष की अवस्था में भी चालीस वर्ष के प्रतीत होते थे। वे चुस्त किन्तु कुछ स्थूल शरीर के व्यक्ति थे। सिर के बाल छोटे रखते थे। उनके सुपुत्र श्री राधेकृष्णदास की मुखाकृति उनसे बहुत मिलती है। वे सिर में चमेली का तेल तथा आँखों में सुरमा अवश्य लगाते थे। इत्र का भी उन्हें शौक था। ऋतु के अनुसार वे भिन्न भिन्न इत्रों का प्रयोग करते थे। उनके ओढ़ने-बिछाने के वस्त्रों तक में इत्र लगाया जाता था। बेला, चमेली, गुलाब इत्यादि सुगन्धित पुष्पों की फूल-मालाओं का भी

उन्हें शौक था। वस्तुतः वे राजसी प्रकृति और रसिक मनोवृत्ति के व्यक्ति थे।

प्रातःकाल व्यायामादि के पश्चात् भगवद्-भजन उनका दैनिक कृत्य था। गौड़ीय माध्व सम्प्रदाय के अनुयायी होते हुए भी व्यावहारिक जीवन में वे पक्के सनातन धर्मी थे। धार्मिक संकीर्णता उनमें लेशमात्र भी न थी। भगवान् कृष्ण उनके इष्टदेव थे, परन्तु वे नित्य पार्थिव पूजन भी करते थे। कभी-कभी वे रुद्राक्ष की माला पहनते तथा त्रिपुण्ड और भस्म भी लगाते थे। इस दैनिक दिनचर्या के अतिरिक्त उनका शेष समय साहित्य-चर्चा में ही व्यतीत होता था, किन्तु अवागढ़ तथा फिर अयोध्या में नौकरी करने से उनकी काव्यात्मक-सौन्दर्य-साधना में व्याघात उपस्थित हो गया था।

हँसमुख तथा विनोदी स्वभाव के कारण वे अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अनायास ही प्रभावित कर लेते थे। उनसे वार्तालाप करने में सदैव सहित्यिक गोष्ठी का आनन्द प्राप्त होता था। उनकी मण्डली में बैठकर न हँसना एक असम्भव बात थी। विनोदी स्वभाव के कारण, वे मनोरञ्जन के लिए प्राचीन कवियों की शैली में सफलतापूर्वक रचना करके प्रायः मित्रों को भ्रम में डाल देते थे। अपनी प्रतिभा के बल से वे किसी भी प्राचीन कवि की शैली में यथा-तथ रचना कर लेते थे। कहते हैं कि भारत जीवन प्रेस के अध्यक्ष श्री रामकृष्ण वर्मा 'बलबीर' एक बार प्राचीन कवियों की कविताओं का एक संग्रह तैयार कर रहे थे। इस संग्रह में प्रकाशित करने के लिये उन्होंने 'पजनेस' की प्रत्येक कविता के लिए दो रुपये पुरस्कार देने की घोषणा की। रत्नाकरजी ने परिहास की दृष्टि से पजनेस की शैली में आठ-दस कवितों की रचना कर डाली और उन्हें लेकर वर्माजी के पास जा पहुँचे। कवित्तों की भाषा-शैली देखकर वर्माजी को विश्वास हो गया कि कवित्त 'पजनेस' के ही लिखे हुए हैं, परन्तु जब वे पुरस्कार देने लगे तो रत्नाकरजी न हँस कर बताया कि कवित्त 'पजनेस' के नहीं प्रत्युत उन्हीं के बनाये हुए हैं। यदि यह कहानी सच्ची है तो रत्नाकरजी की परिहास-प्रियता भी सचमुच बड़ी प्रगल्भ थी।

रत्नाकरजी की स्मरण शक्ति अतीव तीक्ष्ण थी। हरिद्वार में अपना एक सन्दूक चोरी चले जाने पर आपको स्वनिर्मित पाँच सौ कवित्तों की एक चौपतिया से भी हाथ धोना पड़ा, परन्तु अपनी अद्भुत मेधा से उन्होंने लगभग ढाई सौ कवित्त पुनः यथावत लिख डाले। पूर्ववर्ती कवियों की सैकड़ों कविताएँ उन्हें कण्ठाग्र थीं। कवि-सम्मेलनों में वे सदैव ज़बानी कविता-पाठ करते थे। वे प्रायः छोटे-छोटे कवि सम्मेलनों के पक्षपाती थे। इसीसे वे चुने हुए श्रेष्ठ कवियों की गोष्ठियों का ही आयोजन करते थे। कविता पढ़ते समय उनकी मुख-मुद्रा बड़ी भावपूर्ण हो जाती थी। वस्तुतः समुचित कवितापाठ के अभाव में कुशल कविगण भी कवि सम्मेलनों में असफल

हो जाते हैं। अर्थ के अनुरोध से यथास्थान विराम देते हुए सम्पूर्ण वर्णों का स्पष्ट, मधुर एवं भावानुकूल उच्चारण कविता के भावों को संगीतात्मक सौंदर्य से सम्पृक्त करके अतीव हृदयप्राही बना देता है।^१ अपने संगीत-ज्ञान के बल से रत्नाकरजी ने कवित्त-सवैयाँ के सस्वर पाठ की एक ऐसे अभिनव शैली का निर्माण कर डाला था, जो उनके जीवन-काल में ही 'रत्नाकरी शैली' के नाम से प्रसिद्ध हो गयी थी। कवित्त पढ़ने का उनका ढंग ऐसा आकर्षक था कि श्रोताओं की कभी तृप्ति ही नहीं होती थी। रत्नाकरजी भी अपनी स्मृति के बल से धारावाहिक रूप में सैकड़ों कवित्त सुनाते चले जाते थे। एक-एक समस्या पर वे अनेक पूर्तियाँ तैयार कर डालते थे। काशी, कानपुर, इलाहाबाद, लखनऊ इत्यादि स्थानों में उन दिनों प्रायः कवि-सम्मेलन हुआ करते थे। काशी के बाहर किसी कवि-सम्मेलन में जाने पर वे क्या प्राचीन परिपाटी के शायरों और कवियों, तथा क्या नूतनता के भक्त अंग्रेजी पढ़े-लिखे नवयुवकों, सभी के वे प्रीतिभाजन बन जाते थे।

रत्नाकरजी नवोदित कवियों को बड़ा प्रोत्साहन देते थे। वे उनकी कविताओं का संशोधन करके, विभिन्न-पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों से कह-सुनकर रचनाओं को प्रकाशित भी करवा देते थे।

कविता के क्षेत्र में वे गुरु-सम्प्रति, तथा संशोधन को परमावश्यक मानते थे। बीसवें अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में सभापति-पद से भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि, "उर्दू की शायरी अच्छी होने का मुख्य कारण यह है कि उर्दू शायर बहुत दिनों तक उस्तादों से इसलाह लेते रहते हैं। जब वे कोई कविता बनाते हैं तो अपने गुरु के सामने संशोधनार्थ उपस्थित करते हैं, और जब तक उनकी स्वीकृति नहीं मिलती, तब तक वे मुशायरों में नहीं पढ़ते। इस प्रथा का अनुकरण वे तब तक करते रहते हैं जब तक उनका गुरु यह नहीं कह देता कि अब तुम कामिल हो गए, तुम्हारी कविताओं में इसलाह की आवश्यकता नहीं है। पर हिन्दी के आधुनिक कविगण अपने

१. "यथा जन्मान्तराभ्यासात्कण्ठे कस्यापि रक्तता ।
 तथैव पाठसौंदर्यं नैकजन्मविनिर्मितम् ॥
 आगोपालकमायोषिदास्तामेतस्य लेह्यता ।
 इत्थं कविः पठन्काव्यं वाग्देव्या अतिवल्लभः ॥
 योऽपि शब्दविदो नैव नैव चार्थविक्षणाः ।
 तेषामपि सतां पाठः सुष्ठु कर्णरसायनम् ॥"

—काव्यमीमांसा, राजशेखर, (सप्तमोऽध्यायः)

को आरम्भ ही से स्वयंसिद्ध समझने लगते हैं और कविता-निर्माण पर अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानते हैं। अपनी कविता के विषय में किसी को गुरु मानना अथवा उसमें किसीसे कुछ सुधार कराना या सम्मति लेना वे बड़ा बुरा समझते हैं तथा निगुरा होने में अपनी परम प्रतिष्ठा मानते हैं।^१ फारसी में कविता लिखना छोड़ देने के पश्चात् जब रत्नाकरजी ने हिन्दी में कवि-कर्म आरम्भ किया तब उन्होंने भी अपने मित्र श्री नवनीतलाल चतुर्वेदी (संवत् १९१५-१९८९) से इस विषय में कुछ सहायता ली थी।^२ वैसे भी उनका यह स्वभाव था कि वे नवीन रचना को मित्र-मण्डली में सुना-कर मित्रों का अभिमत जान लेते थे।^३ उनके मित्र भी इतने स्पष्टवादी थे कि कहीं भी त्रुटि दिखायी देती तो वे तुरन्त उसे इंगित कर देते थे। रत्नाकरजी न केवल इस मन्तव्य पर ध्यानपूर्वक विचार करते, प्रत्युत आलोचना उचित प्रतीत होने पर आवश्यक परिवर्तन भी कर लेते थे।

रत्नाकरजी को आत्म-सम्मान का सदैव ध्यान रहता था। वे न तो घमण्डी प्रकृति के थे और न स्वात्माभिमान से रहित। प्रायः लोग या तो अपनी योग्यता को वास्तविकता से अधिक समझ बैठते हैं, या फिर हीन-भाव से पीड़ित हो जाते हैं। ऐसे लोग थोड़े ही होते हैं, जो अपनी योग्यता का यथार्थ मूल्यांकन स्वयं कर सकते हैं। रत्नाकरजी को अपनी रचनाओं पर घमण्ड न था, परन्तु वे यह भी अच्छी तरह जानते थे कि वे कवि हैं, तथा अपने युग के ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि हैं। गंगावतरण के प्राक्कथन में जहाँ एक ओर वे कहते हैं कि, “यह स्मरण रहे कि न तो मुझे कोई बड़े कवि होने का गर्व है और न इस बात ही का अभिमान कि मैंने एक उत्तम काव्य बनाया है। पर श्री वृन्दावन बिहारी, श्री जगत्पावनी भगवती भागीरथी तथा त्रिदेव वंदिता भगवती भारती की अकारण कृपा से जो कुछ बन गया वह अर्पित है,”^४ वहाँ दूसरी ओर इसी प्राक्कथन में भगवती शारदा के सम्बन्ध में उन्होंने जो कवित्त लिखे हैं, उनसे स्पष्ट है कि रत्नाकरजी अपने-आपको श्रेष्ठ कवि समझते थे :—

१. सभापति का भाषण पृष्ठ २७

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में पृष्ठ ६६ पर पं० कृष्णशंकर शुक्ल ने श्री नवनीतलाल चतुर्वेदी को रत्नाकरजी का काव्य-गुरु माना है। परन्तु रत्नाकरजी ने ‘सुजान सागर’ की भूमिका में नवनीतजी को अपना मित्र कहा है, काव्य-गुरु नहीं।

३. “परैश्च परीक्षयेत् । यदुदासीनः पश्यति न तदनुष्ठातेति प्रायो वादः ।”

काव्यमीमांसा, अध्याय १०

४. गंगावतरण प्राक्कथन पृष्ठ ६, प्रकाशन इ० प्रे० प्रयाग ।

सुमिरत सारदा हुलसि हंसि हंस चढ़ी ,
 विधि सों कहति पुनि सोई धुनि ध्याऊँ में ।
 ताल-तुक-हीन अंग भोग छबि-छीन भई ,
 कबिता बिचारी ताहि रुचि-रस प्याऊँ में ।
 नंददास - देव - घनआनंद - बिहारी - सम ,
 सुकबि बनावन की तुम्हें सुधि द्याऊँ में ।
 सुनि रत्नाकर की रचना रसीली नैं कु ,
 ढोली-परी बीनहि सुरीली करि ल्याऊँ में ॥^१

रत्नाकरजी की यह उक्ति किसी सीमा तक दर्प-पूर्ण कही जा सकती है, परन्तु गर्वोक्ति होने पर भी है यह सर्वथा सत्य । निश्चय ही वे अपने युग में ब्रज-भाषा के अन्तिम महाकवि थे । उनकी रचनाओं को पढ़ कर अनायास ही नन्ददास, देव, घनानन्द, बिहारी इत्यादि कवियों का स्मरण हो आता है । भगवान् शङ्कर के उपासक होने के नाते वे माता पार्वती के लाड़ले पुत्र थे । विष्णु के अवतार कृष्ण तो उनके इष्टदेव ही थे; कमला (लक्ष्मी) सम्भवतः इसी कारण उन पर प्रसन्न थीं । शारदा के वे वरद पुत्र थे ही, अतः निम्नोक्त कवित्त में उन्होंने जो कुछ कहा है वह कोरा आस्फालन ही नहीं है:—

कहति गिरा यौं गुनि कमला उमा सौं चलौ ,
 भारत-मही में पुनि मंजु छबि छाजें हम ॥
 राखें जौ न नैंकु टेक जन-मन-रंजन की ,
 हरि हर बिधि की बृथा ही बाम बाजें हम ॥
 माष मानि बैठयो ऐंठि लाड़िलौ हमारौ ताकौ ,
 करि मनुहार सुधा-धार उपराजें हम ॥
 साजें सुख संपत्ति के सकल समाज आज ,
 चलि रतनाकर कौं नैंसुक निबाजें हम ॥^२

अपनी क्षमता का यथार्थ मूल्यांकन करने से रत्नाकरजी वास्तव में जैसे थे ठीक वैसा ही अपने-आपको समझते थे । यह भी वे भली-भाँति जानते थे कि लोग उन्हें क्या समझते हैं । इसी से 'श्री विष्णुलहरी' में उन्होंने कहा है:—

कहत सिंहाइ केते प्रतिभा-प्रभाइ पेखि ,
 साँचौ यह सुघर सपूत सारदा कौ है ।

केते कहें मोहि जोहि जागत प्रताप ताको ,
अरि-उर-साल यह लाल गिरिजा कौ है ॥
सब-मुख-साधन की सिद्धि मनमानी सदा ,
केते लखि लेखत लड़ंतौ कमला कौ है ।
एहौ ब्रजराज इमि सकल समाज माहि ,
रंग-रतनाकर पै रावरी कृपा कौ है ॥^१

निम्नोक्त कवित्त में भी उन्होंने अपने-आपको श्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में स्वयमेव स्थान प्रदान किया है :—

आवत निहारै हों गुपाल एक बाल जाकी ,
लाग्यौ उपमा में कवि कोबिद समाज है ।
तरुन दिनेस दिव्य अरुन अमोल पाय ,
छीन कटि केहरि औ गति गजराज है ॥
संभु कुच मुख पदमाकर दिमाक देव ,
तापै घनआनंद घनेरौ कच-साज है ।
छबि की तरंग रतनाकर है अंग मुस-
कानि रस-खानि बानि आलम निवाज है ॥^२

रत्नाकरजी के जीवनकाल में ही उनकी योग्यता का हिन्दी-संसार ने समुचित आदर किया। आप अनेक कवि-सम्मेलनों के सभापति बनाये गये। सन् १९२२ में आप कलकत्ता में होने वाले बीसवें अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए। सन् १९२५ में कानपुर में जो अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन हुआ था, उसके भी आप सभापति थे। सन् १९२६ में आप चौथी ओरिएण्टल कॉन्फ्रेंस के हिन्दी-विभाग के सभापति थे।

रत्नाकरजी ने मध्यकालीन कवियों का इतना गहन अध्ययन किया था कि उस तन्मयता में वे स्वतः मध्यकालीन कवि बन गये थे। जन्म से वे आधुनिक काल के कवि थे किन्तु उनकी वेशभूषा और मनोवृत्ति मध्ययुग के कवि की थी। गम्भीर अध्ययन ने मध्ययुग का जो काल्पनिक चित्र उनके मानस-पटल पर अङ्कित किया था, वह उनके व्यक्तित्व में सजीव हो उठा था। उन्हें देखकर यह विश्वास करना कठिन था कि वे अंग्रेजी के स्नातक हैं। अपने यौवन-काल में वे प्रायः ठेठ बनारसी वेश में रहा करते थे।

१. गंगाविष्णुलहरी पृष्ठ ४०२, छन्द संख्या ९

२. शृंगारलहरी पृष्ठ ३१८ छन्द संख्या ९

धोती, कुरता, बनारसी दुपलिया टोपी तथा आबरवाँ का दुपट्टा पहने वे दूर से ही पहिचान लिये जाते थे। कभी-कभी वे बनारसी अग्रवालों की पोशाक और पगड़ी भी पहनते थे। बाहर आने-जाने के लिय शेरवानी और चूड़ीदार पायजामा उन्हें अधिक प्रिय था। दिखावट और बनावट उन्हें पसन्द न थी। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि, इस युग के वातावरण का उन पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा था। वे तो ब्रजभाषा की नैसर्गिक माधुरी पर हृदय से मुग्ध, मध्यकालीन युग के ठाठ-बाट, विचार और जीवन-क्रम के एकान्त उपासक थे। सूर, नन्ददास इत्यादि भक्तकवियों की भाँति उन्होंने भी अपने काव्य-विषयों का चयन पौराणिक कथानकों से किया था। 'उद्धव शतक,' 'हरिश्चन्द्र,' 'गंगावतरण,' हिंडोला, इत्यादि पढ़ने से पाठकों को बरबस उस युग का स्मरण हो आता है, जो हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग कहलाता है। उनकी रचनाएँ हमारे सम्मुख प्राचीन युग का उच्च आदर्श उपस्थित करती हैं। भाषा, छन्द, साहित्यालंकार तथा विचारधारा सभी से वे प्राचीनता-प्रिय थे, अतः उन्हें हिन्दी का अन्तिम 'क्लासिक' कवि कहना सर्वथा युक्तियुक्त है।

अभिरुचि तथा मनोरञ्जन

हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों की भावुकता और रीतिकालीन कवियों की कलात्मक प्रगल्भता को नूतन भावोन्मेष से समन्वित् करके रत्नाकरजी ने अपनी काव्यकला को सँवारा था। वे प्रधानतः शृंगाररस के कवि थे। फारसी और रीतिकालीन कवियों के अध्ययन, एवं स्वयं उनके युग की ब्रजभाषा काव्य की परम्परावादी शृंगारिक धारा ने उनकी रसिक मनोवृत्ति को और भी उद्दीप्त कर दिया था। उन्होंने जिन प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन किया, उनमें भी अधिकांश नखशिख-वर्णन तथा नायिका-भेद से सम्बन्धित हैं। यही कारण है कि संयोगशृंगार के वर्णन में कहीं-कहीं वे अधिक मांसल हो गये हैं; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि संयोगशृंगार-निरूपण में बहुत कम कवि उनकी समता कर सकते हैं। वे अपने युग में शृंगार रस के अद्वितीय कवि थे। 'शृंगारलहरी' में यदि संयोग पक्ष का आकर्षक (तथा कहीं-कहीं उत्तेजक) वर्णन है, तो उद्धवशतक में विप्रलम्भ का मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है।

रत्नाकरजी पुरातत्त्वान्वेषी भी थे। उन्हें प्राचीन शिलालेखों को पढ़ने तथा प्राचीन मूर्तियों और सिक्कों को एकत्रित करने का बड़ा शौक था। उनके द्वारा संगृहीत एक पाषाणाश्व, तथा कुछ प्राचीन सिक्के कलाभवन काशी में अभी तक सुरक्षित हैं। चने की दाल पर सुई की नोक से छोटे-छोटे अक्षरों में किसी पूरे श्लोक को लिखकर भी वे अपना मनोरञ्जन किया करते थे।

सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन

रत्नाकरजी की आत्मा साहित्य में इतनी रम गयी थी कि वे सर्वतोभावेन साहित्यिक जीव हो गये थे। विभिन्न विषयों पर पढ़ना-लिखना ही उनका एकमात्र व्यसन था। इस व्यसन में वे ऐसे तल्लीन थे कि अन्य बातों की ओर उन्हें आँख उठाकर देखने का भी अवकाश न था। अयोध्या में नौकरी कर लेने के पश्चात् वहाँ की राजकीय परिस्थितियों में वे इतने उलझे कि, उनका प्रिय विषय साहित्य भी उनसे छूट-सा गया। सन् १९१६ तक तो उन्हें पट्टीदारों के मुकदमे में ही व्यस्त रहना पड़ा, अतः उनका सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन विशेष क्रियाशील न बन सका। न तो कांग्रेस के आन्दोलन में उन्होंने कभी सक्रिय भाग लिया और न इस सम्बन्ध में वे कभी जेल ही गये। तथापि उनके हृदय में देश-भक्ति की निर्मल धारा प्रवाहित थी। महात्मा गांधी, तथा भारत पर उनकी रचनाएँ इसका स्पष्ट प्रमाण हैं। सच बात तो यह है कि उनके जीवन का जो समय सामाजिक तथा राजनीतिक सेवाओं के लिए उपयुक्त था, उसमें अयोध्या की राजकीय परिस्थितियों ने उन्हें बुरी तरह जकड़ लिया था।

विभिन्न संस्थाओं से सम्बन्ध

अपने समय की अनेक साहित्यिक संस्थाओं से रत्नाकरजी का सम्बन्ध था। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना में उन्होंने स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दरदास का हाथ बटाया था। कलकत्ते की 'एशियाटिक सोसाइटी' के वे सदस्य थे। ओरिएण्टल कॉन्फ्रेंस से भी उनका सम्बन्ध था। 'काशी कवि समाज' की स्थापना में उन्होंने बड़े उत्साह से भाग लिया था तथा रसिक मण्डल प्रयाग की स्थापना भी उन्हीं की प्रेरणा से हुई थी।

गार्हस्थ जीवन

रत्नाकरजी का गार्हस्थ जीवन विशेष सुखी न था। उनके दो विवाह हुए, परन्तु दोनों ही पत्नियों की मृत्यु जल्दी ही हो गयी। पहला विवाह पटना में बाबू जंगीलाल महावीरप्रसाद के यहाँ हुआ, जो वहाँ के प्रसिद्ध महाजन तथा अपने युग में अग्रवाल बिरादरी के चौधरी थे। इनकी प्रथम पत्नी का नाम भवानीदेवी था। प्रथम पत्नी से इन्हें दो सन्तान हुई। प्रथम सन्तान कमलमणि देवी तथा दूसरी श्री राधेकृष्णदास हैं। तीसरी सन्तान को जन्म देते समय इनकी पहली पत्नी का देहावसान हो गया। रत्नाकरजी का दूसरा विवाह बनारस में ही एक सम्पन्न घराने में हुआ। दूसरी पत्नी से भी दो सन्तान

हुई परन्तु दोनों ही की अल्पायु में मृत्यु हो गयी । सन् १९०४ में उनकी दूसरी पत्नी का भी स्वर्गवास हो गया । तात्पर्य यह है कि रत्नाकरजी अब अयोध्या में थे, तब उनकी दोनों ही पत्नियों का निधन हो चुका था । बाबू राधेकृष्णदासजी उन दिनों बनारस में ही रहते थे । रत्नाकरजी के बड़े भाई बाबू रघुनाथदासजी का भी शरीरांत हो चुका था । घर में उनकी विधवा पत्नी के अतिरिक्त और कोई बड़ा-बूढ़ा न था । बाबू राधेकृष्णदास की देख-भाल वे ही करती थीं ।

मंत्री तथा परिचय

रत्नाकरजी के मित्रों और परिचित व्यक्तियों की संख्या बहुत बड़ी थी । इन मित्रों में उनके सबसे प्रिय तथा अभिन्न मित्र थे बाबू श्यामसुन्दरदास । बाबू अमीरसिंह, श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, श्री दुलारेलाल भार्गव, पं० पद्मसिंह शर्मा, पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर', बा० रामकृष्ण वर्मा, पं० बदरीनाथ भट्ट इत्यादि से भी उनकी घनिष्ठता थी । अस्तु, अपने समय के प्राचीन तथा नवीन सभी साहित्यकों से उनका परिचय था । अयोध्या तथा अवागढ़ में उच्च पदों पर नौकरी करने के कारण विभिन्न राजा-महाराजाओं तथा उस समय के अन्य महापुरुषों से भी वे परिचित थे । अपने प्रारम्भिक साहित्यिक जीवन में वे सरदार, सेवक, हनुमान, नारायण इत्यादि कवियों के सम्पर्क में रहे । तत्कालीन कोई भी विख्यात हिन्दी-कवि अथवा लेखक ऐसा नहीं था जिससे इनकी मित्रता अथवा अच्छा परिचय न हो । बा० देवकीनन्दन खत्री, पं० अम्बिकादत्त व्यास, राय देवीप्रसाद पूर्ण, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, पं० श्रीधर पाठक, सत्यनारायण कविरत्न, वियोगी हरि, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० मदनमोहन मालवीय तथा डा० सर जार्ज ग्रियर्सन से भी आपका परिचय और मित्रता थी । उस युग का कोई कवि अथवा लेखक ऐसा नहीं था जो इनकी धाक न मानता हो । इनके समकालीन अनेक विद्वानों ने इनके विषय में कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा है । डा० ग्रियर्सन ने 'लालचन्द्रिका' की भूमिका में रत्नाकर जी की कई बार प्रशंसा की है । पं० अम्बिकादत्त व्यास ने संवत् १९५५ में बिहारी-सतसई पर 'बिहारी बिहार' नामक एक कुंडलियामय ग्रन्थ प्रकाशित किया था । इस ग्रन्थ की भूमिका के पृष्ठ ३८ पर बिहारी-सतसई की विभिन्न टीकाओं का उल्लेख करते हुए वे लिखिते हैं :—

“(१८) बिहारी रत्नाकर—यह टीका थोड़े ही दिन हुए कि बन के प्रस्तुत हुई है और शीघ्र ही छपने वाली है, टीका बहुत ही छोटी है परन्तु लगभग पचीस दोहों के अर्थ बहुत ही अपूर्व हैं और दोहों के पाठ जहाँ तक हो सका बहुत ही शुद्ध किये गये

हैं। इसके ग्रंथकार इस समय के काशी के प्रसिद्ध मधुर कवि हैं। इनका वास्तविक नाम बाबू जगन्नाथ प्रसाद है। ये इस समय लगभग पचीस वर्ष के होंगे। अंग्रेजी में इनने बी० ए० पास किया है। और उर्दू, फारसी में बहुत अच्छा अभ्यास है। सन् १८९३ में 'साहित्य सुधानिधि' नामक मासिक पत्र निकाला था और उसे ये और बाबू देवकीनन्दन खत्री (उपन्यास लहरी के वर्तमान सम्पादक) मिल के सम्पादित करते थे। इनका कविता का नाम रत्नाकर है।

इनने और भी कई ग्रंथ रचे हैं। उनमें समालोचनादर्श, हिंडोला, घनाक्षरीनियम-रत्नाकर आदि कई एक छप चुके हैं। ये अग्रवाले बनिये हैं और काशी में शिवालेघाट पर रहते हैं।”

अपभ्रंश पर भी रत्नाकरजी का असाधारण अधिकार था। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक एक लेख में लिखा है कि “परिशिष्ट ऊपर पत्रिका भाग २, पृ० ४६ तथा १५० में यह भ्रम से लिखा गया है कि ‘काण वि विरह करालिअं है’ आदि दोहा हेमचन्द्र में है। यह हेमचन्द्र में नहीं है। उस दोहे का अर्थ स्पष्ट नहीं था। उसका ठीक अर्थ करने का यत्न किया जाता है।” इनके पश्चात् संशोधित अर्थ लिखते हुए उन्होंने कहा है कि, “पहला अर्थ शास्त्री तथा टानी के भरोसे पर किया था। इस नए अर्थ के मार्ग-दर्शन का उपकार बाबू जगन्नाथदास (रत्नाकर) का है।”^१

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि रत्नाकरजी अपने समय के बड़े ही प्रख्यात विद्वान थे तथा उनके समकालीन कवि, लेखक, साहित्यिक एवं विद्वान उनका बड़ा आदर करते थे। उपर्युक्त उद्धरण से यह भी सिद्ध होता है कि रत्नाकरजी प्राचीन हिन्दी कविताओं का अर्थ लगाने में निपुण थे।

‘बिहारी रत्नाकर’ के सम्पादकीय निवेदन में श्री दुलारेलाल ने भी रत्नाकरजी की बड़ी प्रशंसा की है। प्रमाण स्वरूप कतिपय पंक्तियाँ ये हैं :—

“रत्नाकरजी वर्तमान समय के ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ कवि और ज्ञाता हैं। आपकी कविताएँ बड़ी सरस और सुन्दर होती हैं। आपके कवित्त देव, पद्माकर आदि के कवित्तों का ध्यान दिला देते हैं। हमारी राय में आपकी जैसी सरस, विशुद्ध और परिमार्जित भाषा लिखने में ब्रजभाषा के बहुत कम कवि समर्थ हुए हैं। प्राकृत का भी आपको अच्छा अभ्यास है। शिलालेख आदि पढ़ने और प्राचीन शोध के कार्य में आपको विशेष रुचि है।”^२

१. देखिए नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग २, पृष्ठ ४६२

२. बिहारी रत्नाकर, सम्पादकीय निवेदन, पृष्ठ ११

अन्तिम यात्रा

‘बिहारी रत्नाकर’ के प्रकाशन के पश्चात् रत्नाकरजी का स्वास्थ्य गिरने लगा था । अब वे अधिक परिश्रम नहीं कर पाते थे, अतः सन् १९२८ के लगभग अयोध्या की नौकरी छोड़कर वे काशी में ही रहने लगे । अस्वस्थ होने पर भी इन दिनों वे ‘सूर सागर’ के सम्पादन में अथक परिश्रम कर रहे थे । ब्रजभाषा का व्याकरण और कोश तैयार करने में भी वे प्रयत्नशील थे । इस परिश्रम ने उनके स्वास्थ्य को और गिरा दिया । सन् १९३२ तक उनकी यह दशा हो गयी थी कि साधारण-सा शारीरिक परिश्रम करने से ही उनके सीने में दर्द होने लगता था, परन्तु फिर भी वे अपने साहित्यिक परिश्रम में लगे हुए थे । ‘सूर सागर’ को छोड़कर इन दिनों उन्हें और किसी बात का ध्यान न था । एक-से-एक प्रसिद्ध डाक्टर उन्हें देखते और सभी आराम करने की सम्मति देते; परन्तु उनके कार्य की गति मंद न हुई । कुछ डाक्टरों ने यह भी कहा कि उन्हें यूरोप में किसी स्वास्थ्य-प्रद स्थान पर जाना चाहिए । इसमें सन्देह नहीं कि यदि रत्नाकरजी किसी बहाने यूरोप घूम आते तथा वे कुछ दिनों तक और जीवित रहते, तो उनके सामाजिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक विचारों में भी बड़ा लाभकारी परिवर्तन हो जाता, परन्तु रत्नाकरजी ने कहीं जाना पसन्द न किया । उनके गिरते हुए स्वास्थ्य को देखकर देश में चिन्ता की लहर व्याप्त हो गयी । उन दिनों पत्र-पत्रिकाओं में उनके स्वास्थ्य के विषय में इस प्रकार के समाचार प्रकाशित होने लगे थे :—

“हिन्दी संसार को यह सुनकर दुःख होगा कि ब्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ ववि, टीकाकार, विद्वान् और मर्मज्ञ बाबू जगन्नाथदास ‘रत्नाकर’ बी० ए० आज-कल कुछ अधिक अस्वस्थ हैं । उन्हें ८-१० वर्ष से एक बीमारी हो गई है । हृदय में कोई खराबी नहीं वह उतना ही ठीक है जितना किसी पूर्ण स्वस्थ मनुष्य का, किन्तु फिर भी डाक्टर लोग इसे हृदय का ही कोई असाधारण विकार बतलाते और उनके इस रोग को Angina pectoris कहते हैं । दिल्ली के स्वर्गीय हकीम अजमल खां, बनारस के वैद्य पं० त्र्यम्बक शास्त्री, कलकत्ते के डा० यूनन (होम्योपैथ) और डा० गणनाथ सेन जैसे योग्य चिकित्सकों को भी दिखाया गया, किन्तु कुछ लाभ न हुआ । बात यह है कि कुछ जोर से चलने या अधिक सीढ़ियां चढ़ने से उनके सीने में दर्द होने लगता था । वही अब कभी बैठे-बैठे भी हो जाता है ”

रत्नाकरजी को यह आभास मिलने लगा था कि अब उन्हें शीघ्र ही महाप्रयाण करना होगा, अतः जो कुछ समय शेष था, उसी में वे अधिक से अधिक कार्य समाप्त कर डालना चाहते थे। सन् १९३२ की गर्मियों में हरिद्वार जाते समय उन्होंने श्री दुलारेलाल-भार्गव से कहा था कि “इस शरीर का अब कोई भरोसा नहीं। सूरसागर का बहुत कुछ कार्य हो गया है। ये पोथियां ले लो, और बाकी कार्य पूरा करके उचित समझना तो छपवा डालना।”^१

भार्गवजी ने उनकी बात हँसी में टाल दी, किन्तु उस समय कौन जानता था कि रत्नाकरजी कूर काल के कठिन पाश में आवद्ध हो चुके हैं। उनका स्वास्थ्य चिन्ताजनक अवश्य था, परन्तु स्वप्न में भी किसी की यह कल्पना न थी कि उनका देहावसान इतनी शीघ्रता से हो जायगा। लखनऊ से हरिद्वार जाने के पश्चात् रत्नाकरजी फिर कभी काशी न लौटे। गंगा-भक्त रत्नाकरजी को २१ जून सन् १९३२ को ६६ वर्ष की आयु में गंगालाभ हो गया। हरिद्वार के अति सुगम द्वार से रत्नाकरजी अगम हरिलोक को सिधार गये। गंगावतरण की ये पंक्तियाँ उस दिन गम्भीर विषाद को ध्वनित कर उठी थीं :—

इमि निकसि गंग गिरि गेह ते गह्यौ पंथ महि ओक कौं
करि हरिद्वार कौं अति सुगम द्वार अगम-हरि-लोक कौं ॥^२

रत्नाकरजी के स्वर्गवास से हिन्दी-संसार में हाहाकार मच गया। ब्रज-भारती पर यह अनभ्र ब्रजपात था। सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में काले शीर्षकों से यह शोक-समाचार प्रकाशित हुआ। सुधा-सम्पादक ने लिखा—“मित्रवर रत्नाकरजी को स्वर्गीय लिखते हमें बड़ा दुर्ख हो रहा है। जब हमने उन्हें यहां डाक्टरों को दिखाया था, तो किसी ने यह नहीं कहा कि उनकी जीवन-लीला अब समाप्तप्राय ही है। रत्नाकरजी के निधन से हिन्दी भाषा विशेषकर ब्रजभाषा की अपार हानि हुई है। उसको पूर्ति करने वाला हमें तो कोई दिखाई नहीं देता। खेद है सूरसागर का संपादनकार्य अधूरा ही रह गया। ब्रजभाषा का व्याकरण और कोष अब कौन तैयार करेगा ? प्राचीन महाकवियों के टक्कर के सुन्दर-सुन्दर कवित्त रचकर अब कौन सुनायेगा ? दैव-कोप से आज हिन्दी-मां का रत्नाकर ही लुट गया। घोर तमिस्र से आज सारा हिन्दी-साहित्य संसार आवृत हो उठा है। मां का हृदय एकाएक धैर्य का बांध तोड़कर पुकार उठा है :—

१. ‘सुधा’ वर्ष ५ खण्ड २ संख्या ६, पृष्ठ ८२६

२. गंगावतरण पृष्ठ २७५

इक-ते-इक सुन्दर छुटे
 रतन, सहीं सौ पीर ।
 पर बिधि रत्नाकर लुटे ,
 केहि बिधि धारों धीर ॥१॥

रत्नाकरजी के निधन से हिन्दी-संसार की जो क्षति हुई, उसकी पूर्ति अभी तक नहीं हो सकी है । कौन जाने यह कमी कभी पूरी भी होगी या नहीं ।

द्वितीय अध्याय



रत्नाकर-युग की परिस्थितियाँ

प्रतिभावान कवि के साहित्यिक व्यक्तित्व के विकास-क्रम का समुचित मूल्यांकन उसके युग की हलचलों के अध्ययन के बिना अपूर्ण ही रहता है। किसी कवि ने किसी विशेष प्रकार की रचना क्यों की ? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिये तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का अनुशीलन अतीव सहायक होता है। युग-प्रतिनिधि साहित्यकार जहाँ एक ओर अपनी कृतियों से समाज को प्रभावित करता है, वहाँ दूसरी ओर अपने युग की चेतना और वातावरण से स्वयं भी प्रभावित होता है। अध्ययन की इस शैली से कवि की रचनाओं की प्रेरक परिस्थितियाँ सुस्पष्ट हो जाती हैं, फलतः उसकी रचनाओं की अनेक गुणधर्मियाँ अपने-आप सुलझने लगती हैं। अस्तु, रत्नाकर-युग की परिस्थितियाँ ये थीं:—

राजनीतिक परिस्थितियाँ

भारत में राष्ट्रीय-चेतना का सूत्रपात सन् १८१८ ई० से सन् १८५७ की राजनीतिक हलचलों में ही दृष्टिगोचर होने लगता है। इन दिनों ईस्ट इंडिया कम्पनी के अन्यायी शासन के विरोध में समाज प्रयत्नशील था। इसी प्रयत्न के परिणामस्वरूप भारत सन् १८५७ ई० में स्वतन्त्रता की उस प्रथम हुंकार से गूँज उठा, जिसके कारण अंग्रेजी राज्य की ईट-से-ईट बज उठी। अंग्रेजों ने इसका बड़ी भयङ्करता से दमन किया। कुछ समय के लिये ऐसा प्रतीत हुआ मानों क्रांति भारत से रुठ कर चली गयी हो। किन्तु स्वतन्त्रता की अदम्य भावना से प्रेरित भारतीय प्रच्छन्न रूप से ब्रिटिश राज्य की नींव हिलाते हुए अपनी अभीप्सा की प्राप्ति में तत्पर थे। कविवर रत्नाकर का प्रादुर्भाव ऐसे ही समय में हुआ जब भारत में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक सभी दृष्टियों से नवीन चेतनाओं का स्फुरण हो रहा था।

जब कांग्रेस का जन्म सन् १८८५ में हुआ तब रत्नाकरजी १९ वर्ष के थे। कभी सहयोग तो कभी असहयोग की अवसरानुकूल नीति से देश इस समय अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति में संलग्न था; किन्तु स्वतन्त्रता की काम्य और वरेण्य भावना से समाज का उच्च स्तर ही अनुप्राणित हो सका था। साधारण जनता इससे विशेष प्रभावित नहीं। अतः ब्रिटिश शासन के कानों पर भी जूँ न रेंगती थी।

बंग-भंग की घटना ने सन् १९०५ में देश को आक्रोश और विरोध की लहर से आलोड़ित कर दिया । इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप बंगाल में जो राष्ट्रजागरण की लहर उठी, वह अपनी सीमा का असीम विस्तार करके देश-व्यापी हो गयी । 'वन्देमातरम्' के गम्भीर घोष से सुषुप्त भारत जाग उठा । रत्नाकरजी इस समय ३९ वर्ष के थे । अयोध्या-नरेश के चीफ सेक्रेटरी होने के कारण इन दिनों वे अयोध्या के राजकीय झंझटों में उलझे हुए थे ।

अंग्रेजी सत्ता ने इस राष्ट्रीय जागरण का भीषणता से दमन किया, परन्तु दमन की वृद्धि के साथ राष्ट्रीय जागरण भी विराट रूप ग्रहण करता गया । पशु-बल से उन्मत्त विदेशी सत्ता का, निःशस्त्र पराधीन भारत-मात्र आत्म-बल से विरोध कर रहा था । कांग्रेस इस समय दो दलों में विभक्त थी । एक गरमदल कहलाता था, दूसरा नरम-दल । इनके अतिरिक्त एक तीसरा आतङ्कवादी दल भी उठ खड़ा हुआ था, जो ईट का जवाब पत्थर से देते हुए समय-समय पर हत्या और हिंसात्मक कार्यों से अंग्रेजी शासन के उन्मूलन में विश्वास रखता था । तत्कालीन कविताओं में कांग्रेस के नरम तथा गरम दोनों ही दलों की चेतना की अभिव्यक्ति हुई, किन्तु आतङ्कवादी विचार-धारा का उग्र स्वर प्रायः लोक-गीतों में ही मुखरित हुआ ।

आतङ्कवादियों की हलचलें सन् १९०७ में प्रबल हो गयीं । बम फेंकना इन दिनों एक सामान्य बात थी । लोकमान्य तिलक बम-काण्ड के समर्थक थे, फलतः उन्हें आठ वर्ष का कारावास मिला । इन हिंसात्मक हलचलों से शङ्कित होकर सरकार ने सन् १९०९ में मिटो-माले सुधार-योजना की घोषणा की । रत्नाकरजी इस समय अयोध्या की महारानी के प्राइवेट सैक्रेटरी थे । महारानी के विरुद्ध पट्टीदारों का मुकदमा चल रहा था सन् १९१६ तक वे इसी मुकदमे में व्यस्त दिखायी देते हैं । इन देशव्यापी राजनीतिक हलचलों में उन्होंने सक्रिय भाग कभी नहीं लिया ।

मिटो-माले सुधार-योजना वस्तुतः अंग्रेजों की फूट-नीति की ही नवीन विधा थी । भारत की स्वतंत्रता के चरमान्त प्रश्न से इसका कोई सम्बन्ध न था । यही नहीं, मिटो की कूटनीति ने मुस्लिम लीग का भी निर्माण किया, फलतः हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को बल मिलने लगा ।

विश्व के रङ्गमञ्च पर सन् १९१० से सन् १९१७ के बीच में कतिपय ऐसी घटनाएँ घटित हुईं जिनका प्रभाव भारत की तत्कालीन राजनीति पर भी पड़े बिना न रह सका । ट्रान्सवाल में सत्याग्रह द्वारा गांधीजी की विजय, १९१४ ई० का प्रथम योरोपीय महासमर, रूस में जारशाही का अन्त एवं जनतन्त्र की स्थापना ऐसी ही घटनाएँ हैं । भारत में भी इन दिनों घटना-चक्र तेजी से घम रहा आ । दिल्ली-दरबार में बंग-भंग—घोषणा के

प्रतिषेध से भारतीय जनता कुछ शान्त हुई किन्तु आतङ्कवादियों को इससे सन्तोष न हुआ। उन्होंने लार्ज हार्डिंग पर बम फेंका जिससे वे तो बच गये, किन्तु उनका शरीर-रक्षक मारा गया। प्रथम महायुद्ध में भारत ने स्वतंत्रता प्राप्ति की आशा से अंग्रेजों की धन-जन से सहायता की थी, परन्तु सरकार ने भारतीयों की इस उत्कट अभिलाषा की उपेक्षा ही की। इस अवहेलना से खिन्न होकर एनीबीसेण्ट और तिलक ने मिल कर होमरूल लीग की स्थापना की। परिणामतः स्वतन्त्रता का आन्दोलन पुनः तीव्र हो उठा। सरकार भी कठोरता से दमन करने लगी। इन्हीं दिनों खिलाफत आन्दोलन आरम्भ हुआ जिसके कारण देश में आदर्श ऐक्य की स्थापना हुई। भारत के रङ्गमञ्च पर गांधीजी सन् १९१६ के अन्त में दृष्टिगोचर होते हैं। उनके प्रयत्न में सन् १९१७ में फिजी की गिरमिट-प्रथा बन्द हुई। भारत में सत्याग्रह का यह प्रथम सफल प्रयोग था। चम्पारन के नील-क्षेत्रों के सम्बन्ध में गांधीजी ने दूसरी बार पुनः सत्याग्रह द्वारा सफलता प्राप्त करके देश के नैतिक बल में आशातीत वृद्धि की।

रत्नाकरजी पट्टीदारों के मुकदमे से सन् १९१६ में छुट्टी पा गये थे। रियासत कोर्ट ऑफ वार्ड्स में चली गयी थी। अतः वे बहुत कुछ विन्ता-मुक्त थे। इस समय उनकी अवस्था ५० वर्ष की थी, अतः अब उनका उत्साह भी क्षीण होने लगा था। फिर भी रत्नाकरजी इन देश-व्यापी हलचलों से प्रभावित अवश्य थे। महात्मा गांधी पर उन्हें पूर्ण श्रद्धा थी। यद्यपि इस सम्बन्ध में उनकी रचनाएँ अधिक नहीं हैं, परन्तु जो कुछ हैं, वे उनकी देश-भक्ति पर प्रकाश अवश्य डालती हैं।

क्रूर नृशंस ओ डायर ने १३ अप्रैल १९१९ को जलियांवाला बाग में निरीह भारतीयों को मौत के घाट उतार कर अंग्रेज सरकार की नीचता और बर्बरता का उपहृत परिचय दिया। उस राक्षसी कृत्य की स्मृति से आज भी खून खौल उठता है। पराधीनता की ऐसी ही विषम परिस्थितियाँ ठोकर मार-मार कर उन दिनों भारत को अपना लुप्त गौरव पुनः प्राप्त कर लेने की प्रेरणा प्रदान कर रही थीं।

इस हत्याकाण्ड से सम्बन्धित हंटर-रिपोर्ट भारतीयों के क्षोभ की वृद्धि में और भी अधिक सहायक हुई। फलतः सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलन देश-व्यापी हो गया। युवराज के आगमन पर जनता ने उत्सवों का बहिष्कार किया और विदेशी कपड़ों की होलियाँ जलायीं। सरकार का दमन-चक्र भी तेजी से घूम रहा था। किन्तु अंग्रेजों की फूट-नीति से भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम में पुनः व्याघात उपस्थित हुआ। सन् १९२२ से १९२७ तक बंगाल, पंजाब, बिहार, दिल्ली, बम्बई, प्रायः सभी प्रान्तों में भीषण सांप्रदायिक दंगे हुए। परिणामतः देश में स्थापित सराहनीय ऐक्य नष्ट हो गया।

साइमन कमीशन के सन् १९२८ में भारत आने पर उसका काले झंडों और

“साइमन लौट जाओ” के नारों से स्वागत हुआ। इसी वर्ष सरदार पटेल को बारडोली सत्याग्रह में विजय प्राप्त हुई। कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में घोषित पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए देश इस समय शक्ति-सञ्चय कर रहा था।

अस्वस्थता के कारण रत्नाकरजी ने इन दिनों अयोध्या की नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया था। अब वे काशी में ही निवास करते हुए ‘सूर सागर’ के सम्पादन में अपना समय व्यतीत कर रहे थे।

लार्ड इर्विन की घोषणा से सन् १९२९ में भारतीयों को औपनिवेशिक स्वराज्य की आशा बंधी थी। किन्तु क्रियात्मक रूप में कुछ न करके अंग्रेजी सरकार कोरी बातों से ही काम निकालना चाहती थी, अतः २६ जनवरी सन् १९३० को भारत के कोने-कोने में पूर्ण स्वतन्त्रता दिवस उत्साह से मनाया गया। गांधीजी के साथ नमक-कानून-भंग करता हुआ देश इस समय सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन में रत था। सन् १९३१ में गांधी-इर्विन समझौते के कारण आन्दोलन स्थगित हुआ, परन्तु लन्दन में गोलमेज-परिषद् होने पर भी जब कोई उद्देश्य सिद्ध न हुआ तब १९३२ में पुनः आन्दोलन प्रबल रूप से आरम्भ हो गया। स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सभी अंग्रेजों की गोलियाँ सीने पर झेल रहे थे। अंग्रेजी सरकार की जेलें वीर सत्याग्रहियों से पूर्णतः भरी हुई थीं।

रत्नाकरजी का देश-वसान सन् १९३२ में हो जाता है, अतः इससे आगे की राजनीतिक परिस्थितियों का प्रस्तुत प्रबन्ध से कोई सम्बन्ध नहीं है। देश-भक्ति सम्बन्धी उनकी अनेक कविताएँ ऐसी हैं जो सन् १९३० और १९३१ में लिखी गयी हैं। इन कविताओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन राष्ट्रीय हलचलों का उन पर भी प्रभाव पड़ा था।^१

सामाजिक परिस्थितियाँ

रत्नाकरजी का समय सामाजिक क्रान्ति की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इस युग में शूद्रों और स्त्रियों की दयनीय दशा, हिन्दुओं के निज धर्म-परिवर्तन, विधवाओं के करुण क्रंदन, अन्ध-विश्वासों के प्राचुर्य एवं बाल-विवाह, बहु-विवाह, तथा वृद्ध-विवाह जैसी कुरीतियों से हिन्दू-जाति अर्हनिश क्षीण होती जा रही थी। धार्मिक संकीर्णता से जकड़े हुए हिन्दू केवल उन्हीं बातों में आस्था रखते थे, जो परम्परागत थीं। समय के परिवर्तन के साथ नवीन विचारों को आत्मसात करने का उनमें साहस ही न था। जाति

१. देखिए ना० प्र० स० से प्रकाशित ‘रत्नाकर’ पृष्ठ ५६३, ५६४, ५६५ छन्द संख्या, क्रमशः २६ तथा ३०

भेद के क्षुद्र दम्भ और अस्पृश्यता के राजरोग ने समाज के शरीर को जर्जर कर दिया था। जिस प्रकार घर के बाहर प्रभुत्व स्थापित करने में असमर्थ व्यक्ति घर के लोगों को ही अपने प्रभुत्व का अव्याहत भान करा कर, अपनी तुष्टि करता रहता है, उसी प्रकार सदियों से राजनीतिक पराधीनता को भोगने वाला हिन्दू-समाज, अपने ही परिवार में रूढ़ि-प्रियता के जड़ अहंकार से अपना परितोष कर रहा था। संसार की उन्नत जातियाँ जल-निधि के वक्षस्थल को विदीर्ण करती हुई अपने ज्ञान, बल, बुद्धि और ऐश्वर्य की वृद्धि में निरन्तर प्रगतिशील थीं, परन्तु हिन्दू-समाज महानस के संकीर्ण वृत्त में भी विकम्पित हो उठता था। इस समाज की नस-नस में प्रविष्ट कुसंस्कार के क्षयी कीटाणु उसके शरीर को सतत ह्रासोन्मुख बना रहे थे। समाज के इस कष्ट साध्य रोग को दूर करने के लिए जिस कुशल चिकित्सक की आवश्यकता थी उसका प्रादुर्भाव स्वामी दयानन्द सरस्वती (सन् १८२४-८३ ई०) के रूप में हुआ। स्वामीजी ने १० अप्रैल सन् १८७५ ई० को बम्बई में पहले-पहल आर्य समाज की स्थापना की; रत्नाकरजी इस समय नौ वर्ष के थे।

आर्यसमाज की स्थापना के लगभग ४७ वर्ष पूर्व कलकत्ते में ब्राह्मसमाज की स्थापना हो चुकी थी। इस प्रवर्तन के प्रवर्तक, अंग्रेजी सभ्यता से प्रभावित राजा राम-मोहनराय (सन् १७७४-१८३३ ई०) थे। उन्होंने जाति-पाँति, बहु-विवाह, पशु-बलि छुआछूत, मूर्तिपूजा, एवं बहुदेववाद जैसी कुरीतियों के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन किया। तत्कालीन शिक्षित तथा अशिक्षित समाज के बीच वे एक संयोजक सेतु थे। समाज का शिक्षित वर्ग अंग्रेजी सभ्यता एवं नूतन विचारों से प्रभावित था। उधर अशिक्षित समाज प्राचीनता-प्रिय और रूढ़िवादी था। शिक्षित वर्ग अशिक्षित वर्ग को अन्धविश्वासी तथा कूप-मण्डूक समझता था, तो रूढ़िवादी वर्ग शिक्षित समुदाय को नास्तिक। राजा राममोहनराय ने ब्राह्मसमाज की स्थापना द्वारा भारत के तत्कालीन सामाजिक जीवन में प्रथम क्रान्ति उपस्थित की। मध्ययुगीन हिन्दू-यावनिक संस्कृति के सम्मिश्रण के समान, उन्नीसवीं शताब्दी में यह, भारतीय तथा पाश्चात्य संस्कृति का संगम था।

समाज-सुधार की दृष्टि से ब्राह्मसमाज की अपेक्षा आर्यसमाज अधिक सजग था। उसका उद्देश्य पुराने हिन्दू-समाज तथा नवीन ईसाई समाज का समन्वय न होकर हिन्दू-समाज की त्रुटियों के उन्मूलन द्वारा विदेशी सभ्यता पर विजय प्राप्त करना था। उस युग में हिन्दू-समाज अपने ही हाथों स्वअंगोच्छेद की मूर्खता से निर्बल हो रहा था। एक बार मुसलमान अथवा ईसाई बन जाने वाले हिन्दू, सदैव के लिये समाज से बहिष्कृत समझे जाते थे। प्रतिक्रिया स्वरूप स्वधर्म परिवर्तन के पश्चात् वे लोग भी हिन्दुओं के

अपकार में महयोग देने लगते थे । अस्पृश्य जातियों के साथ हिन्दू-समाज का व्यवहार उपहृत था । वे अछूत थे तथा समाज में उनका मूल्य दासों से अधिक न था । यह भी एक विडम्बना थी कि ईसाई अथवा मुसलमान बने हुए अछूतों से हिन्दू-समाज सद्-व्यवहार करने लगता था । हिन्दुओं की इस जड़ता से ईसाई तथा मुसलमान लाभान्वित हो रहे थे । अतः आर्यसमाज का शुद्धि-आन्दोलन मूल को व्याज सहित लौटाने का उद्योग बना । शुद्धि द्वारा न केवल वे हिन्दू, जो मुसलमान अथवा ईसाई बनाये गये थे, पुनः हिन्दू धर्म में गृहीत हो सकते थे, प्रत्युत विजातीय भी शुद्ध होकर हिन्दू समाज में समान प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकते थे ।

पुराने हिन्दू-समाज तथा नवीन समाज में समन्वय की चेष्टा ने ब्राह्मसमाज को अनुकूल वातावरण प्रदान किया, अतः उसे अधिक संघर्ष की आवश्यकता न पड़ी, किन्तु आर्यसमाज ने पुराने हिन्दू समाज को परित्यक्त घोषित कर दिया था और नवीन समाज से तो उसका विग्रह था ही, फलतः उसे अपेक्षाकृत अधिक संघर्ष करना पड़ा । अपने प्रयत्नों से आर्यसमाज ने शनैः-शनैः एक ऐसे समाज का निर्माण किया जो पाश्चात्य सभ्यता से मुक्त, हिन्दुत्व का अनन्य पुजारी और हिन्दू-समाज की पुरानी श्रुतियों का घोर विरोधी था । परम्परावादी (सनातन धर्मी) लोग आर्य समाज के विशेषत्व को हृदयंगम न कर सके थे । ये लोग नवीन हिन्दू-समाज और विदेशी संस्कृति दोनों ही के विरोधी थे । मूर्तिपूजा, श्राद्ध, बहुदेववाद, बालविवाह, बहुविवाह, इत्यादि का विरोध सनातन-धर्मियों को अपने धर्म का खण्डन प्रतीत होता था । इन परिस्थितियों ने उन परम्परावादियों को भी आर्यसमाज का विरोधी बना दिया जो वस्तुतः धर्म से कोसों दूर थे ।

आर्यसमाज ने भूत-प्रेतादि की पूजा का निषेध, एवं विधवा-विवाह नियोग तथा स्त्री-शिक्षा इत्यादि का समर्थन किया । कतिपय शारीरिक एवं मानसिक रोगों को कुछ लोग भूत-प्रेतादि का उपद्रव समझते थे । इन बाधाओं से त्राण पाने के लिए गण्डा-तावीज, झाड़ू-फूंक इत्यादि की व्यवस्था की जाती थी । आर्यसमाज के प्रयत्न से लोगों का यह भ्रम भी दूर हुआ ।

वस्तुतः भारत इस युग में अपने समाज में बद्धमूल ईर्ष्या, अज्ञान, आरक्ष्य, फूट इत्यादि अगणित बुराइयों के प्रति सतर्क हो गया था । इनके निराकरण के हेतु अनेक संस्थाओं का उदय हो रहा था । महादेव गोविन्द रानाडे ने पूना में प्रार्थना समाज की स्थापना की । मद्रास में 'थियोसोफिकल सोसाइटी' समाज-मुधार का कार्य कर रही थी । कांग्रेस भी अस्पृश्यता-निवारण, मादक-द्रव्यों के बहिष्कार, दलित-जातियों के उद्धार जैसी बातों को अपने कार्यक्रम में स्थान देकर राष्ट्रीय-एकता में बाधक और हिन्दू-समाज की घातक बुराइयों के उन्मूलन में संघर्षशील थी । नव-जागरण की स्फूर्ति ने भारत

की आँखें खोल दीं थीं, अतः मध्ययुगीन संस्कृति की त्रुटियों को उसने भली-भाँति पहचान लिया था। युग-युग की जड़ता और सामाजिक निर्बलताओं से भारत शनैःशनैः मुक्त हो रहा था। अंग्रेजों के सम्पर्क में आने से देश ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी प्राप्त कर लिया था। नव-चेतना की ये संगठित शक्तियाँ भारत-भाग्याकाश में कल्याणकारी सामाजिक क्रान्ति के मङ्गल-प्रभात की पूर्व सूचना थीं।

रत्नाकरजी कर्मकाण्डयुगीन हिन्दू संस्कृति के प्रतिनिधि थे। न तो उन्होंने मूर्ति-पूजा, बहुदेववाद, इत्यादि का ही विरोध किया और न नियोग, पुनर्विवाह इत्यादि का समर्थन। तथापि स्वामी दयानन्द के शुद्धि-आन्दोलन का प्रभाव उन पर भी पड़ा था। उनकी कतिपय वीर रसात्मक कविताओं में भी आर्यसमाजी प्रभाव परिलक्षित होता है। आर्य-समाज ने हिन्दू जाति को दृढ़ करने के हेतु जैसी हिन्दू-भावना को जाग्रत किया बहुत कुछ वैसी ही भावनाएँ रत्नाकरजी की उन कविताओं में भी दिखायी देती हैं, जो उन्होंने गुरु गोविंदसिंह, महाराज छत्रसाल, छत्रपति शिवाजी, महाराणा प्रताप इत्यादि पर लिखी हैं।

धार्मिक परिस्थितियाँ

राजा राममोहनराय तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती सामाजिक क्रान्ति के ही नहीं धार्मिक आन्दोलनों के भी अग्रदूत थे। इन दो महापुरुषों के अतिरिक्त रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द भी इस युग में धार्मिक जागरण के प्रतिनिधि थे। जिस समय पाश्चात्य भौतिकवादी संस्कृति की सबल तरंगें भारत-भूमि से टकरा कर सम्पूर्ण आर्य-सिद्धान्तों को विचलित कर देना चाहती थीं, उसी समय भारतवर्ष में ऐसी विभूतियों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनके प्रयत्नों से भारतीय संस्कृति एवं धार्मिक सिद्धान्तों की रक्षा हुई।

जाग्रत भारतीय तत्कालीन स्थिति की विपमता को समझ गये थे। उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उनके हृदय में जो प्रबल असन्तोष उत्पन्न हुआ वही उन्नीसवीं शताब्दी की सामाजिक तथा धार्मिक क्रान्तियों का मूल कारण था।

राजा राममोहनराय ने उपनिषदों और वेदान्त से प्रेरणा प्राप्त करके हिन्दू-धर्म का जो नवीन स्वरूप समाज के सम्मुख उपस्थित किया, उसका आध्यात्मिक और बौद्धिक दृष्टिकोण यद्यपि ईसाई धर्म के अनुरूप था, तथापि ब्राह्मसमाज का आधार भारतीय संस्कृति ही थी। ब्राह्मसमाज के सिद्धान्त हिन्दू धर्म के अन्ध विश्वासों और बाह्याङ्गमयों के लिए भीषण आघात सिद्ध हुए, परन्तु साथ ही लोगों के हृदय में प्राचीन भारतीय संस्कृति को समझने की उत्सुकता भी जगी। मूर्तिपूजा, पशु-बलि जैसे कर्मकाण्डों के निषेध के कारण समाज के निम्नस्तर को ब्राह्मसमाज अग्राह्य था, किन्तु पाश्चात्य विचारों से प्रभावित उच्चस्तर के व्यक्ति इससे आकर्षित हुए। राजा राममोहनराय के पश्चात् उनका कार्य

देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने आगे बढ़ाया। यद्यपि केशवचन्द्र सेन ने भी ब्राह्मसमाज की उन्नति में योग दिया, परन्तु उन्होंने इसे ईसाई धर्म की ओर अधिक झुका दिया था। देवेन्द्रनाथ के प्रभाव से इसमें पुनः भारतीय संस्कृति की स्थापना हुई।

इस युग की धार्मिक जाग्रति के दूसरे प्रवर्तक थे स्वामी दयानन्द सरस्वती। स्वामी जी की मूल प्रेरणा वेद थे। तत्कालीन प्रचलित वैदिक विचारधारा से भिन्न अथ की उपस्थापना द्वारा उन्होंने हिन्दुत्व का पुनरुद्धार और पुराणवाद का उन्मूलन किया। स्वामीजी ने समाज के उच्चस्तर में ही धार्मिक क्रांति नहीं की, प्रत्युत हिन्दू समाज में अन्धविश्वास और निर्भीकता का उद्रेक, एवं अन्यान्य प्रचलित मतों तथा धर्मों का खण्डन करके, वैदिक विचार-धारा और सम्यता को अन्य सभी संस्कृतियों से श्रेष्ठ भी घोषित किया।

परमहंस रामकृष्णजी भी उन्नीसवीं शताब्दी की धार्मिक जाग्रति के प्रतिनिधि थे। आपका जन्म २० फरवरी सन् १८३३ ई० को हुगली प्रांत के एक ग्राम कमारपकर में हुआ था। योगाभ्यास तथा निर्विकल्प समाधि के द्वारा आपने ज्ञानोपार्जन किया था। आपको यह दृढ़ मान्यता थी कि मनुष्य किसी भी धर्म के द्वारा ईश्वर-ज्ञान और मुक्ति प्राप्त कर सकता है। आपके उपदेशों से सभी धर्मों के अनुयायी प्रभावित होते थे।

स्वामी विवेकानन्द इन्हीं के शिष्य थे। अपने गुरु से पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके उन्होंने दो वर्ष तक हिमालय में योग-साधन तथा तिब्बत जाकर बौद्धधर्म का अध्ययन किया। वहाँ से लौटकर वे सम्पूर्ण भारत में घूमते हुए धर्म का प्रचार करने लगे। ३१ मई सन् १८९३ को वे शिकागो के सर्व-धर्म-सम्मेलन में भाग लेने के लिए अमेरिका गये। अमेरिका में आपके व्याख्यानों से प्रभावित होकर बहुत से अमेरिकन आपके शिष्य बने। सन् १८९५ ई० के अक्टूबर में आप इंग्लैंड गये। वहाँ भी आपके आकर्षक भाषणों ने विद्वानों को वेदान्त धर्म की ओर आकृष्ट किया।

स्वामी विवेकानन्द भारतीय वेदान्त धर्म को बड़े ही आकर्षक रूप में समाज के सम्मुख उपस्थित करते थे। उनके प्रभाव से भारत में ऐसे सन्यासियों का संघटन तैयार हुआ जो अंग्रेजी भाषा के साथ भारतीय आध्यात्म विद्या पर भी पूर्ण अधिकार रखता था। इस श्रेणी के बहुत से सन्यासी आज भी समाज-सेवा में संलग्न हैं।

लोकमान्य तिलक और मालवीयजी भी रत्नाकरजी के समकालीन थे। लोकमान्य तिलक ने गीता-धर्म के प्रचार द्वारा लोगों को कर्म-मार्ग का पाठ पढ़ाया। मालवीयजी तो रहते ही बनारस में थे, अतः रत्नाकरजी को उनके सम्पर्क में आने का पर्याप्त अवसर मिला था। मालवीयजी कर्मकाण्ड-युक्त प्राचीन हिन्दू-संस्कृति के पक्ष-

पाती थे। नवीन भारतीय जीवन को वे आचरण प्रधान प्राचीन हिन्दू संस्कृति से समन्वित् देखना चाहते थे। रत्नाकरजी का दृष्टिकोण भी बहुत कुछ वही था जो महामना मदनमोहन मालवीय का था।

रत्नाकर-युग के श्रेष्ठ पुरुष गान्धीजी थे। भारतीय जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा न था जिस पर उनका प्रभाव न पड़ा हो। सत्य और अहिंसा का जो पाठ उन्होंने भारतीय जनता को पढ़ाया, उसी के द्वारा भारत विदेशी बन्धन से मुक्त हुआ। ईश्वर, सत्य, अहिंसा, प्रेम, आत्म-शुद्धि, तथा जीवन की व्यक्तिगत पवित्रता के प्रति उन्होंने भारतीय जनता की आस्था उत्पन्न की।

रत्नाकरजी पक्के सनातनी थे, परन्तु दूसरों के धार्मिक विश्वासों का वे कभी खण्डन न करते थे। भगवान् कृष्ण उनके इष्ट देव थे, तथापि राम, शिव, गंगा यमुना, गणेश इत्यादि सभी प्रमुख हिन्दू देवी-देवताओं के प्रति उनकी धार्मिक आस्था थी। अपने युग की धार्मिक हलचलों का उन पर विशेष-प्रभाव नहीं पड़ा था। वे जीवन-पर्यन्त प्राचीन हिन्दू संस्कृति और सनातन धर्म के ही पक्षपाती बने रहे।

आर्थिक परिस्थितियाँ

भारत में अंग्रेजी राज्य आद्यन्त भारत के आर्थिक-शोषण की क्रूर कहानी है। यदि मुसलमानी शासन-काल से ब्रिटिश राज्य-काल की तुलना की जाय, तो देश-समृद्धि की दृष्टि से मुसलमानी राज्य ही श्रेष्ठ प्रतीत होता है। मुसलमान भारत में ही बस गये थे, अतः देश की सम्पत्ति यहीं रही, परन्तु अंग्रेज यहाँ के धन से इंग्लैंड को सम्पन्न बना रहे थे। भारत के व्यापार, ग्रामीण उद्योग-धंधों और कला-कौशल को उन्होंने इंग्लैंड के हित में नियंत्रित कर लिया था। इस कुटिलता के परिणामस्वरूप कला-कौशल और उद्योग-धंधों का परित्याग करके केवल कृषि द्वारा जीवकोपार्जन के लिए देश बाध्य हो गया। सन् १८९३ में पं० मदनमोहन मालवीय ने कांग्रेस के नवें अधिवेशन में इसी स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा था :—

“आपके जुलाहे कहाँ हैं ? वे लोग कहाँ हैं जिनका निर्वाह भिन्न-भिन्न उद्योग-धंधों एवं कारीगरियों से होता था ?.....ये भूतकाल की बातें हो गईं। आज तो यहाँ बैठा हुआ लगभग प्रत्येक व्यक्ति ब्रिटेन के बने कपड़ों से ढका हुआ है और जहाँ भी कहीं आप जायें सब जगह विलायती-ही-विलायती माल आपको दिखाई देगा। लोगों के पास सिवा इसके कोई चारा नहीं रहा है कि खेती-बाड़ी के द्वारा बरायनाम अपना गुजारा करें, या जो नाम मात्र का व्यापार बाकी रहा है, उससे टका धेला पैदा कर लें। सरकारी नौकरियों और व्यापार में पचास साल पहले हमें जो कुछ

मिलता था अब उसका सौँवा हिस्सा भी हमारे देशवासियों को नसीब नहीं होता । ऐसी हालत में भला देश कैसे सुखी हो सकता है ?”^१

इस आर्थिक शोषण के कारण भारतवासी दिन-प्रति-दिन कंगाल होते जा रहे थे । पयस्वनी नदियों से सिञ्चित भारत में इन दिनों भीषण अकाल पड़ रहे थे जिनके कारण देश की दशा और भी शोचनीय थी । सन् १८९६-९७ ई० तथा सन् १९०० ई० के अकालों ने तो देश को सर्वथा दरिद्र ही बना दिया । अकाल की इस स्थिति में अन्न की जितनी कमी थी, उससे अनुपात में कहीं अधिक खरीदने के साधनों की थी । भारत के वे ही गाँव जो कभी धन-धान्य से समृद्ध थे, अब अन्न के दानों के लिए तरसने लगे थे । इन दुर्भिक्षों का मूल कारण अंग्रेजों की शोषण-नीति थी । निरन्तर लगान-वृद्धि के कारण प्रजा त्रस्त थी चरागाह जंगल-विभाग के नियन्त्रण में आ गये थे । फलतः ग्रामीण जनता को पशु-पालन में भी बड़ी कठिनाता हो गयी थी । इस दुर्नीति के कारण हल, मकान, और खेती के विभिन्न कामों में आने वाली लकड़ी भी सरलता से उपलब्ध न होती थी । लगान-वृद्धि का कष्ट और भी बढ़कर था । कभी-कभी तो फसल से भी अधिक लगान देना पड़ता था । ब्रिटिश भारत में तैयार होने वाले सूती माल पर सरकार ने कर लगा दिया था । भारत से कच्चा माल विदेश जा रहा था तथा वहाँ से वही माल तैयार होकर भारतीयों को मिलता था । अंग्रेजों की इस अर्थनीति ने देश को दरिद्र और पूर्णतः कंगाल बना दिया । बाध्य होकर भारतीयों का मजदूरों द्वारा उदर-पूर्ति करनी पड़ी । भारतीय मजदूरों को अंग्रेज अपने अन्य उपनिवेशों में मजदूरी के लिए ले जाते थे, और वहाँ उनके साथ दासों जैसा व्यवहार करते थे । पूर्वी भारत में तो वे भारतीय किसानों के रक्त से नील की खेती सीच ही रहे थे ।

इस आर्थिक विषण्णता की प्रतिक्रिया समाज के उच्च स्तर में होने लगी थी, परन्तु निम्नस्तर के लोग इसे भाग्य-विधान समझकर सन्तोष कर लेते थे । रत्नाकरजी की वाणी में दुःखी भारत की इस करुण चीत्कार का स्वर पर्याप्त मुखर है ।^२

साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

रत्नाकरजी भारतेन्दुयुग, द्विवेदी-युग और छायावादी-युग के प्रत्यक्ष साक्षी थे । उनके काव्यादर्शों का उद्भव और विकास इन्हीं युगों की साहित्यिक प्रवृत्तियों के उपधान से हुआ था । हरिश्चन्द्र-युग उनकी शैशव और किशोर-अवस्था का समय है, इस काल के

१. कांग्रेस का इतिहास पृष्ठ ४१-४२

२. द्रष्टव्य-प्रकीर्ण पद्यावली पृष्ठ ५४२, छन्द संह्या ३, ४

अनेक कवियों ने जहाँ उस युग की विशेषताओं को अशेष रूप से ग्रहण किया था, वहाँ कुछ कवि किसी विशेष प्रवृत्ति से ही प्रभावित हो सके थे। रीतिकाल में विच्छिन्न कविता और जीवन का सम्बन्ध यहाँ आकर पुनः जुड़ने लगता है। भारतेन्दुजी ने अकाल, टैक्स, मतमतान्तरों के झगड़ों, देश-भक्ति, पराधीनता, फूट, कलह, भाषा आदि सभी को अपनी कविता का विषय बनाया। उनके लोकगीतों के विषय भी प्रायः ये ही हैं। आधुनिक हिन्दी कविता में भाव-क्रांति का आरम्भ यहीं से होता है। परन्तु इन विशेषताओं से अनुस्यूत रीतिकालीन संस्कार भी तत्कालीन कवियों में विद्यमान थे। नवीन विचारों एवं भावनाओं का श्रृंगणेश तो हो चुका था, परन्तु अभी काव्य में उनकी सबल अभिव्यक्ति अपेक्षित थी। कविता का सम्बन्ध मुख्यतः भावों से है, अतः बुद्धिपरक बातें तभी काव्योपयोगी होती हैं, जब वे भाव-समुत्थ आनन्दोद्रेक में सहायक होती हैं। कोरे शुष्क विचारों को लेकर जो कविता की जाती है, वह काव्य-परिवेश से दूर जा पड़ती है। यही कारण है कि, आधुनिक काल के प्रारम्भ में जो कविताएँ हुई, उनमें रीतिकालीन कवियों के नखशिख, बारहमासा, नायिकाभेद, इत्यादि गतानुगतिक विषयों का मोह भी समागत है। आधुनिक काल के प्रारम्भिक कविगण अधिकतर पुराने विषयों पर ही कविता कर रहे थे। कविता में जो नवीन विचार आने लगे थे, वे प्रधानतः उस युग की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, एवं धार्मिक चेतना के परिणामस्वरूप ही कविता का विषय बन चले थे।

इस युग में अंग्रेजी साहित्य के साथ उर्दू का प्रचार भी बढ़ा। अंग्रेजी के अध्ययन से शिक्षित समाज को एक नवीन तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्राप्त हुआ था, किन्तु अधिकांश हिन्दी कवि अंग्रेजी के सम्पर्क में न आ सके थे। इधर अंग्रेजी के अध्वेताओं की हिन्दी पर उतनी श्रद्धा न थी। यही कारण है कि इस युग की कविता पर अंग्रेजी साहित्य का विशेष प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। हाँ, उर्दू साहित्य ने हिन्दी कवियों को अवश्य प्रभावित किया। उर्दू कविता का प्राण वियोग-जन्य उद्वेग की आवेगपूर्ण अभिव्यक्ति है। इस शैली से प्रभावित होकर हिन्दी-कवि भी वैसे ही विह्वलता-सिक्त अभिव्यञ्जना की ओर उन्मुख हुए। फिर भी हिन्दी में विरह की वह विकलता न आ सकी, जिससे उर्दू कविता समृद्ध है। हिन्दी कवि उर्दू वालों की तरह शृंगार के अस्वाभाविक आलम्बन को ग्रहण करने में असमर्थ थे, अतः उन्होंने प्रकृत आलम्बन को ही प्रेम का आदर्श मानते हुए वियोग-जन्य वेदना और विह्वलता के गंभीर चित्र उतारे। इस प्रकार तत्कालीन शृंगाररसात्मक हिन्दी कविता परम्परागत पारिभाषिक शैली के व्यामोह से मुक्त होने लगी थी।

भारतेन्दु-युग, रीतिकाल की सुनहरी संध्या है। इस युग के कवियों ने

रीतिकालीन विशेषताओं को विरासत में प्राप्त किया था। इधर सामाजिक, तथा राजनीतिक चेतना की दीप्ति से अनुप्राणित नवीन विचार-धारा तो उनके युग की ही वस्तु थी, अतः उनकी अभिव्यंजना में युग-प्रतिबिम्ब परिलक्षित होना सहज सम्भाव्य है। इसी कारण भारतेन्दु-युग हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक ऐसा युग है, जिसमें अतीत और वर्तमान का सुन्दर समन्वय दृष्टिगत होता है। किन्तु नवजागरण का यह प्रभात काल ही था, अतः तत्कालीन कवियों में प्राचीन उपकरणों का प्राचुर्य और नवीन उपकरणों की न्यूनता दिखायी देना स्वाभाविक ही है।

इस युग में भी कविता के लिए ब्रजभाषा ही उपयुक्त समझी जाती थी। परन्तु विचार-समृद्ध युग-चेतना की सबल अभिव्यक्ति के लिये गद्य का प्रसार एवं प्राधान्य एक अनिवार्य आवश्यकता थी, अतः भारतेन्दु और उनके युग के इतर साहित्य-सेवियों ने गद्य के लिए जन-भाषा खड़ीबोली को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बन लिया था।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की सामाजिक एवं राजनीतिक हलचलों का उन्मेष बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में दृष्टिगोचर हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी वस्तुतः इष्ट-अनिष्ट की छानबीन में ही व्यतीत हो जाती है। इस युग में मध्यकालीन त्रुटियों के संशोधन से आधुनिक शताब्दी के लिए एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार हुई जिसका आधार ग्रहण करके बीसवीं सदी का साहित्य आगे बढ़ा। इस नवोदित साहित्य में प्राचीनता उपेक्षित और नूतनता अधिकाधिक ग्राह्य होने लगी। भारतेन्दु-युग में नव-चेतना का जो अरुणोदय हुआ था यह उसी का मङ्गल प्रभात था। राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक, सभी क्षेत्रों में नवीनता का बोलबाला था। अतः कविता में भी ब्रजभाषा खड़ी बोली से स्थानान्तरित हुई। इस प्रकार हिन्दी के गद्य और पद्य दोनों के माध्यम में भाषागत एकरूपता आयी। प्राचीनता के प्रति असन्तोष होने से रीतिकालीन साहित्यिक मनोवृत्ति से भी कवियों को विरक्ति हुई। भारतेन्दु-काल का अनुपूरक यही युग हिन्दी-साहित्य के इतिहास में द्विवेदी-युग के नाम से अभिहित है।

भारतेन्दु-युगोंन अभिनव साहित्यिक प्रवृत्तियों का अशेष उत्कर्ष द्विवेदी-युग में हुआ। मध्यकालीन सामाजिक मनोवृत्तियों के विरोधी होने पर भी हरिश्चन्द्र-युग के कवि रीतिकालीन मादकता से पूर्णतः मुक्त न हो सके थे। द्विवेदी-युग में यह मनोवृत्ति भी बिदा लेने लगी। किन्तु रत्नाकरजों पर इस युग-परिवर्तन का विशेष प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। इस काल में वस्तुतः वे ही हरिश्चन्द्र-युग के सच्चे और एकमात्र प्रतिनिधि थे। न तो उन्होंने रीतिकालीन शृंगारिकता को छोड़ा और न ब्रज-भाषा को ही। खड़ीबोली के महावात से विचलित पं० श्रीधर पाठक, हरिऔधजी,

गुप्तजी, तथा पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा जैसे ब्रजभाषा के अनेक उपासक अब खड़ीबोली में कविता करने लगे थे, परन्तु नवीनता के इस अग्रगामी युग में भी रत्नाकरजी उसी तल्लीनता से ब्रजभाषा-साहित्य के शृंगार में रत थे ।

अनेक वर्षों तक कवि-कर्म से अलग रहकर सन् १९२२ के लगभग जब रत्नाकरजी ने हिन्दी-साहित्य में पुनः पदार्पण किया, तब खड़ीबोली कविता के क्षेत्र में ब्रजभाषा को आक्रान्त करती हुई उसके गौरव को छीनती जा रही थी । किन्तु ब्रजभाषा की नैसर्गिक माधुरी की तुलना में खड़ी बोली की कविता रत्नाकरजी को 'ताल तुक हीन' ही प्रतीत हुई ।

द्विवेदीजी के 'सरस्वती' से अवकाश ग्रहण कर लेने पर इस युग की समाप्ति और छायावाद के उस युग का आरम्भ होता है जिसका नेतृत्व श्री जयशङ्कर प्रसाद तथा श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने किया । प्रसादजी के छायावाद को आगे चल कर पन्त, महादेवी, रामकुमार वर्मा इत्यादि ने अपने-अपने ढंग से अपनाया, तथा चतुर्वेदीजी की शैली ने सर्वश्री भगवतीचरण वर्मा, नेपाली, बच्चन प्रभृति को प्रेरणा दी ।

छायावादी कवि अन्तर्मुखी साधना के पुजारी थे । पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क में आने से भारतीय जीवन में स्वच्छन्द विचारों का समावेश हो चला था । विचारों की इस स्वच्छन्दता ने जिस उन्मुक्त प्रेम के प्रति आकर्षण उत्पन्न किया, उसे भारतीय सामाजिक-जीवन में संवर्द्धना न मिली । भारतीय वैवाहिक जीवन की सुदृढ़ चट्टान से टकराकर स्वच्छन्द प्रेम की लहरों को बलात् प्रत्यावर्तन करना पड़ता था । द्विवेदीयुगीन नैतिकता से सहमकर स्वच्छन्द प्रेम की भावना हृदय में ही मचल-मचल कर रह जाती थी; फलतः ऐसे प्रेम की बाह्याभिव्यक्ति के लिए अवसर और वातावरण का एकान्त अभाव था । परिस्थिति की इसी विषमता ने तत्कालीन कवियों की मनोवृत्ति को यथार्थ एवं स्थूल से विरत करके सूक्ष्म एवं अमेय आलम्बन की ओर उन्मुख कर दिया । 'प्रसाद' के परोक्ष प्रेम में, 'पन्त' के प्रकृति प्रेम में, 'निराला' की दार्शनिक व्यञ्जना में और महादेवी के रहस्यमय 'प्रणय' में यही मनोवृत्ति छायावाद की विविधताओं से सम्पृक्त होकर अभिव्यक्त हुई है ।

द्विवेदी-युग में खड़ीबोली व्याकरण-सम्मत तथा शुद्ध साहित्यिक भाषा बन चुकी थी । भावों के अनुकूल छन्दों का चुनाव, तथा कतिपय पुराने छन्दों के सम्मिश्रण से नवीन छन्दों का सृजन भी उसी युग में होने लगा था । छायावादी युग की लाक्षणिकता से सम्पन्न होकर खड़ी बोली पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सशक्त हो गयी थी, फलतः उसका भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल दिखायी देने लगा ।

छायावादी युग के कवियों ने छन्द के बन्धनों को तोड़ना प्रारम्भ किया । उनकी

सम्मति में छन्द का प्रतिबन्ध भावाभिव्यञ्जना में व्याघात उपस्थित करता था, अतः 'पन्त' जैसे कवियों ने 'पल्लव' की भूमिका में कवित्त-सवैया छन्दों को नवीन हिन्दी कविता के लिए अनुपयुक्त ठहराया। कुछ कवियों ने अंग्रेजी के 'ब्लैंक वर्स' के अनुकरण पर अनुकान्त छन्द भी लिखे। अंग्रेजी से बंगला में, तथा बंगला के अनुकरण पर हिन्दी में मुक्तछन्द का प्रयोग इसी युग में प्रारम्भ होता है।

अपने युग के साहित्य की गतिविधि पर रत्नाकरजी का पूर्ण ध्यान था। वे जानते थे कि आज नहीं तो कल खड़ीबोली ही राष्ट्र-भाषा के गौरवपूर्ण-पद पर आसीन होगी, परन्तु खड़ी बोली की वेदी पर ब्रजभाषा का बलिदान उन्हें सह्य न था। सन् १९२२ में बीसवें अखिल-भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति-पद से उन्होंने जो भाषण दिया था, उसमें उन्होंने अपने दृष्टिकोण तथा अपने युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों का इस प्रकार उल्लेख किया है :—

“इस बात को स्पष्ट शब्दों में कहते हुए मुझे किंचित भी संकोच नहीं होता कि मैं ब्रजभाषा का पूर्ण पक्षपाती और समर्थक हूँ। उसकी कविता में मुझे जो आनन्द मिलता है वह अकथनीय है और बहुत ढूँढ़ने पर भी वह मुझे दूसरी जगह नहीं मिलता। पर इस का यह तात्पर्य नहीं कि मैं खड़ीबोली की कविता का विरोधी हूँ। थोड़ी देर के लिए यदि यह मान लिया जाय कि मैं खड़ीबोली की कविता का विरोधी हूँ—यद्यपि इस कथन में सत्यता नाममात्र को भी नहीं है,—तो भी मेरे या मेरे-ऐसे दस-बीस आदमियों के विरोध से जो भवितव्य है वह टल नहीं सकता। यह स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है कि भविष्य में इस कविता का ही सौभाग्योदय होने वाला है। जगन्नियन्ता जगदीश्वर ने हमारे भविष्य जीवन के लिए जो पथ निर्धारित कर दिया है उसी पर हमको चलना पड़ेगा और उसी में हमारा कल्याण भी है। पर क्या नए भवनों के निर्माण के लिए यह अनिवार्य है कि पुराने प्रासाद सर्वथा ढहा ही दिये जायें।”^१

रत्नाकरजी अपने समय की आवश्यकताओं को भली भाँति जानते थे। उनका दृष्टिकोण भी यही था कि हिन्दी साहित्य के गद्य और पद्य की भाषा एक ही होनी चाहिए। वे खड़ीबोली को हिन्दी का विकसित रूप समझते थे, परन्तु नवीनता की धुन में उन्हें ब्रजभाषा के उस साहित्य की उपेक्षा सह्य न थी, जो तुलसी और सूर जैसे महाकवियों द्वारा गौरवान्वित किया गया था। सन् १९२२ में उन्होंने तत्कालीन इसी मनोवृत्ति की ओर संकेत करते हुए कहा था :—

“खड़ीबोली के गद्य-पद्य के सम्बन्ध में अपने विचार संक्षेपतः निवेदित करके अब मैं ब्रजभाषा के विषय में कुछ कहना चाहता हूँ । जहाँ एक और सर्वतोमुखी उन्नति हो रही है वहाँ दूसरी ओर हमारी ब्रजभाषा का क्षेत्र क्रमशः संकुचित होता जा रहा है । जो भाषा एक समय हिन्दी काव्य का प्रधान क्रीड़ाक्षेत्र और सर्वमान्य थी उसी की ओर से आज हमारे नवयुवक कविगण उदासीन से हो रहे हैं । जो अनेक उच्चकोटि के ग्रंथ-रत्नों की जननी थी उसी के गौरव को नष्ट करने का आज जहाँ-तहाँ प्रयत्न देख पड़ता है । इसके कई कारण हैं । इस समय हमारे देश ही में नहीं बरन् समस्त संसार में सर्वतोमुखी क्रांति की उद्भावन हो रही है । इस क्रांति का उद्देश्य प्राचीनता के विरुद्ध चाहे वह साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक हो एक घोर आंदोलन खड़ा करना है । हिन्दी में भी इस क्रांति की लहर उठ खड़ी हुई है । यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है । यह तो अवश्यम्भावी है । संसार में कोई भी नियम, नियन्त्रण, प्रथा, रीति, व्यवहार और दशा सदैव एक-सी नहीं रहती चाहे वह किसी समय उपयोगी और स्तुत्य क्यों न रही हो । इस जगत का मुख्य लक्षण ही परिवर्तनशीलता है । सदा कोई बात एक-सी नहीं रहती, उसमें परिवर्तन होता रहता है, जिसे वैज्ञानिक लोग ‘विकास’ का नाम देते हैं । इस परिवर्तन या विकास के मूल में संजीवनी शक्ति का संचय और संचार है । यदि हम भारत-वर्ष के भाषा संबन्धी इतिहास पर ध्यान देते हैं तो अत्यन्त प्राचीनकाल से इस परिवर्तन-शीलता के चिह्न पाते हैं । मूल भाषा, वैदिक भाषा, संस्कृत भाषा पालि भाषा भिन्न-भिन्न प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं और आधुनिक देश भाषाओं का इतिहास इस बात को स्पष्ट कर देता है कि कैसे एक से दूसरी में परिवर्तन हुआ है । पर क्रांति और विकास में कुछ भेद है । क्रांति सहसा होती है और प्रतिष्ठित पद्धति को समूल नष्ट कर देती है विकास क्रमशः होता है और पुरानी नींव पर नया प्रासाद खड़ा करने का उद्योग करता है । एक विनाशोन्मुख है तो दूसरा विधानोन्मुख । हिन्दी के पद्य साहित्य में इस समय जो उथल-पुथल देख पड़ता है वह क्रांतिकारी है, विकासोन्मुख नहीं । जैसा कि अभी संकेत कर चुका हूँ, क्रांति में सब बातों के नष्ट हो जाने की आशंका रहती है । मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि हमारी भाषा के इस दौड़ादौड़ में कहीं ऐसा न हो कि शताब्दियों के साहित्यिक परिशीलन से हमने ब्रजभाषा या अवधी में जो मधुरता, प्रसाद, ओजस्विता आदि गुणों का संग्रह किया है, तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में प्रकट करने की शक्ति का जो सम्पादन किया है, उसे हम क्रांति के आवेश में आकर सर्वथा नष्ट कर दें और अपनी पद्य की भाषा को पुनः आरम्भ से योग्यता प्राप्त करने की ओर उन्मुख करें । जब खड़ीबोली के पक्षपाती कवियों को अपने प्राचीन साहित्य अर्थात् ब्रजभाषा की उपेक्षा करते, उसे हीन दीन तथा सर्वथा घृणित बताते हुए देखता

हूँ तो मुझे आंतरिक व्यथा होती है। इस सैकड़ों वर्ष के पुराने साहित्य के प्रति यह व्यवहार न होना चाहिए। जिस साहित्य ने आपको जीवनदान दिया है, आपको शक्ति-संपन्न किया है, विषम परिस्थितियों में आपकी सहायता की है और संकट के समय आपका उद्धार किया है, उसके प्रति आपको कृतज्ञ होना चाहिए और उसके भंडार को सदासर्वदा के लिए रक्षित रखने का दृढ़ उद्योग करना चाहिए। आज प्राचीन साहित्य में ऐसे-ऐसे ग्रंथ विद्यमान हैं जो केवल हिन्दी साहित्य ही के नहीं प्रत्युत वाङ्मय-मात्र के भूषण कहे जा सकते हैं महात्मा सूरदास और तुलसीदास प्रभृति कवियों को अपना कर कोई देश अपने को धन्य मान सकता है। यदि इन महात्माओं की कृतियाँ हिन्दी साहित्य से निकाल दी जायें तो फिर उसमें गौरव की वस्तु ही क्या रह जाती है। अन्य देशों में भी प्राचीन साहित्य का अर्वाचीन साहित्य से कहीं अधिक आदर होता है। चाँसर और फिरदौसी अवज्ञा के नहीं अपितु पूजा के पात्र समझे जाते हैं।”^१

कानपुर के प्रथम अखिल-भारतीय कवि-सम्मेलन के प्रधान सभापति के पद से रत्नाकरजी ने सन् १९२५ में जो भाषण दिया था, उसमें भी उन्होंने खड़ीबोली की उन्नति पर प्रसन्नता, परन्तु ब्रजभाषा की उपेक्षा पर खेद प्रकट किया था। हरिश्चन्द्र-काल से लेकर अपने समय तक की ब्रजभाषा और खड़ीबोली की कविताओं पर संक्षेप में विचार करते हुए उन्होंने कहा था:—

“ब्रजभाषा कविता का ह्रास होने पर और खड़ीबोली में कविता की जाने की आवश्यकता समझकर कुछ लोगों ने उसमें भी अपनी प्रतिभा का परिचय देना आरम्भ किया। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी ने भी कुछ छंद उक्त भाषा में लावनी के नाम से लिखे थे। उनके ऐसे छंद ‘फूलों का गुच्छा’ तथा ‘विनय प्रेम पचासा’ नामक ग्रंथों में पाए जाते हैं। आरंभिक दशा में ऐसी रचनाओं में उर्दू की झलक विशेष रहती थी। पर ज्यों-ज्यों खड़ीबोली के गद्य में संस्कृत शब्दों का अधिकाधिक सन्निवेश होने लगा, त्यों-त्यों उसके पद्य का भी रंग बदलने लगा। संप्रति उसके गद्य तथा पद्य में बहुत ही न्यून भाषांतर दिखाई देता है। पर खेद का विषय है कि खड़ीबोली में कविता करने के नवीन उत्साहियों ने ब्रजभाषा में कविता करना ही नहीं, प्रत्युत उसके ग्रंथों का पठन-पाठन भी त्याग दिया। फल यह हुआ कि वे उस साहित्यिक सामग्री से, जो उसमें प्राचीन कवियों ने बड़े श्रम से संचित की थी, वंचित रहे। जो हो, यह कम हर्ष की बात नहीं कि खड़ीबोली के आरंभिक कवियों ने उसकी एक नई ही प्रणाली स्थापित करके उसमें थोड़े ही दिनों में इतनी उन्नति कर दिखाई। इसका मुख्य कारण यह है कि उसकी ओर कॉलेजों

में शिक्षा प्राप्त लब्धप्रतिष्ठ सज्जनों का भी ध्यान आकर्षित हुआ जिनमें शिक्षा तथा अभ्यास ही से औचित्य विचार की शक्ति विकसित हो जाती है। इस विचारशीलता ही का यह परिणाम हुआ कि कुछ दिनों से जब उनका ध्यान ब्रजभाषा की माधुरी, साहित्य-संपन्नता तथा काव्योत्कर्षता की ओर आकर्षित किया गया, तो वे उसके पठन-पाठन की ओर ध्यान देने लगे, और अनेक हिंदी साहित्य सम्मेलनों के साथ तथा विद्यालयों में प्रति वर्ष जो कवि सम्मेलन होने लगे, उनमें ब्रजभाषा की कविता को भी प्रतिष्ठा प्रदान की जाने लगी, जिससे उसके फिर जीवित जाग्रत रहने की आशा हो गई है।

ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली के पारस्परिक संबंध तथा श्रेष्ठता के तारतम्य की मीमांसा की इस भाषण में समाई नहीं। पर इतना यहां संक्षेप में कह देना अनवसर न होगा कि ब्रजभाषा की माधुरी सर्वथा निर्विवाद तथा चिरस्वीकृत है, और उसका साहित्य भंडार अति विस्तृत तथा पर्याप्त।”^१

भिन्नतुकान्त, अतुकान्त, मुक्तछन्द, अथवा स्वच्छन्द छन्द लिखने की जो प्रथा उनके युग में प्रारम्भ हुई थी, वह उन्हें प्रिय नहीं थी। छन्दों की कारीगरी एवं संगीतात्मकता में व अद्वितीय थे, अतः उन्हें इस प्रकार की कविता पसन्द भी कैसे आ सकती थी, तथापि उन्होंने इस शैली की कदर्थना प्रायः नहीं की है। संस्कृत की अतुकान्त कविताओं तथा अंग्रेजी की ‘ब्लैक वर्स’ से भी वे भली भाँति परिचित थे। वे यह जानते थे कि विभिन्न भाषाओं में दीर्घकाल से अतुकान्त कविता होती आयी है, अतः वे इस प्रथा को निन्दनीय नहीं समझते थे, परन्तु छन्दों के सम्बन्ध में मनमानी करना अथवा उनकी लय में विकृति उत्पन्न करना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। बीसवें अखिल-भारतवर्षीय साहित्य सम्मेलन में उन्होंने कहा था :—

“मेरी समझ में छन्दोबद्ध कविता के निमित्त छन्दों का सुशृंखल, सुढाल तथा नियमसंयुत एवं विषयानुकूल होना परमावश्यक है। छन्दों में मनमानी करने से उनकी लय में विकृति आ जाती है। यह विकृति हृदय की उस आशा को, जो एक चरण सुनकर लग जाती है, भंग कर देती है। यह बात आनन्दप्रद कदापि नहीं हो सकती। इसी कारण महाकाव्यों तथा अन्य प्रबन्ध काव्यों में प्रायः एक एक सर्ग एक ही एक प्रकार के छन्द में लिखे जाते हैं। इससे वाक्यों के बहाव में कुछ मौष्ठव आ जाता है, जो कि काव्यानन्द में सहायक होता है, क्योंकि चित्त एक प्रकार की लय और ध्वनि में, बिना वैपम्य झकोरों के, एक रस बहता चला जाता है। आजकल प्रायः पद्य लेखक अपने छन्दों में यथेच्छ मात्राओं

१. देखिए प्र० अ० भा० कवि सम्मेलन के प्रधान सभापति का भाषण, पृष्ठ

१५, १६ तथा १७।

अथवा वर्णों की भरती कर देते हैं और सब चरणों को बराबर रखना भी आवश्यक नहीं समझते। जो लोग चरणों में नियत संख्यक मात्रायें रखते भी हैं वे भी कभी कभी इस बात का विचार त्याग देते हैं कि उक्त संख्यक मात्रायें इस प्रकार से रखनी चाहियें कि छन्द की लय में त्रुटि न पड़ने पावे। छन्द की लय की त्रुटि तथा मात्राओं के न्यूनाधिक को आजकल के रचयिता छन्दों को गाकर संभाल लेना चाहते हैं। यह बात मेरी समझ में तो प्रशंसनीय नहीं।

अतुकान्त कविता का प्रणयन भी इधर खड़ी बोली में अधिकता से होने लगा है। यह प्रथा यद्यपि निंद्य नहीं तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यदि कवि से बन पड़े तो उसकी सतुकान्त कविता में कुछ अधिक आनन्द अवश्य होगा। संस्कृत में भी अधिकतर कविताये अतुकान्त ही हुई हैं। योरूप में भी 'ब्लैक वर्स' की धूम है। भारत की कई प्रांतीय भाषाओं में भी अतुकान्त कवितायें लिखी जाति हैं। इन सबके होते हुए भी यह कहना अनुचित न होगा कि सतुकान्त कविता में एक विशेष ही स्वारस्य है। फारसी तथा उर्दू में आरम्भ से अब तक सतुकान्त ही कविता होती चली आई है और यही बात ब्रजभाषा के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।^१

जिस कवि ने जीवनपर्यन्त कवित्त, सवैया, दोहा, रोला जैसे छन्दों में देव, बिहारी, पद्माकर इत्यादि के टक्कर की एक से एक सुन्दर रचनाएँ की हों, उसे छन्दों के सम्बन्ध में कामचार प्रवर्तन भला कसे सह्य हो सकता था? अतः कोई आश्चर्य नहीं कि उन्हें तत्कालीन नवीन कवियों की कविता "अंग भंग छबि छीन" दिखायी देती हो। सन् १९२२ ई० से लेकर सन् १९३२ ई० तक रत्नाकरजी अपने युग की प्राचीन एवं नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों में मंत्री स्थापित कराने में प्रयत्नशील से दिखायी देते हैं। मानो वे अपने पुराने संस्कारों एवं विचारों को यथाशक्ति नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों के सम्पर्क में लाकर समय के साथ चलने का प्रयत्न कर रहे हों। इस प्रयत्न में चाहे उन्हें अधिक सफलता न मिली हो, परन्तु अपने युग के साहित्य का भविष्य उन्हें स्पष्ट दिखायी दे रहा था। यही कारण है कि उनके भाषणों में नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों की निन्दा नहीं, प्रत्युत प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्यिक प्रवृत्तियों के समन्वय का ही स्वर सुनायी देता है। समालोचनादर्श में

“जात खड़ी बोली पैं कोऊ भयौ दिवानौ।

कोउ तुकांत बिन पद्य लिखन में है अखानो ॥”^२

१. द्रष्टव्य बीसवें अखिल भारतवर्षीय साहित्य सम्मेलन के सभापति का भाषण

२. समालोचनादर्श, पृष्ठ ६२

कहने वाला कवि सन् १९२२ में खड़ीबोली के कवियों की प्रशंसा, तथा सन् १९२६ की 'ओरिएण्टल कॉन्फ्रेंस' में खड़ी बोली को 'भारती भाषा' कहता हुआ दिखायी देता है।^१ समालोचनादर्श की उपर्युक्त पंक्तियों को लिखने वाला कवि ही सन् १९३०-३१ में खड़ीबोली के भी कुछ कवित्त लिखने लगता है।^२ जिस कवि ने कभी कहा था कि:--

“अनुप्रास-प्रतिबंध कठिन जिनके उर माहीं ,

त्यागि पद्य-प्रतिबंधहु लिखत गद्य क्यों नाहीं।”^३

उसी ने सन् १९२२ में यह कहा कि अतुकान्त कविता की प्रथा निन्द्य नहीं है, तथा अंग्रेजी, भारत की प्रांतीय भाषाओं तथा संस्कृत में भी पर्याप्त अतुकान्त कविताएँ हुई हैं। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि अपने युग की नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों के प्रभाव से रत्नाकरजी के विचारों में परिवर्तन हो चला था। अनुप्रास-प्रतिबन्ध के विरोधियों को पद्य छोड़कर गद्य लिखने की सम्मति प्रदान करने वाले रत्नाकरजी सन् १९२२ में पर्याप्त उदार प्रतीत होते हैं। अपने सन् '२२ के भाषण में उन्होंने कहा था :--

“कविता में अनुप्रास तथा वर्णमैत्री इत्यादि के लाने की जो निन्दा की जाती है वह इतने अंश में तो अवश्य उचित है कि अनुप्रासादि के लालच में पड़ कर कभी-कभी कविगण भाव-व्यंजक उचित शब्दों को तिलांजलि दे बैठते हैं। पर यदि कवि अपने भाव के अनुकूल शब्दों में अनुप्रास भी ला सके तो इसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि अनुप्रासों तथा रसानुकूल शब्दों के प्रयोग से कविता में बड़ा ही प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। कालिदास इत्यादि सभी उत्तम कवियों की कविताओं में उचित और रसानुकूल अनुप्रास देखने में आते हैं। श्री गोस्वामी तुलसीदासजी की कविता में अनुप्रास, वर्णमैत्री इत्यादि का प्रयोग बड़ी ही सुघरता तथा सफलता से हुआ है। खड़ी बोली के कवि भी किसी सानुप्रास शब्द के हाथ आ जाने पर उसके प्रयोग

1. “But now, that it has become a cultivated language, the name does not sound seemly for it. It is, therefore, advisable to call it now by some more expressive and dignified name. I would suggest the use of the term ‘Bharti Bhasha’ for the purpose.”

चौथी ओरिएण्टल कॉन्फ्रेंस के सभापति का भाषण, पृष्ठ ९

२. देखिए का० ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित 'रत्नाकर' पृष्ठ ५६३, ५६४, ५७२। छन्द संख्या क्रमशः २६ तथा ४९।

३. समालोचनादर्श, पृष्ठ ६२

से नहीं चूकते ।”^१

रत्नाकरजी पर अपने युग की छायावादी प्रवृत्ति का प्रभाव नहीं पड़ा था । तत्कालीन छायावादी कविता में उन्हें एक विचित्र अस्पष्टता तथा शब्दाडम्बर दिखायी देता था । पं० पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन, पं० श्रीधर पाठक, श्री नवनीत चतुर्वेदी पं० रामचन्द्र शुक्ल इत्यादि अपने युग के अन्य साहित्यिक प्रहरियों की भाँति रत्नाकर जी भी छायावाद की दुर्बोधता से क्षुब्ध थे । छायावादी कविता की ओर संकेत करते हुए उन्होंने एक बार कहा था कि :—

“विषय अथवा भाव चाहे जो हों, उनको वाक्य द्वारा प्रकाशित करने में वक्ता को इस बात पर अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि उसका कथन उस भाषा के जानने वाले समझ लें । काव्य सुगम बनानेवाले ही गुण को संस्कृत साहित्यकारों ने प्रसाद गुण कहा है इस गुण की सत्ता का कुछ वाक्य में ही नहीं, प्रत्युत अन्य प्रकार के वाक्यों में भी होना आवश्यक है । जिस प्रकार के काव्य में माधुर्य अथवा ओजगुण वांछनीय है, उसमें भी प्रसाद गुण का होना आवश्यक है । कविता भावों को प्रदर्शित करने के अभिप्राय से लिखी जाती है, न कि उनको शब्दाडम्बर के पटल में छिपाने के लिए । पर खेद का विषय है कि इस युग के अधिकतर नवीन कविगण अपने गम्भीर भावों को सरलता से बोधगम्य न होने देने ही में अपनी प्रतिष्ठा मानते हैं । यह बात हमारी समझ में कदापि वांछनीय नहीं ।”^२

रत्नाकरजी ने कहीं-कहीं अमूर्त उपमानों का भी प्रयोग किया है, परन्तु फिर भी उनकी कविता में शब्दाडम्बर तथा उससे उत्पन्न होने वाली दुर्बोधता नहीं आने पायी है । उदाहरणार्थ यह कवित्त द्रष्टव्य :—

“भूले जोग-छेम प्रेम-नेमहि निहारि ऊधौ ,
सकुचि सभाने उर-अंतर हरास लौं ।
कहे रतनाकर प्रभाव सब ऊने भए ,
सूने भए नैन बैन अरथ-उदास लौं ॥
मांगी बिदा मांगत ज्यों मीच उर भीचि कोऊ
कीन्यौ मौन गौन निज हिय के हुलास लौं ।
बिथकित साँस लौं चलत रुकि जात फेरि
आँस लौं गिरत पुनि उठत उसास लौं ॥”^३

१. बीसवें अ० भा० हिं० सा० स० के सभापति का भाषण, पृष्ठ ३५

२. वही पृष्ठ २९

३. उद्धवशतक पृष्ठ १८६-८७, छन्द संख्या १०४ ।

छायावादी कवियों की शैली में अमूर्त उपमाओं से समवेत मार्मिक उक्तियाँ प्रायः परिलक्षित होती हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि रत्नाकरजी छायावादी शैली से प्रभावित थे ।

रत्नाकरजी छायावाद की नहीं, उसकी अस्पष्टता की कदर्थना करते थे । सुन्दर भाव तथा उनके व्यक्तीकरण के अनूठे ढंग का वे सर्वत्र आदर करते थे तथा उन्हें अपन ढंग पर अपना लेने में भी उन्हें कोई दुविधा न होती थी । हिन्दी की प्रारम्भिक छायावादी कविता में सुन्दर भावाभिव्यंजना की अपेक्षा अस्पष्टता ही अधिक थी । इधर रत्नाकरजी कवि-कर्म में भावों की स्पष्टता को शीर्ष प्राथमिकता प्रदान करते थे । उनकी यह दृढ़ मान्यता थी कि :—

“यदि किसी का लिखा पाठकों की समझ में न आया तो उसका श्रम वृथा और दूसरों का समयनाशक मात्र है । यदि उसके हृदय में कोई अलौकिक भावना उत्पन्न हो, जिसको कि वह शब्दों द्वारा व्यक्त न कर सके तो उसके लिए तो यही उचित होगा कि वह उस भावना का आनन्द गूंगे के गुड़ की भाँति चुपचाप मन ही मन ले ले ।”^१

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि रत्नाकरजी पर छायावादी युग का कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा था । हां, द्विवेदी-युग तथा हरिश्चन्द्र-युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों से वे न्यूनाधिक रूप में अवश्य प्रभावित थे । देशभक्ति एवं समाज-सुधार सम्बन्धी उनकी कविताएँ द्विवेदी-युग की ही सामान्य साहित्यिक प्रवृत्तियों को इंगित करती हैं । जीवनपर्यन्त ब्रजभाषा-शृंगार में एकनिष्ठ रहने पर भी द्विवेदी-युग से प्रभावित होकर उन्होंने खड़ीबोली के भी दो-तीन कवित्त लिखे ही थे । हरिश्चन्द्र-युग के तो वे अन्तिम प्रतिनिधि ही थे । अपने युग के बुद्धिवादी दृष्टिकोण से रीतिकालीन काव्यकला का परिष्कार करके, उन्होंने अपने काव्य को जो हृदयहारी रूप प्रदान किया, वह सदैव उन का स्मरण कराता रहेगा ।

तृतीय अध्याय



रत्नाकर का साहित्यिक मण्डल

काशी-कवि-समाज

जिस प्रकार भारतेन्दु जी न काव्योन्नति के लिए 'कवितावर्द्धिनी सभा' जैसे कतिपय कवि-समाज स्थापित किये थे, उसी प्रकार कुछ उत्साही कविता-प्रेमियों के प्रयत्न से रत्नाकरजी के समय में भी काशी-कवि-समाज की स्थापना हुई। भारतेन्दु जी के कवि-समाजों के समान इस कवि-समाज में भी समस्यापूर्तियों द्वारा कवियों को उत्साहित किया जाता था। काशी-कवि-समाज की स्थापना कांकरीली नरेश श्री बालकृष्णलाल तथा गोस्वामी जीवनलाल के प्रयत्न से हुई थी। काशी का गोपाल मन्दिर वल्लभ सम्प्रदाय का प्रसिद्ध मन्दिर है। गोस्वामी जीवनलाल उस समय इस मन्दिर के अधिष्ठा-यक थे। उन्हें साहित्य एवं संगीत दोनों से बड़ा प्रेम था। ब्रजभाषा-कविता के भक्त होने के कारण उन्होंने पं० अम्बिकादत्त व्यास, बा० रामकृष्ण वर्मा तथा रत्नाकरजी के सहयोग से संवत् १९५० में काशी-कवि-समाज की स्थापना की। कांकरीली नरेश बालकृष्णलाल जी भी ब्रजभाषा-कविता के अनन्योपासक थे। वे इस समाज में श्रेष्ठ समस्या पूर्तियों पर पुरस्कार भी प्रदान करते थे। कांकरीली नरेश की प्रेरणा से ही गोस्वामी जीवनलाल इस समाज की स्थापना में प्रयत्नशील हुए थे।

गोपाल मन्दिर का यह कवि-समाज वस्तुतः बहुत पुराना था। भारतेन्दु बाबू ने जो कवि-समाज स्थापित किया था, उसे ही उनकी मृत्यु के पश्चात्, पं० अम्बिकादत्त व्यास तथा बाबू रामकृष्ण वर्मा उत्साह से चला रहे थे। इसके अनेक अधिवेशन गोपाल मन्दिर में हो चुके थे, परन्तु गोस्वामी जीवनलाल के कार्यवश काशी से बाहर चले जाने से कुछ समय के लिये अधिवेशन होने बन्द हो गये। गोस्वामी जी जब पुनः लौट कर काशी आये सब कांकरीली नरेश की प्रेरणा से इस कवि-समाज को पुनः प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार संवत् १९५० में उसी पुराने कवि-समाज को पुनर्जीवन प्रदान किया गया जो भारतेन्दु जी के निधन के पश्चात् बाबू रामकृष्ण वर्मा और पं० अम्बिकादत्त व्यास द्वारा सञ्चालित हो रहा था।

रत्नाकर जी इस कवि-समाज के अधिवेशनों में बड़े उत्साह से भाग लेते थे। हर पन्द्रहवें दिन अधिवेशन होता था। कवियों को पहले ही से समस्याएँ दे दी

जाती थीं, तथा उनकी पूर्तियाँ इन अधिवेशनों में पढ़ी जाती थीं । पुरस्कार—प्राप्ति की आशा से भी बहुत से कवि अपनी पूर्तियाँ पढ़ा करते थे, परन्तु कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्होंने पुरस्कार लेना स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर दिया था । रत्नाकरजी ऐसे ही व्यक्तियों में थे । सच तो यह है कि उन्होंने धन के लालच से कभी कविता की ही नहीं । वे सम्पन्न व्यक्ति थे, अतः सामान्य कवियों के समान उन्हें धन की वैसी आवश्यकता भी न थी ।

काशी-कवि-समाज का रत्नाकरजी के कवि-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसी कवि-समाज ने उनकी कारयित्री प्रतिभा को उद्दीप्त किया था । रत्नाकरजी इस समय २७ वर्ष के थे । वे बी० ए० पास कर चुके थे, परन्तु अभी तक उनका कोई काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ था । उनके वास्तविक कवि-जीवन का प्रारम्भ इसी कवि-समाज की समस्या-पूर्तियों से होता है ।

इसके अधिवेशनों में काशी के स्थानीय कवि ही नहीं, अपितु बाहर के भी अनेक कवि अपनी-अपनी पूर्तियाँ भेजा करते थे । ऐसे कवियों में कविराज लछिराम, ठाकुर रामेश्वरबक्स सिंह, श्रीमती चन्द्रकला बाई, बाबा सुमेरसिंह, बाबू शिवनन्दन सहाय इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं । स्थानीय कवियों में बाबू रामकृष्ण वर्मा, पं० अम्बिकादान व्यास, बेनी द्विज, ब्रजचन्द्रजी वल्लभीय, अयोध्यानाथ अवधेश, माधो कवि, नकछेदी त्रिपाठी, गोपीनाथ, अम्बाशङ्कर व्यास, इत्यादि मुख्य थे । मथुरा निवासी नवनीत चौबे, स्वर्गीय पद्माकर जी के पौत्र श्री सुधाकर, बचऊ चौबे, बाबू मन्मथलाल, बाबू जगन्नाथ प्रसाद वर्धा (मध्य प्रदेश), भगवान्प्रसाद मिश्र छत्रीले, श्री ठाकुर जगमोहनसिंह साहब बहादुर सी० आई० ई०, भरतपुर के राव साहब श्रीकृष्ण देवशरणासिंह, पं० हनुमान त्रिपाठी इत्यादि भी अधिवेशनों में सक्रिय सहयोग प्रदान करते थे ।

इस समाज द्वारा रत्नाकरजी को अपने समय के अनेक प्रसिद्ध कवियों के निकट सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हुआ । इनमें से कुछ कवि ऐसे भी थे जिनका रत्नाकर जी के कवि-जीवन पर प्रभाव पड़ा था । श्री नवनीतलाल चतुर्वेदी तो इनके काव्य गुरु ही कहे जाते हैं । उनकी प्रारम्भिक रचनाओं पर चतुर्वेदीजी का थोड़ा-बहुत प्रभाव भी अवश्य है । उदाहरणार्थ उपर्युक्त कवि समाज के चौथे अधिवेशन में दी हुई समस्याओं में से एक समस्या की कुछ पूर्तियाँ द्रष्टव्य हैं । समस्या थी, 'जीवन मोर'—

नवनीतजी ने इस समस्या की ये पूर्तियाँ की थीं :—

(क) "वह व्रजराज संवलिया नन्दकिशोर
जीवन जीवन माही जीवन मोर"
तथा

(ख) जीवन जीवन माही जीवन मोर
जीवन जीवन जानत जीवन मोर”^१

अब ब्रजभाषा के स्वाभाविक माधुर्य से ओतप्रोत रत्नाकरजी की ये पूर्तियाँ भी देख लीजिए :—

(क) “नव नीरव-दामिनि-दुति जुगल-किसोर ।
पेखि मुदित मन नाचत जीवन मोर ॥

(ख) ब्रज - जीवन - जीवन सो जीवन मोर ।
ब्रज जीवन जीवन सो जीवन मोर ॥

(ग) पिय पियान की बतियाँ सुनि सखि भोर ।
आँस नहीं दृग आवत जीवन मोर ॥”^२

अन्य कवियों ने इस समस्या की जो पूर्तियाँ की थीं, उनसे रत्नाकरजी तथा नवनीतजी की पूर्तियाँ कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। इन दोनों की पूर्तियों में भाषा एवं भावों का पर्याप्त साम्य भी दृष्टिगोचर होता है, परन्तु अन्य कवियों की रचनाओं से इनकी पूर्तियाँ सर्वथा स्वतन्त्र एवं प्रौढ़ हैं। इस अधिवेशन में भाग लेने वाले कतिपय अन्य कवियों की पूर्तियाँ भी इस कथन के प्रमाण स्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं :—

अम्बा शङ्कर व्यास

“चितवन के चितिए तें चित गो चोर ।
सजनी वही संवलिया जीवन मोर ॥”^३

बचऊ चौबे

“पीतम मुख अनुहरिया ननदी तोर ।
धीरज देख कलेजे जीवन मोर ॥”^४

माधो दास

“मारेस करद करेजवा चितवन तोर ।
भैगइ अधर मिटैआ जीवन मोर ॥”^५

१. समस्यापूर्ति भाग १, पृष्ठ ३१

२. (क) (ख) (ग) प्रकीर्ण पद्यावली, पृष्ठ ५९१, छन्द संख्या ११, १२, १३

३. समस्यापूर्ति प्रथम भाग, पृष्ठ ३०

४-५. वही, पृष्ठ ३०-३१

गंगा प्रसाद

“ऊधो सन सब ब्रज सखी कह कर जोर ।

ध्रुव करि नहि बिनु स्याम के जीवन मोर ॥”^१

उपर्युक्त समस्या पूर्तियाँ रत्नाकरजी की प्रारम्भिक रचनाएँ हैं, परन्तु फिर भी उनकी इन कविताओं में किसी प्रकार की शिथिलता दृष्टिगोचर नहीं होती। क्या भाषा, क्या अलंकार-सौष्ठव, तथा क्या भाव-व्यंजना, सभी दृष्टियों से उनकी पूर्तियाँ उत्कृष्ट हैं। उनकी तुलना में अन्य कवियों की पूर्तियाँ फीकी प्रतीत होती हैं। नवनीतजी का उन पर प्रभाव चाहे हो, परन्तु उनकी पूर्तियाँ नवनीतजी से भी कहीं पीछे नहीं हैं।

कहीं-कहीं तो रत्नाकरजी नवनीतजी से भी बाजी मार ले गये हैं। उदाहरणार्थ काशी-कवि-समाज के बारहवें अधिवेशन में दी हुई एक समस्या की निम्नोक्त पूर्ति द्रष्टव्य हैं। समस्या थी “बाजत ये मदन महीप के नगारे हैं।” नवनीतजी ने इसकी यह पूर्ति की थी :—

“किड़ किड़ान धान धिति किटधिति धान धान
तत्तड़ान तत्तड़ान करत पुकारे हैं
कहें नवनीत चोप चपल चमकन की ,
अर रररर कड़ां गरज हकारे हैं
धूं धूं किट धूं धूं किट धमकत धाम धाम ,
धसकत प्रान बिरहीन के बिचारे हैं
ग्रीष्म गनीम जाकौ दखल उठायो आज
बाजत ये मदन महीप के नगारे हैं ॥”^२

इसी समस्या पर रत्नाकरजी की पूर्ति यह है :—

“आए चहुँ ओर तैं घुमंडि घनघोर घेरि ,
टक्करनि लेत ज्यों मतंग मतवारे हैं ।
कहत रतनाकर धराधर अकास धरा ,
एकमेक ह्वै कै धूमधार-रंग धारे हैं ॥
कत्तड़ान बड़ान घड़ान घेड़ैन घेड़ैन-घेड़ैनान ,
धधकतान धधकतान धधकतान वारे हैं ।

१. समस्यापूर्ति प्रथम भाग, पृष्ठ ३१

२. वही, पृष्ठ १२१

मनसा-महान-बिस्व-बिजय-बिधान आनि ,
बाजत ये मदन-महीप के नगारे है ॥”^१

नवनीतजी तथा रत्नाकरजी दोनों ही ने अपनी-अपनी पूर्तियों में मृदंग के कुछ बोलों का प्रयोग करके अर्थ-ध्वनन द्वारा बादलों की गड़गड़ाहट को साकार करने का प्रयत्न किया है। परन्तु रत्नाकरजी की पूर्ति में, जो संगीतात्मक प्रवाह है, वह नवनीतजी की पूर्ति में दृष्टिगोचर नहीं होता। रत्नाकरजी ने मृदंग के बोल भी बड़े कलात्मक चुने हैं, तथा अपने कवित्त की लय में उन बोलों की लयकारी को भी खूब निभाया है। नवनीतजी मृदंग की परन से ही अपने कवित्त की उठाना करते हैं, परन्तु उनकी परन में वैसा संगीतात्मक प्रवाह नहीं है। आकाशमण्डल में घुमड़कर छा जानेवाली घटा को परस्पर टकराते हुए मतवाले काले हाथियों की उपमा देकर, तथा वर्षा के इस दृश्य में पृथ्वी और आकाश के एकाकार हो जाने का दृश्य उपस्थित करके उन्होंने वर्षा के इस चित्र को अतीव सजीव बना दिया है। निश्चय ही नवनीतजी की पूर्ति में यह बात नहीं आ सकी है।

काशी-कवि-समाज में भाग लेने वाले प्रायः सभी कवि ऐसे थे जो रीतिकालीन राग-रसिकता को अपनाये हुए थे। इस कवि-समाज द्वारा जो समस्याएँ दी जाती थी, वे भी प्रायः ऐसी ही थीं जो स्थूल शृंगारपरक रचनाओं के लिए अधिक उपयुक्त होती थीं। रीतिकाल, तथा भारतेन्दु-युग के कुछ कवि, चलते चलाते नायिका-भेद आदि जो काव्य विषय अपने साहित्यिक उत्तराधिकारियों को सौंप गये थे, उन्हीं पुराने विषयों पर रत्नाकरजी के समय में भी काव्य-रचना हो रही थी। यद्यपि उस युग में नवीन विचारों का सूत्रपात हो चला था, परन्तु ये विचार काव्य में अधिक न आ सके थे। इस युग के कवियों का आलिंगन, चुम्बन, सुरति, विपरीत रति, रोमांच, स्वकीया, परिकीया, नख-शिख इत्यादि से मोह बना हुआ था। ऐसे ही वातावरण में रत्नाकरजी की प्रतिभा का विकास हो रहा था। अपनी बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था में हरिश्चन्द्रजी की साहित्यिक मण्डली में बैठने वाले तथा सरदार, सेवक, हनुमान, नारायण जैसे कवियों के संसर्ग में रहकर ब्रजकाव्य-परम्परा का अध्ययन करने वाले रत्नाकरजी, यौवनावस्था में काशी के उपर्युक्त कवि-समाज में काव्य-रचना का अभ्यास कर रहे थे। तत्कालीन कवियों की अभिरुचि एवं रत्नाकरजी की यौवनावस्था ने उनकी शृंगारिक मनोवृत्ति को पर्याप्त उद्दीप्त कर दिया था। काशी-कवि-समाज की अनेक समस्याएँ, तथा रत्नाकरजी एवं तत्कालीन कवियों द्वारा की हुई उनकी पूर्तियाँ इस कथन के प्रमाण स्वरूप उपस्थित की

जा सकते हैं। उदाहरणार्थ काशी-कवि-समाज के चौथे अधिवेशन में दी हुई निम्न-लिखित दो समस्याएँ लीजिए :—

(क) “अरुण उदै की कंज कली सी लसति है”

(ख) “बाजन बजन ये अनूप नूपुरन की”

प्रथम समस्या की कुछ पूर्तियाँ ये हैं :—

बचऊ चीबे रसीले

“भई सब भांति बदनाम ब्रज मंडल तू
खोय धोय लाज चुकी या में ना असति है ।
कहत रसीले पीक लपटी कपोलन पे
टूटि हिय हार मोती भूमि में खसति है ।
जानी रैन जागी अनुरागी प्रेम पागी कहूं
भोर भकुवानी अंगराई लै हंतति है ।
अधमुदी अंखियां उनीदी ये खुमारी भरी
अरुण उदै की कंज कली सी लसति है ।”^१

गोपीनाथ

“छतियां छत्रीली दिन रतियां बढन लागी
बतियां सलोनी सखियान तें रसति है ।
छत्र रही नितम्बन कौं पीनता कछूक तातें
पूरन मधूरताई बैननि बसति है ॥
गोपीनाथ मदन सदन कियो याको अंग
अंग अंग सोभा अनूप दरसति है ।
निसि सिमुता को चन्द अथै गयौ सेरो जान
अरुण उदै की कंज कली सी लसति है ॥”^२

माधोदास

“गोरी बरसाने की गजब की गरुर भरी
करिके चढ़ाई नन्दगांव पे धसति है ।
केसर कमोरी गारी ढोरी आय लालन पे
दूसरी गुलाल डारि हो हो कं हंसति है ।

१. समस्यापूर्ति प्रथम भाग, पृष्ठ २२

२. वही, पृष्ठ २३

माधव जू लाल ने गुलाल की चलाई मूठ
जाय परी आंखिन में तऊ ना टसति है ।
अधखुली अंखियां ये प्यारी की गुलाल भरी
अरुन उदै की कंजकली सी लसति है ।”^१

रत्नाकरजी ने इस समस्या की दो पूर्तियाँ की थी । इनमें भी वैसी ही शृंगार-प्रियता दिखायी देती है जैसी रीतिकालीन मनोवृत्ति से प्रभावित अन्य कवियों की पूर्तियों में विद्यमान है । उनकी दोनों ही पूर्तियाँ मुग्धानायिका पर आधृत हैं—

“अमल अनूप रूपपानिप-तरंगनि में ,
जगमग ज्योति आनि सान सौं बसति है ।
कहै रतनाकर उभार भए अंग माहिं ,
रंचक सी कंवुकी अदेख उकसति है ॥
रसिक - सिरोमनि सुजान मनमोहन की ,
लाख - अभिलाष-भौर-भीर हुलसति है ।
अभिनव-जोबन - प्रभाकर-प्रभा सौं बाल ,
अरुन उदै की कंज कली सी लसति है ॥”^२

“सरसन लाग्यौ रस रंग अंग - अंगनि में ,
पानिप तरंगनि में बाल बिलसति है ।
कहै रतनाकर अनंग कौ प्रसंग पौन ,
पाइ कंपि जाइ काँति दूनी दरसति है ॥
रति-रस लंपट मलिद मन भावन के ,
उर अभिलाष लाख भाँति की बसति है ।
परम पुनीत बैस-संधि कौ प्रभात पाइ ,
अरुन उदै की कंज कली सी लसति है ॥”^३

दूसरी समस्या की पूर्ति में तो कवियों को अपनी शृंगारिक मनोवृत्ति व्यक्त

१. समस्यापूर्ति, प्रथम भाग, पृष्ठ २३

२. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३२२, छन्द संख्या १९

३. वही, पृष्ठ ३२२ । छन्द संख्या २०

करने की और भी अधिक सुविधा मिल गयी है । नूपुरों की स्तम्भुन सुनते ही उन्हें रति-क्रीड़ा का स्मरण हो आता है :—

नवनीतजी

“सुरति सुखासन पै दंपति उमंग भरे
सोभित अरुंग अंग आभा दूपुरन की ।
जोरि जुग-जंवन सुनीत रस रंगन तें
जगमग होत जोति जालहू पुरन की ॥
लफि लफि जात लंक अमित अनन्द भरी
सीखी है नवीन परिघाटी रतिरन की ।
चाहत करन चुप लाज के समाजन तें
बाजन बजन ये अनूप नूपुरन की ॥”^१

गोपीनाथ

“जोम भरी जोबन जवाहिर की जोत जाल
सेज पै बिराजें संक तजि के गुरन की ।
गोपीनाथ प्यारे संग रति बिपरीत ठान
करत अलाप सिसिकीन के सुरन की ॥
कंकन की किंकिनी की हलन हमेलन की
लखते बनत बंक भृकुटी मुरन की ।
मदन महीप के तमूर जनु बाजें रन
बाजन बजन ये अनूप नूपुरन की ॥”^२

अम्बाशङ्कर व्यास (शङ्कर कवि)

“रति सुख रीति फाग राची दोउ दम्पति जू
अंग राग स्वेद सनि रंगन घुरन की ।
चमि चूमि अधर कपोल अंग दूमि दूमि
सी सी की सनाकें रागु होरी के सुरन की ॥

१. समस्यापूर्ति, भाग १, पृष्ठ २४

२. वही, पृष्ठ २६-२७

संकर जू सारी लाल लपटी गुलाल होइ
 रदन नखच्छत मुकेस हूं फुरन की ।
 डफ ढोल ताल झांझ झालरि मृदंग साज
 बाजन बजन ये अनूप नूपुरन की ।^{११}

रत्नाकरजी ने भी इस समस्या की दो पूर्तियाँ की थीं । नूपुरों की झंकार की समस्या ने उन्हें भी रति-कोविदा प्रौढ़ानायिका का स्मरण करा दिया है:--

“दीप-मनि-दिव्य-दीप-दास-दुति-दीपति सौं ,
 दीसत न दावँ देह दीठि सौं दुरनि की ।
 कहै रतनाकर अनंग - रंग मंदिर कौ ,
 रंग लखि दंग होति अंगना सुरनि की ॥
 केलि-मुख-संपति कौं दंपति सकेलि रहे ,
 आपँ अंग आतुरी उमंग की घुरनि की ।
 लाजनि लजनि लाड़िली के लोल लोचन की ,
 बाजनि वजनि ये अनूप नूपुरनि की ॥^{१२}

“करत कलोल केलि-मंदिर अखंड दोऊ ,
 सुखमा सकेलि ब्रह्मंड के पुरनि की ।
 कहै रतनाकर मसूसै मैनका कौं मैन ,
 सुनि धुनि धीमी धुंधुहनि के घुरनि की ॥
 सोर सिसिकीनि की सुनत सकुचाइ जाइ ,
 सुरति सिराइ मंजुघौषा कौं सुरनि की ।
 गंजति गुमान किलरी की किलरी कौं अरी ,
 बाजनि बजनि ये अनूप नूपुरनि की ॥^३

‘ अन्य कवियों से रत्नाकरजी की रचनाएँ अधिक प्रौढ़, रसात्मक, अनुप्रास-गर्भित, एवं आन्तरिक संगीतात्मक प्रवाह से ओतप्रोत हैं । ब्रजभाषा से बहुत दूर रहकर ब्रज-काव्य-कला की साधना करने वाले अनेक कवियों में से रत्ना-

१. समस्यापूर्ति, प्रथम भाग, पृष्ठ २७

२. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३३३, छन्द संख्या ५०

३. वही, पृष्ठ ३३३-३३४, छन्द संख्या ५१

कर भी एक मेधावी कवि था। ऐसे कवि ब्रजभाषा के समर्थ कवियों का गम्भीर अध्ययन करके ही काव्य-कला में निष्णात होते थे। रत्नाकरजी ने भी अपने पूर्ववर्ती ब्रजभाषा-कवियों का मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया था। इसी के बल पर उन्होंने ब्रज-काव्य-कला में निपुणता प्राप्त की थी। उपर्युक्त समस्या पूर्तियों से स्पष्ट है कि रत्नाकरजी पर काशी-कवि-समाज के अन्य कवियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। रीतिकालीन जिस रसिकता में उस युग के अनेक कवि अलसनिमीलित नेत्रों से झपकियाँ ले रहे थे, उमी में रत्नाकरजी भी, तन्मय थे, परन्तु रत्नाकरजी की प्रतिभा एवं ब्रजभाषा-साहित्य के गहरे अध्ययन ने उनकी रचनाओं को अन्य कवियों की रचनाओं से कहीं अधिक उत्कर्ष प्रदान कर दिया था। आज का युग रत्नाकरजी की शृंगारिक उक्तियों में उत्तान शृंगार का दोषारोपण कर सकता है, किन्तु रत्नाकरजी की रचनाएँ यदि स्थूल शृंगार के कारण गहित हैं, तब तो रीतिकाल के प्रायः समस्त कलाकारों, तथा भारतेन्दु एवं उनके युग के अनेक कवियों की बहुत-सी रचनाओं की होलो जला देनी पड़ेगी। कवि अपने युग का प्रतिनिधि होता है, अतः उसे युग-परिस्थितियों में रख कर ही उसकी कृतियों का अध्ययन करना समीचीन है। अभिव्यक्ति के जिस अन्तःवर्ती रस से भारतेन्दु तथा उनके युग के अन्य कवि “प्रथम समागम कौ बदलौ चुकाए लेति” जैसी समस्याओं की पूर्तियाँ करते थे, उमी रसिकता से रत्नाकरजी तथा उनके समकालीन अनेक कवि भी उनकी आकर्षक एवं उत्तेजक पूर्तियाँ कर रहे थे।^१ रत्नाकरजी मात्र कवि ही नहीं, प्रत्युत अपने युग की विशिष्ट रुचि के प्रतिनिधि भी थे और इसमें सन्देह नहीं कि उनकी तूलिका ने अपने शब्द-चित्रों के निर्माण में तत्कालीन काव्य-रुचि के गहरे-मे-गहरे रंगों का सफल प्रयोग किया था।

काशी-कवि-समाज की समस्यापूर्णियों ने रत्नाकरजी को बड़ा लोकप्रिय बना दिया था। काशी में ही नहीं, अपितु लखनऊ, प्रयाग, कानपुर इत्यादि अनेक स्थानों में उन दिनों प्रायः कवि-सम्मेलन और समस्या-पूर्णियाँ होती रहती थी। रत्नाकरजी भी इन कवि-सम्मेलनों में सुविधानुसार सम्मिलित हुआ करते थे। वे अपनी कविताओं से श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध-सा कर लेते थे। उनकी अनेक पूर्तियाँ उनके जीवन-काल में ही प्रसिद्ध हो गयी थीं प्रायः कवि-सम्मेलनों में उनसे ऐसी रचनाओं को सुनाने का आग्रह भी किया जाता था।

रत्नाकरजी ने काशी अथवा अन्यान्य नगरों के विभिन्न कवि-सम्मेलनों में जो

समस्या-पूर्तियाँ की थीं उनमें से अधिकांश का० ना० प्र० सभा द्वारा प्रकाशित 'रत्नाकर' में संगृहीत है। काशी-कवि-समाज के विभिन्न अधिवेशनों में उन्होंने जिन समस्याओं की पूर्तियाँ पढ़ी थीं, उनमें से प्रसिद्ध कुछ पूर्तियाँ ये हैं :—

१. सूधी तैं सहस्र गुनी टेढ़ी भौह मीठी है ।
२. पैयाँ परों नैकु मान करिबौ सिखाइ दै ।
३. धीरज धर्यो न जात लाल गिरिधर पै ।
४. गोप-कुल-कुमुद-निसाकर उदै भयौ ।
५. कहनोई पर्यो ।
६. ऐरी वह लचक हिये में हालि हालि उठै ।
७. अरुन उदै की कंज कली सी लसति है ।
८. बाजनि बजनि ये अनूप नूपुरनि की ।
९. जीवन मोर ।
१०. ढूँढ़त ही ढूँढ़त (हेरत ही हेरत) सु मो मन हिरान्यौ जात ।
११. प्रान परे साँकरे न हाँ करे न ना करे ।
१२. जब मन लागि जात काहू निरमोही सौं ।
१३. मन लै हूँ गये (रहे) पै बसौ मन हीं ।
१४. प्रीति मिटै हू मिटै न परेखौ ।
१५. मंद करै चन्दाहिं अमन्द मुख प्यारी कौ ।
१६. मारिबौ पी कौ न सालत है, अब सालत सौति छुड़ाइबौ तेरी ।
१७. सांवरे छैल हुआगे जो मोहि तों गातनि मेरे गुराई न रैहै ।
१८. सोर न करौरी चित-चोर मूँदि राष्यौ है ।
१९. मानो रबि कंजन पै डारत है चांदनी ।
२०. सीतल सुगंध मन्द मारत की लहरे ।
२१. उसीर के महल में ।
२२. मुरि मुसुकाइ कै ।
२३. बाजत ये मदन-महीप के नगारे हें ।
२४. मेघ मनमथ के मतंग मतवारे हें ।
२५. बांसुरी बजावै है ।
२६. मानिक तैं मानहु मरीचि मरकत की ।

'प्रकीर्ण पद्यावली' तथा 'शृंगारलहरी' में इन सभी समस्याओं की पूर्तियाँ उपलब्ध हैं। अनेक प्रश्न-संकुलित-जीवन की व्यस्तता के कारण रत्नाकरजी कभी-कभी

कवि-सम्मेलनों में नहीं भाँजा जा पाते थे। परन्तु विभिन्न कवि-सम्मेलनों के उन्हें यह विदित रहता था कि किस कवि-सम्मेलन में कौन-कौन सी गयी हैं। रत्नाकरजी सुविधानुसार इन की पूर्तियाँ भी तैयार कर कुछ ऐसी समस्याएँ उद्धृत की जा रही हैं, जो काशी-कवि-समाज में हो दो गयी थीं, परन्तु जिन अधिवेशनों में ये पढ़ी गयीं, उनमें रत्नाकरजी सम्मिलित न हो सके थे। उन्होंने इनकी पूर्तियाँ बाद में तैयार की थी। ये पूर्तियाँ भी 'शृंगारलहरी' तथा 'प्रकीर्ण पद्यावली' में आ गयी हैं :—

१. खेल मत जानौ यह बेलि बिरहा की है ।
२. भानु तनया पे वृषभानु-तनया चली ।
३. एक ते ह्वै गई द्वे तसवीरें ।
४. गरक गई ह्वै मनो बीजुरी अँधेरे में ।

रत्नाकरजी की कुछ पूर्तियाँ ऐसी भी थीं जो अपने विषय के कारण गोपी-उद्धव-संवाद के अन्तर्गत रखी जा सकती थीं। काशी-कवि-समाज के बारहवें अधिवेशन की समस्या 'बहार बरषा की है', तथा सैंतालीसवें अधिवेशन की समस्या 'लाख कहिबो करो' की पूर्तियाँ ऐसी ही थीं। बाद में रत्नाकरजी ने इन पूर्तियों को प्रसंगानुसार उद्धव-शतक के कवित्तों में सम्मिलित कर लिया था।^१

रत्नाकरजी की अधिकांश समस्या पूर्तियाँ 'रत्नाकर' शीर्षक संग्रह-ग्रन्थ में मिल जाती हैं, परन्तु कुछ ऐसी भी हैं जो इसमें नहीं हैं।^२ उदाहरणार्थ, निम्नलिखित समस्या तथा उसकी पूर्ति उपस्थित है। यह समस्या काशी-कवि-समाज के दूसरे अधिवेशन में दी गयी थी :—

“असित सेत लोहित लसत चोबा अबिर गुलाल ।

पिचका कुटिल कटाच्छ सौं नैननि माच्यौ ह्याल ॥”

रत्नाकरजी ने इसकी निम्नोक्त पूर्ति की थी, परन्तु यह उपर्युक्त संग्रह-

१. देखिए उद्धव-शतक, छन्द संख्या ९० तथा ४५

२. रत्नाकर जी की कतिपय स्वतन्त्र कविताएँ भी ऐसी हैं जो 'रत्नाकर' ग्रन्थ में संगृहीत नहीं हैं। पत्र-पत्रिकाओं की पुरानी सञ्चिकाओं में ये रचनाएँ छिपी पड़ी हैं। इस कथन के प्रमाण स्वरूप उनकी 'बसन्त' शीर्षक कविता उद्धृत की जा सकती है, जो अप्रैल सन् १९०० ई० की 'सरस्वती' में पृष्ठ १२२-१२३ पर छपी है।

ग्रन्थ में नहीं है :—

“असित सेत लोहित लसत चोबा अबिर गुलाल ।
 पिचका कुटिल कटाच्छ सौं नैननि माच्यौ ख्याल ॥
 नैननि माच्यौ ख्याल उझकि झूमत झुकि झेलत
 छिनक पाट पल ओट करत छिन पुनि रंग रेलत
 रतनाकर अनुराग भोद अभिलाष रसित से
 याहीं तैं लखि परत लाल अरु सेत असित से ॥”^१

काशी-कवि-समाज में रत्नाकरजी सुप्रसिद्ध कवि ‘बेनी द्विज’ के सम्पर्क में भी आये। इनका जन्म-काल संवत् १९०० के लगभग माना जाता है। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में ये काशी में ही रहने लगे थे। ‘बेनी द्विज’ भी रीतिकालीन परम्परा के कवि थे। ‘बचऊ चौबे’ अपनी रचनाओं में इन्हीं के अनुकरण का प्रयत्न करते थे। रत्नाकरजी के युग में ‘बेनी द्विज’ पुराने तथा अनुभवी कवि माने जाते थे। वे उन से लगभग तेईस वर्ष छोटे थे, परन्तु इनकी रचनाएँ ‘बचऊ चौबे’ अथवा ‘बेनी द्विज’ दोनों ही से कहीं अधिक प्रौढ़ एवं आकर्षक होती थीं। काशी-कवि-समाज के दूसरे अधिवेशन की निम्नोक्त समस्या-पूर्तियाँ इस कथन के प्रमाण स्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं। समस्या थी ‘धीरज धर्यौ न जात लाल गिरधर पै’। ‘बेनी द्विज’ तथा ‘बचऊ चौबे’ ने इसकी ये पूर्तियाँ की थी —

‘बेनी द्विज’

“सास को सुताय औ रिसाय निज बालम सों ।
 न्यारी ह्वै घरीक लौं रहौंगी सोय घर पै ।
 तुम तौ अजान सी बकौ हौ सबै जान बूझ
 ऐसे बंन सुनत हमारो जीव डरपै ॥
 बेनी द्विज बनिहै न एक हू बबा की सौंह
 भूलिहू जो जैहै यह बात काहू थर पै ।
 पहर द्वै एक के लिये जू भला नाहक ही
 धीरज धर्यौ न जात लाल गिरधर पै ॥”
 “ननद निगोड़ी बदनाम ब्रजमंडल की
 गई सुसरार देखु बालम न घर पै ।

कहत रसीले बूढ़ी आँधरी बधिर सास
बूझति न बात सो रहत पड़ी दर पै ॥
औसर न पै हो फेर कसक मिटायबे की
क्यों न गर लाओ जाके चढ़ी हौ नजर पै ।
घेर ही रहत रोज अथए दिवाकर के
धीरज धर्यौ न जात लाल गिरधर पै ॥”^१

इसी पर रत्नाकरजी की पूर्तियाँ ये है—

“एरी ब्रज-जीवन की जीवन आधार बेगि ,
सहज सिंगार सौ पधारि सरबर पै ।
कहै रत्नाकर न बात कहिबे की समै ,
ठसक उठाइ ताइ दीजै सिकहर पै ।
लाग अनुराग की रही है इमि ल।गि सही ,
जाति बिरहागि ना दावागि-पान-कर पै ।
प्रबल बियोग-रोग निबल कियो है इमि ,
धीरज धर्यौ न जात लाल गिरधर पै ॥”^२

“बिनती बखानी अनगिनती न मानति हौ ,
किनती सिखायौ मान करिबौ कुंवर पै ।
कहै रत्नाकर रिझाएँ नार्हि रीझति हौ ,
खीझति हौ उलटी कपोल दिए कर पै ॥
पलटि प्रभाव पर्यौ पाँचही घरी भे यह ,
आवत अचंभौ जाति आँगुरी अधर पै ।
एरी अबला तू गुरु मान इत धारै उत ,
धीरज धर्यौ न जात लाल गिरधर पै ॥”^३

छन्दों को कारीगरी, भावप्रवणता, उक्ति वैचित्र्य एवं अनुभूति को रमणीयता के मूर्तिकरण की दृष्टि से रत्नाकरजी की पूर्तियाँ ‘बेनो द्विज’ तथा ‘बचऊ चौबे’ की पूर्तियों से श्रेष्ठ है। इन बातों में वे अपने समकालीन कवियों से ही नहीं, रीतिकालीन

१. समस्यापूर्ति भाग १, पृष्ठ ११-१२

२. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३५९, छन्द संख्या १२४

३. वही, पृष्ठ ३६०, छन्द संख्या १२५

कवियों से भी आगे बढ़े हुए दिखायी देते हैं। ब्रजभाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। उनके कवित्तों में जो असाधारण दृढ़ता, शब्द-सौन्दर्य, रचना-चातुरी एवं संगीतात्मक-प्रवाह दृष्टिगोचर होता है, वह उनके समकालीन किसी कवि में दिखायी नहीं देता। रत्नाकरजी ने रीतिकालीन काव्य-धारा को विवेक-बुद्धि से परख कर उसकी विशेषताओं एवं त्रुटियों को भली-भाँति हृदयगम कर लिया था। यही कारण है कि चमत्कारवादी कवि होते हुए भी, उनकी रचनाएँ ऊहात्मक मनोवृत्ति से बहुत कुछ दूर रही हैं। उनको श्रृंगारिक उक्तियाँ कहीं-कहीं उत्तेजक अवश्य हैं, परन्तु इसके कारण उनकी रचनाओं का काव्यमय अस्तित्व कदापि नष्ट नहीं हो सकता।

काशी-कवि-समाज के अधिवेशनों में भाग लेने के कारण रत्नाकरजी की अनेक कवियों से मैत्री हो गयी थी। बाबू रामकृष्ण वर्मा, पं० अम्बिकादत्त व्यास, ब्रजचन्द्रजी वल्लभाय, बाबा सुमेरसिंह, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय इत्यादि से इन्हीं दिनों रत्नाकरजी को घनिष्ठता हुई थी। बाबू रामकृष्ण वर्मा तो काशी-कवि-समाज के मंत्री ही थे। वर्माजी 'बलबीर' अथवा 'बीर' उपनाम से कविता करते थे। विनोदो स्वभाव के कारण रत्नाकरजी ने एक समस्या का पूर्ति में वर्माजी के कवि-नाम का अतीव कलात्मक ढंग से प्रयोग किया था। काशी-कवि-समाज के ग्यारहवें अधिवेशन में 'उसीर के महल में' यह समस्या दी गयी थी। रत्नाकरजी ने उस की पूर्ति करते हुए विरहणी परकोया का यह चित्र उपस्थित किया था :—

“नींद लै हमारी हूँ दुनीदे ह्वै सुनीदे सोय
सुनत पुकार नाहि परीं हौं चहल मैं
कहै रत्नाकर न ऐसी परतीत हुती
प्रीति रीति हाय हिय जानी ही सहल मैं
देखत ही आपने दृगन हित हानि करी
अब पछताति परी ताही की दहल मैं
बीर मैं अजान बलबीरहि निवास दियो
नीर सिंचे बरनी उसीर के महल मैं ॥”^१

रत्नाकरजी ने इस पूर्ति में वर्माजी के उपनामों का तो प्रयोग किया ही है, साथ ही उनकी भाषा-शैली को भी निभा दिया है। अन्य कवियों की भाषा-शैली को तादृश भाव-प्रवणता से ज्यों-का-त्यों निभा देना साधारण बात नहीं है, परन्तु रत्नाकरजी अपनी अलौकिक प्रतिभा से किसी भी कवि की शैली

में सफलतापूर्वक कविता कर सकते थे ।

वर्माजी का समस्या पूर्तियाँ मर्मस्पर्शी भावना से अन्तर्गुम्फित होती थीं । ब्रजभाषा पर भी उनका पूर्ण अधिकार था, परन्तु रत्नाकरजी को रचनाओं में जो स्वाभाविक अनुप्रास-सोष्ठव, वाग्वैदग्ध्य, मसृणता एवं अनौखी सूझ होती थी, वह अन्यत्र दुर्लभ ही थी । इस कथन के प्रमाण स्वरूप 'बांसुरी बजावे है' शीर्षक समस्या पर वर्माजी तथा रत्नाकरजी की पूर्तियाँ उपस्थित की जा सकती हैं । वर्माजी ने इस को यह पूर्ति की थी :—

“देखो प्रेम रंग में पगी है वह बाल लाल ,
बे-सुध भई सी सुधि आपुनि गंवावे है ।
पीत पट धारि कटि काछिनी सुधारि सीस ,
मुकुट सँवारि ढंग रावरो बनावे है ॥
ऐसी वा भई है तनमई तुमही में कान्ह ,
एकै धुनि राधे-नाम नाम की लगावे है ।
बंसीबट बिपिन बिलोको बलबीर बलि ,
बीर बलबीर बनी बांसुरी बजावे है ॥”^१

वर्माजी की यह उत्कृष्ट पूर्ति स्वभावज अलंकार लीला का सुन्दर उदाहरण है । अपनी कल्पना के द्वारा उन्होंने जो हृदयहारी चित्र उपस्थित किया है, वह पर्याप्त आकर्षक है, परन्तु रत्नाकरजी को अनौखी सूझ ने जो मनोरम शब्द-चित्र उपस्थित किये हैं वे असन्दिग्ध रूप से अधिक मर्मस्पर्शी, कलात्मक और बेजोड़ हैं । रत्नाकरजी की पूर्तियाँ ये हैं :—

“जाके सुर प्रबल प्रबाह को झकोर तोर
सुर-नर-मुनि-बृन्द-धीर-बिटप बहावे है ।
कहै रत्नाकर पतिव्रत परायन की
लाज कुलकान को करार बिनसावे है ।
कर गहि चिबुक कपोल कल चूमि चाहि
मृदु मुमुकाइ जो मयंकहि लजावे है ।
ग्वालिनो गुपाल सौं कहति इठलाइ कान्ह
ऐसी भला कोऊ कहूँ बांसुरी बजावे है ॥”^२

१. समस्यापूर्ति, भाग २, काशी-कवि-समाज के २१वें अधिवेशन की पूर्तियाँ

२. प्रकीर्ण पद्यावली, पृष्ठ ५५६, छन्द संख्या १

“बैठे भंग छानत अनंग-अरि रंग रमे ,
 अंग-अंग आनंद तरंग छबि छावै है ।
 कहै रतनाकर कछूक रंग ढंग औरै ,
 एकाएक मत्त ह्वै भुजंग दरसावे है ।
 तूबा तोरि साफी छोरि मुख बिजया सौ मोरि ,
 जैसैं कंज-गंध पै मल्लिद मँजु धावै है ।
 बेल पै बिराजि संग सैल-तनया लै बेगि ,
 कहत चले यौ कान्हू बाँसुरी बजावै है ॥”^१

भाव-व्यञ्जना की दृष्टि से रत्नाकरजी की दोनों ही पूर्तियाँ अनूठी हैं। वर्माजी ने अपनी पूर्ति में जो चित्र उपस्थित किया है वह आकर्षक अवश्य है, परन्तु रत्नाकरजी का दृश्योद्घाटन निश्चयात्मक रूप से अधिक प्रभावोत्पादक है। शब्दों द्वारा चित्र उपस्थित करने की कला में रत्नाकरजी बड़े ही दक्ष थे। उनकी दोनों ही पूर्तियाँ इतनी सजीव हैं कि पाठक का हृदय अनायास ही आकृष्ट हो जाता है। प्रमाता उनके भावों का अनुभव ही नहीं करता, प्रत्युत पात्रों को अपने मानसिक नेत्रों के सम्मुख स्पष्ट रूप से देखने भी लगता है।

विभिन्न कवि-समाजों पर प्रभाव

बाबूरामकृष्ण वर्मा तथा पं० अम्बिकादत्त व्यास के प्रयत्न से जिस प्रकार काशी-कवि-समाज की स्थापना हुई थी, उसी प्रकार लखनऊ, कानपुर, प्रयाग आदि अन्य नगरों में भी कतिपय उत्साही कविता-प्रेमियों ने कवि-समाज स्थापित कर रखे थे। निजामाबाद में भी सिखों के महन्त बाबा सुमेरुसिंह के प्रयत्न से एक कवि-समाज स्थापित हुआ था। रत्नाकरजी का सभी कवि-समाजों से सम्बन्ध था। विभिन्न कवि-समाजों में भाग लेने से रत्नाकरजी का साहित्यिक-मण्डल पर्याप्त विस्तृत हो गया था। सभी जगह उनका आदर था। उनकी कविता सुनने के लिए लोग सदैव लालायित रहते थे। रत्नाकरजी भी धारावाहिक रूप से एक-एक समस्या की अनेकानेक पूर्तियाँ सुनाकर अपने श्रोताओं को आनन्द-विभोर कर देते थे। तत्कालीन सभी साहित्यिकों पर रत्नाकरजी की पूरी धाक थी। अपनी साहित्यिक प्रतिभा के बल से रत्नाकरजी ने अपने जीवन-काल में ही जो सम्मान तथा कीर्ति अर्जित कर ली थी वह कम कवियों को प्राप्त

हो सकी है। वे अपने युग में ही ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि माने जाने लगे थे। सम्भवतः आज भी इस कथन में किसी को आपत्ति न होगी कि उनके समान प्रौढ़, परिमार्जित, प्राञ्जल एवं व्याकरण-सम्मत ब्रजभाषा आधुनिक युग का कोई कवि नहीं लिख सका।

रत्नाकर और का० ना० प्र० सभा

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना में रत्नाकरजी ने स्वर्गीय बाबू श्याममुन्दरदास को पूर्ण सहयोग प्रदान किया था। संवत् १९५१ में रत्नाकरजी ही इस सभा के प्रथम अवैतनिक सहायक मंत्री निर्वाचित हुए थे। सभा के साप्ताहिक अधिवेशनों में भी प्रायः आप ही सभापति बनाये जाते थे। संवत् १९८५ में आप इसके उप-सभापति थे।

महारानी अयोध्या ने रत्नाकरजी को गंगावतरण काव्य पर एक सहस्र रु० का पुरस्कार प्रदान किया था। यह धन उन्होंने ३१ अक्टूबर सन् १९२१ ई० को ना० प्र० सभा को दे दिया था। उनको इच्छा थी कि इसके व्याज से प्रति तीसरे वर्ष ब्रजभाषा के सर्वोत्तम काव्य-ग्रंथ-रचयिता को दो सौ रु० का पारितोषिक प्रदान किया जाय। अतः सभा ने 'रत्नाकर-पुरस्कार' नाम से इसकी व्यवस्था की। गंगावतरण के इंडियन प्रेस प्रयाग से प्रकाशित होने के पश्चात् 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' ने भी इस रचना पर रत्नाकरजी को पाँच सौ रु० का पारितोषिक प्रदान किया था। इसी में दो सौ रु० अपनी ओर से मिलाकर उन्होंने संवत् १९८५ में सात सौ रु० सभा को और दिये। लगभग एक वर्ष पश्चात् अर्थात् संवत् १९८६ में उन्होंने पुनः एक सौ पैंतीस रु० अर्पण किये। इस प्रकार कुल अठारह सौ पैंतीस रु० सभा को प्राप्त हुए। उनके सुपुत्र श्री राधेकृष्णदास ने भी 'रत्नाकर पुरस्कार' के सम्बन्ध में सभा को सौ रु० भेंट किये। फलतः सभा के पास कुल उन्नीस सौ पैंतीस रु० एकत्रित हो गये थे। इस अधिष्ठान से आजकल सभा को एक सौ बारह रु० प्रतिवर्ष व्याज के रूप में प्राप्त होते हैं। इसी आय से ना० प्र० सभा द्वारा प्रति चौथे वर्ष दो-दो सौ रु० के दो पारितोषिक—अर्थात् एक ब्रजभाषा की श्रेष्ठ रचना पर, तथा दूसरा ब्रजभाषा के सदृश हिन्दी की डिंगल, राजस्थानी, अवधी, बुंदेलखंडी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी आदि उपभाषाओं की किसी श्रेष्ठ रचना अथवा (उसके अभाव में) सुसम्पादित ग्रन्थ पर प्रदान किया जाता है।

ब्रजभाषा सम्बन्धी 'रत्नाकर पुरस्कार' सर्वप्रथम पं० रामचन्द्र शुक्ल को मिला। यह पुरस्कार शुक्लजी को १ माघ १९७८ से ३१ पौष १९८१ तक की रचनाओं में श्रेष्ठ 'बुद्ध चरित' पर प्रदान किया गया था। दूसरी बार यह पुरस्कार स्वयं

रत्नाकरजी को ही मिला । इस बार यह १९८१ से १९८४ तक की श्रेष्ठ कृति 'गंगावतरण' पर दिया गया था । 'प्रताप चरित' के लेखक श्री केसरीसिंह, 'नूरजहां' के लेखक श्री गुरुभक्तसिंह, तथा 'व्रजरज' के लेखक रायकृष्णदास को भी रत्नाकर पुरस्कार मिल चुका है ।

रत्नाकरजी जीवनपर्यन्त ना० प्र० सभा की उन्नति में संलग्न रहे । 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में भी वे बड़े उत्साह से लिखा करते थे । उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके सुपुत्र श्री राधेकृष्णदास ने रत्नाकरजी का व्यक्तिगत पुस्तकालय भी ना० प्र० सभा को दे दिया था । 'रत्नाकर संग्रह' नाम से उनकी ये पुस्तकें वहाँ सुरक्षित हैं । भिन्न-भिन्न भाषाओं की इन पुस्तकों की संख्या यह है—

हिन्दी	६०२
संस्कृत तथा हिन्दी (हस्त लिखित)	३३८
अंगरेजी	२३८
बंगला	५
गुजराती	२
गुरुमुखी	१
प्राकृत	३

योग ११८९

इन पुस्तकों में से नौ पुस्तकें श्री राधेकृष्णदास ने अयोध्या भेजने के लिए वापिस ले ली थीं । अतः इस समय 'रत्नाकर संग्रह' में कुल ११८० पुस्तकें विद्यमान हैं । ये पुस्तकें काव्य, रीति, व्याकरण, कविता, छन्द-शास्त्र, जैनधर्म, चिकित्साशास्त्र, वैद्यक, पुराण, कर्मकाण्ड, ज्योतिष, भाषाशास्त्र, धर्म, इतिहास आदि विषयों पर हैं । संगीत, मिस्मेरिज्म, समालोचना तथा रति-शास्त्र पर भी कुछ पुस्तकें हैं । इन में उग्यासों की संख्या बहुत कम है ।

इस संग्रह को देखने से विदित होता है कि एक-एक विषय पर उनका अध्ययन कितना विस्तृत था, तथा कितने भिन्न-भिन्न विषयों का उन्होंने अध्ययन किया था । उन की रचनाओं में जो आश्चर्यजनक बहुज्ञता दृष्टिगोचर होती है उसका कारण यही विस्तृत अध्ययन है ।

रत्नाकरजी ने ना० प्र० सभा की जो सेवा की थी, उसके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करते हुए सभा ने सन १९३९ में उनके निवासस्थान पर एक शिलालेख लगवाया था ।

इस शिलालेख पर ये शब्द अङ्कित हैं :—

“ब्रजभाषा के अंतिम महाकवि
श्री जगन्नाथदास ‘रत्नाकर’
(सं० १९२३—१९८९ वि०)

का

निवास—स्थान

यह शिलालेख नागरी प्रचारिणी सभा काशी, ने
२८-वें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर
सं० १९९६ वि० में लगवाया ।”

रसिकमण्डल प्रयाग

अयोध्या की नौकरी छोड़कर सन् १९२८ में रत्नाकरजी स्थायी रूप से काशी में ही निवास करने लगे थे । इन्हीं दिनों आपने डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, श्री रसालजी, तथा श्री सरसजी को प्रयाग में एक साहित्यिक-मण्डल की स्थापना के लिए उत्साहित किया । रत्नाकरजी की प्रेरणा के फलस्वरूप हिन्दी-काव्य-साहित्य—विशेषतया ब्रजभाषा-काव्य-साहित्य—की उन्नति, प्रचार एवं संरक्षण के लिए प्रयाग में रसिक-मण्डल की स्थापना हुई । रत्नाकरजी जीवनपर्यन्त रसिक मण्डल को सक्रिय सहयोग प्रदान करते रहे । उनकी श्रेष्ठ रचना ‘उद्धव शतक’ भी रसिक-मण्डल प्रयाग की ओर से ही प्रकाशित हुई थी ।

जीवनपर्यन्त अपनी प्रतिभा से साहित्याकाश को सूर्य के समान आलोकित करने वाले रत्नाकरजी यद्यपि अब हमारे बीच में नहीं हैं, परन्तु उनकी स्मृति आज भी साहित्य-सेवियों के मानस में ब्रजभाषा-प्रेम को जाग्रत करती रहती है । काशी के उत्साही कविता-प्रेमियों ने उसके निधन के पश्चात् उनकी स्मृति में ‘रत्नाकर-मण्डल’ की स्थापना की है । रत्नाकरजी के जीवन-काल में यदि उनका व्यक्तित्व साहित्यिकों को प्रेरणा प्रदान करता था, तो उनके निधन के पश्चात् उनकी स्मृति ही साहित्यानुरागियों को प्रेरणा प्रदान कर रही है ।

चतुर्थ अध्याय रत्नाकर के गद्यलेख

गद्यलेखक रत्नाकर

हिन्दी-साहित्य में रत्नाकरजी कवि-रूप में ही अधिक प्रसिद्ध हैं। जिन लोगों का हिन्दी-साहित्य से सामान्य परिचय है, उन्हें सम्भवतः यह विदित न होगा कि उन्होंने लेख भी लिखे थे। उनके कुछ लेख तो ऐसे थे, जिनके कारण हिन्दी-संसार में हलचल मच गयी थी। यद्यपि उनके लेखों की संख्या अधिक नहीं है, परन्तु उन्होंने जो कुछ लिखा वह पर्याप्त अनुसन्धान एवं अध्ययन के पश्चात् ही लिखा है। यही कारण है कि उनके लेख इतने सारगर्भित तथा प्रौढ़ विचारों से ओतप्रोत हैं। खेद है कि उनके लेखों का कोई संग्रह अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं की पुरानी सञ्चिकाओं में ही उनके लेख अभी तक छिपे पड़े हैं।

रत्नाकरजी ने ऐतिहासिक, पुरातत्त्वान्वेषक तथा आलोचनात्मक लेखों के अतिरिक्त व्याकरण, भाषा और छन्द सम्बन्धी भी अनेक लेख लिखे थे। विभिन्न साहित्य-सम्मेलनों एवं कवि-सम्मेलनों के सभापति के पद से उन्होंने जो भाषण दिये थे, वे भी लिखित रूप में विद्यमान हैं अतः उन्हें भी रत्नाकरजी के गद्य में सम्मिलित किया जा सकता है। वे प्रायः लिखकर ही भाषण देते थे।

भूमिकाएँ

रत्नाकरजी की गद्य-लेखन-शक्ति का क्रमिक विकास देखने के लिए उनके द्वारा सम्पादित पुस्तकों की भूमिकाओं का अनुशीलन भी आवश्यक है। उनके प्रारम्भिक गद्य का स्वरूप इन्हीं भूमिकाओं में निहित है। रत्नाकरजी के प्रारम्भिक लेख अधिक प्रौढ़ एवं परिमार्जित नहीं हैं। कहीं-कहीं तो उनकी भाषा बड़ी ही शिथिल है। उदाहरणार्थ उनके द्वारा सम्पादित 'सुधासर' नामक पुस्तक की भूमिका देखी जा सकती है। यह पुस्तक काशिका प्रेस बनारस से संवत् १९४४ में छपी थी। रत्नाकरजी इस पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं :—

“अनुमानन ५० वर्ष के लगभग होता है कि श्री १०८ युत यशवन्त सिंहजी महाराज नाभा की आज्ञानुसार बृन्दावन बासी नवीन कवि ने इस 'सुधासर' नामक बृहत्

संग्रह को किया था। इसमें कैंसी २ अनूठी कवितायें संगृहीत हैं यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं, यह वही 'सुधासर' है जिसकी बूंदें कोई स्रोत होकर सहृदय हृदयों को आप्लावित कर रही है। इस पुस्तक को बड़ी होने के कारण और ग्राहकों के सुगमतार्थ कई भागों में विभक्त कर प्रथम भाग को पहले प्रकाशित करता हूं।

पाठकों से प्रार्थना है कि इसे अवश्य देखें। और यह भी निवेदन है कि किसी महाशय के पास इसकी प्रति हो तो कृपा कर मुझ को सूचित करें।

इसके छपने में अनेक सहायता श्रीयुत पण्डित विजयानन्दजी से मिली है इससे मैं उनका कृतज्ञ हूं। श्री रघुबीर तिवारीजी को भी अनेक धन्यवाद देता हूं कि जिनने इसकी प्रति को मत्सरियों की नाई न छिपाकर छपाने के लिये मुझको दिया।

आशा है कि ग्राहक लोग मेरे उत्साह को बढ़ावेंगे, जिससे और भाग भी शीघ्र छप कर प्रकाशित होंगे।"१

इस छोटी-सी भूमिका में ही पाठकों को बहुत सी अशुद्धियाँ दिखायी देंगी। कहीं व्याकरण की भूलें हैं तो कहीं वर्तनी (Spelling) की। कहीं-कहीं वाक्य ही शिथिल हो गये हैं; किन्तु आगे चलकर उन्होंने अपने निबन्धों में पर्याप्त प्रौढ़ और परिमार्जित भाषा लिखी। उन निबन्धों की भाषा-शैली से इस भूमिका की भाषा-शैली की तुलना करने पर पृथ्वी-आकाश का अन्तर दृष्टिगोचर होता है? परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि, भाषा सम्बन्धी इस प्रकार की भूलों का परिष्कार आगे चलकर द्विवेदी जी द्वारा हुआ था। उनके पूर्व हिन्दी के अधिकांश लेखकों की भाषा में ऐसी ही त्रुटियाँ दिखायी देती थीं। रत्नाकरजी के प्रारम्भिक लेख इस प्रकार की त्रुटियों से ओत-प्रोत हैं। सन् १८९७ में उन्होंने 'सुजान सागर' का सम्पादन किया था। इस पुस्तक के अन्तिम पृष्ठ पर उन्होंने जो 'निवेदन' प्रकाशित किया है, उसकी भाषा भी बड़ी शिथिल तथा व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। वे लिखते हैं :

“जो प्रति हमको सुजान सागर की प्राप्त हुई है उनमें इतनी ही कविता हैं जो इस प्रथम भाग में इस समय प्रकाशित की जाती है परन्तु हमने एक प्रति और एक महाशय के पास उक्त ग्रंथ की देखी है जिसमें अनुमान सी कवित्तों के इनसे अधिक हैं और कुछ पद इत्यादि भी हैं, हमारा विचार यह था कि वह भी कवित्त छापकर कवित्तों के संग्रह का प्रथम भाग और पदादि का द्वितीय भाग कर दिया जाय पर वह प्रति इस समय प्राप्त न हो सकी और रसिकजन घनानंदजी के काव्य के लिए उत्सुक हैं अतः जो हमारे प्रति में है उन्हीं को प्रथम भाग करके प्रकाशित करते हैं। आशा है पुनरावृत्ति में

शेष कवित्त भी प्रकाशित हो जायेंगे ।

विशेष यह कि घनानन्दजी का जीवन-चरित्र हम ढूँढ़ रहे हैं । मिलने पर प्रकाशित किया जायगा ।”^१

उपर्युक्त पंक्तियों में व्याकरण की भद्दी भूलें तो हैं ही, साथ ही विरामादि की अवहेलना के कारण भी भाषा अव्यवस्थित एवं अनियन्त्रित हो गयी है । रत्नाकरजी की इन पंक्तियों में जो भाषा सम्बन्धी दुर्बलताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे सामान्यतः हरिश्चन्द्र-युग के प्रायः सभी लेखकों में दिखायी देती हैं । रत्नाकरजी के युग में (द्विवेदीजी के पूर्व) अधिकांश लेखक ऐसी ही भाषा लिख रहे थे । ईदृश भाषा की उस समय कोई आलोचना नहीं होती थी, अतः लेखक सतर्क होकर लिखते भी न थे । जिसको जैसी इच्छा होती, वैसा ही वह लिख बैठता था । रचना-शैली की आलोचना न होने से लेखकों का ध्यान अपनी त्रुटियों की ओर था ही नहीं । इस समय तक गद्य-रचना का कोई सुनिर्दिष्ट स्वरूप भी लेखकों के सामने नहीं आया था ।

रत्नाकरजी ने सन् १९०० से पूर्व जो लेख लिखे, उनमें भाषा सम्बन्धी त्रुटियाँ प्रायः सर्वत्र परिलक्षित होती हैं । ‘घनाक्षरी नियम रत्नाकर’ की भूमिका में भी उनकी भाषा ऐसी ही है । उदाहरणार्थ निम्नोक्त पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

“अतः कोई नियम स्थिर करके मैं न कह सका; केवल इतना ही कह कर चुप हो रहा कि छन्द की गति बिगड़ती है और विशेष इस समय मैं कुछ नहीं कह सकता । पर यह बासना मेरे चित्त में उसी समय आप से आप कोलाहल करने लगी कि यदि विशेष श्रम किया जाय तो कोई न कोई बात ऐसी हाथ आ सकती है कि जिसके द्वारा कवित्त लक्षण यथार्थ रीति से निर्धारित हो सकता है ।

यह विचार कर मैंने यह दृढ़ कर लिया कि घनाक्षरी के निमित्त कुछ नियम अवश्य ही स्थिर होने चाहिये और बहुधा इस बात पर विचार भी करने लगा ।”^२

रत्नाकरजी प्रधानतः कवि थे, अतः पद्य का प्रभाव उनके गद्य पर भी पड़ा । भावों की उमंग में वे कभी-कभी गद्य को भी पद्यात्मक बना देते थे । अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा इत्यादि की छटा, तथा पद्यात्मक भावभंगी एवं माधुर्य से समन्वित होकर उनके गद्य की पंक्तियाँ भी पद्य की विभूति से सम्प्लवित हो जाती थीं । इन कथन के प्रमाण स्वरूप ‘सुजान सागर’ के प्रथम दो पृष्ठ यहाँ उद्धृत किये जा सकते हैं । इस ग्रन्थ का परिचय देते हुए वे लिखते हैं:—

१. ‘सुजान सागर’ अन्तिम पृष्ठ ‘निवेदन’

२. घनाक्षरी नियम रत्नाकर : संस्करण संवत् १९५४ : पृष्ठ संख्या ७ और ८

“सुजान सागर के विषय में इतना ही कहना बहुत है कि यह सागर घन-आनन्द की कविता से परिपूरित है ।

भाषा काव्यरसचत्रिकों में ऐसा कौन है जिसको इस आनन्दघन के उन कतिपय बूंदों का जो कि भारतवर्ष मात्र में जहां-तहां सुलभ हैं, आस्वादन करके इस रस की अतृप्त तृषा से तृप्ति हो विशेषतः तृप्त होने की उत्कंठा न हुई होगी । परन्तु काल की स्वाभाविक कुटिलता के कारण अब वह अवसर कहां कि उस जीवनदाता के दर्शन शब्द और रस द्वारा दृग, श्रुति, तथा हृदय को परिपूर्ण आनन्द का अनुभव हो और यह सागर जिसको कि वह अलौकिकरसाकर भर गये हैं ऐसा गुप्त था कि आज पर्यन्त सर्वसाधारण अभिलाषियों को सर्वथा अप्राप्य ही हो रहा था । कुछ दिन हुए कि मुझे सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ जगदीश्वर की कृपा से यह पता लगा कि मेरे एक मित्र काव्यकलामंडित-पंडित नवनीत चौबे मथुरा-निवासी अगस्त मुनि की भांति इसको पचाये हुए बैठे हैं । फिर भला मुझे कब चैन पड़ने लगा था, अनेक सविनय प्रार्थना तथा मैत्रिक टेक द्वारा निकाल ही तो लिया और अब आप सब प्रेमियों के प्रमोदाथ (?) इसको साहित्य सुधानिधि द्वारा उमंगित भी करता हूं । आशा है कि आप लोग इसको अपनी शेष सी अशेष दिव्य दृष्टि धारिणी गति तथा मन्दराचल से अचल दृढ़ विचार द्वारा मंथन करके सरस अर्थामृत उत्पादन करेंगे और इस दुर्लभ पदार्थ के आस्वादनानन्द प्राप्ति को केवल मोहिनीमूर्तिधारो श्री वृन्दावन बिहारी की कृपा पर निर्भर समझेंगे ।

अन्त में मैं अपने उक्त मित्र चौबेजी की हार्दिक कृतज्ञता स्वीकार करता हूं क्योंकि उन्हीं के द्वारा इस ग्रंथ की ५०० कविता प्राप्त हुई हैं और आशा करता हूं कि वह महाशय कृपा करके इसके छपते-छपते जो अन्त का शेष रह गया है वह भी किसी न किसी प्रकार सुलभ करा देंगे । इसके अतिरिक्त और भाषा-काव्य-रसिकों से भी प्रार्थना है कि यदि यह ग्रंथ किसी के पास हो तो मुझ पर कृपा करके यश के भागी हों ।”^१

रत्नाकरजी की इस अव्यवस्थित एवं शिथिल भाषा का कारण कुछ अंशों में उनकी अमावधानी भी है । संस्कृत का उन्हें अच्छा ज्ञान था । उनका शब्द-भण्डार भी विस्तृत था । परन्तु तत्सम शब्दों को गद्य में ठूस-ठूस कर भर देने से ही गद्य की शैली सुव्यवस्थित नहीं बन जाती । जब तक शब्दों की आत्मा को समझ कर, वाक्यों में उनका समुचित स्थानों पर व्याकरण सम्मत प्रयोग नहीं होता, तब तक गद्य-शैली में प्रभविष्णुता नहीं आती । हिन्दी-गद्य की दिशा में भारतेन्दु जी मार्ग-प्रदर्शन

तो कर चुके थे। परन्तु गद्य का व्यवस्थित रूप स्थिर नहीं हुआ था। उनके परिवर्ती लेखक जो गद्य लिख रहे थे, वह भी एक प्रकार से प्रयोगात्मक प्रयास मात्र था। अपने समकालीन अनेक गद्य लेखकों के समान रत्नाकरजी भी गद्य की भाषा पर विशेष ध्यान नहीं देते थे। तथापि वे चाहते तो शुद्ध भी लिख सकते थे। जहाँ उन्होंने किञ्चित् सावधानी से काम लिया है, वहाँ उनकी भाषा अपेक्षाकृत शुद्ध हो भी गयी है। 'सुजान सागर', तथा 'घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर' से एक वर्ष पूर्व अर्थात् सन १८९६ ई० में, उन्होंने केशव कृत 'नखशिख' का सम्पादन किया था। इस पुस्तक की भूमिका में उन्होंने जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह उपर्युक्त दोनों पुस्तकों की भूमिका की भाषा से अधिक शुद्ध है। इस भूमिका में प्रायः छोटे-छोटे वाक्यों तथा विरामादि का भी प्रयोग है। फलतः उनकी भाषा शिथिल नहीं होने पायी है। 'नखशिख' की भूमिका यह है:—

“यह नखशिख जगत प्रसिद्ध कविवर श्री केशवदासजी का रचा हुआ है। यद्यपि इस पुस्तक की सभी कविता उक्त कविजी ने अपने प्रधानतम ग्रंथ कवि-प्रिया नामक के पन्द्रहवें प्रभाव में उद्धृत कर ली है, अतः इसका प्रकाशित करना एक प्रकार व्यर्थ माना जान पड़ता है, तथापि यह समझ कर कि यह एक भिन्न पुस्तक है, और इस उद्देश्य से कि रसिकजन इसका स्वाद पृथक् भी प्राप्त कर सकें, इसको उसी रूप में कि जिस रूप में मुझे प्राप्त हुई है, सर्वसाधारण के आगे रखता हूँ। इस पुस्तक की जो प्रति मुझे मिली है वह दो सौ सत्ताईस वर्ष अर्थात् सं० १७२४ वि० की लिखी हुई है, और इसके छापने में विशेषतः शब्दों के परिलेख की वही परिपाटी ग्रहण की गई है जो कि उक्त प्राचीन प्रति में है, और जो परिवर्तन हुआ है, बहुधा वह नीचे नोट में लिख दिया गया है, अतः इस पुस्तक से जिज्ञासु लोगों को यह बात भी प्रतीत हो सकती है कि केशवदास जी के समय में शब्दों के लिखने की भाषा काव्य में क्या चाल थी, क्योंकि उक्त प्रति ग्रंथकार के थोड़े ही दिनों पीछ की लिखी हुई है।

केशवदासजी के बनाए हुए चार ही ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, कविप्रिया, रसिकप्रिया, विज्ञान-गोता और रामचन्द्र चन्द्रिका और उक्त कविजी ने स्वयं भी अपने किसी ग्रंथ में किसी व्याज से नखशिख का नाम नहीं लिखा है, जैसे कि कविप्रिया में रसिकप्रिया इत्यादि के नाम आए हैं, अतएव यह शंका उत्पन्न होती है कि यह पुस्तक कदाचित् केशवदास ने स्वयं पृथक् नहीं रची थी, वरन किसी अन्य रसिक ने अपने पढ़ने के लिए नखशिख के कवित्त कविप्रिया में से छांट कर अलग लिख लिये होंगे। पर मेरा अनुमान यह है कि, नहीं यह पुस्तक स्वयं केशवदासजी ही ने कविप्रिया की रचना के पूर्व ही रची थी, क्योंकि कविप्रिया में जो नखशिख वर्णन के कवित्त पाए जाते हैं उनमें से कई एक कवित्त इस

पुस्तक में नहीं है, और किसी-किसी कवित्त का पूर्वापर स्थान क्रम भी इस पुस्तक में बदला हुआ है। यदि किसी कविता के प्रेमी ने कविप्रिया ही में से नखशिख के कवित्त अलग किये होते तो उसको कतिपय कवित्तों के छोड़ देने और कहीं-कहीं क्रम भिन्न कर देने की कोई आवश्यकता न थी। इसके अतिरिक्त कविप्रिया की कितनी प्राचीन प्रतियों में नखशिख वर्णन के कवित्त हैं ही नहीं जिससे कि यह भी अनुमान हो सकता है कि कविप्रिया ही में किसी अन्य मनुष्य ने इस नखशिख के कवित्त बिठा दिए हों तो आश्चर्य नहीं, कविप्रिया के पन्द्रहवें प्रभाव के पहले दोहे की टीका में सरदार कवि ने यह लिखा है—

‘नखशिख प्राचीन पुस्तकन में नाहीं मिलत परन्तु हमारे जान केसब छोड़ ऐसे कवित्त बनावनहार आन नाहीं यातें लिखियतु है।’ (परन्तु हरिचरन दास की टीका में नखशिख वर्णन के कवित्त मिलते हैं।)

इस पुस्तक में रचना का सम्बन्ध नहीं दिया है अतः ठीक समय निर्धारित नहीं हो सकता। पर अनुमान से यह जाना जाता है कि कविप्रिया के पहिले इसकी रचना हुई थी, जैसा कि हम ऊपर भी कह आये हैं, क्योंकि यदि केशवदास ने इनको कविप्रिया ही में से पृथक् किया होता तो जहां तहां के कवित्त छोड़ न जाते। वरन इसके अक्षरों की बैठक और कवित्त की चाल ढाल से तो मैं समझता हूं कि केशवदासजी का प्रथम ग्रन्थ यही है। यह भी एक बंधी हुई बात है कि जब किसी को नया-नया उत्साह कविता करने का उमगता है तो पहिले वह बहुधा नखशिख ही के कवित्त बनाने पर उतारू हो जाता है।

यह पुस्तक मुझ को पंडित मंगरू मिश्रजी (जो कि काशी के एक प्रतिष्ठित विद्वान् हैं) के पुत्र पंडित सिद्धेश्वर शर्मा से प्राप्त हुई है, जिसके कारण मैं उनको धन्यवाद देता हूँ।^१

इन दिनों रत्नाकरजी अपनी पुस्तकों की भूमिकाओं को विशेष महत्त्व नहीं देते थे। भूमिका को वे पुस्तक का सामान्य परिचय मात्र समझते थे। इसी से उसकी भाषा पर उनका विशेष ध्यान न था। हां, जहाँ उन्हें कोई विशेष बात कहनी होती थी, वहाँ वे अवश्य कुछ सम्भल कर लिखने लगते थे। नखशिख की भूमिका में उन्होंने ‘नखशिख’ को केशवदास की प्रथम रचना सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, अतः इसकी भूमिका में भाषा अपेक्षाकृत शुद्ध हो गयी है। विराम-चिह्नों के प्रयोग से भाषा की शिथिलता भी उतनी नहीं खटकती।

भूमिका लिखने के पश्चात् जब रत्नाकरजी अपनी पुस्तक के विषय का प्रति-

पादन करने लगते हैं, तब भी उनकी भाषा अधिक शुद्ध और परिमार्जित हो जाती है। यद्यपि विषय-प्रतिपादन में भी कहीं-कहीं उन्होंने शब्दों के बोल-चाल के स्वरूप को व्यवहृत किया है, तथा कहीं-कहीं वर्तनी एवं व्याकरण सम्बन्धी भूलें भी की हैं, तथापि यहाँ उनकी भाषा भूमिका से अधिक परिमार्जित है। 'घनाक्षरी नियम रत्नाकर' की कतिपय प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस कथन के प्रमाण स्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं। यहाँ भी उनकी भाषा भूमिका की भाषा से अधिक शुद्ध है—

“वास्तव में तो सभी छन्दों की कवित्त संज्ञा है परन्तु आज कल्हलोक व्यवहार में यह शब्द एक विशेष छन्द का वाचक हो गया है जिसका नाम ग्रन्थों में घनाक्षरी तथा दण्डक मिलता है परन्तु २६ वर्ण से अधिक वर्णों के छन्दों को सामान्यतः भी दण्डक कहते हैं अतः घनाक्षरी और कवित्त ये दो संज्ञा इस ग्रन्थ में प्रयुक्त होंगी। देव कवि ने 'काव्य रसायन' नामक ग्रन्थ में इसको 'अनियत दण्डक' और 'घनाक्षरी' के नाम से लिखा है।”^१

रत्नाकरजी ने सन् १९०० के पश्चात् जो लेख सरस्वती, ना० प्र० पत्रिका इत्यादि में लिखे, उनमें भाषा सम्बन्धी इस प्रकार की भूलों का परिहार हो गया है। इस प्रमाण से यह भी सिद्ध होता है कि रत्नाकरजी जब सतर्क होकर लिखते थे, तब भाषा बहुत कुछ निर्दोष हो जाती थी। मार्च सन् १९०२ की 'सरस्वती' में उन्होंने 'वर्ण सवैया छन्द' शीर्षक लेख में इस प्रकार की भाषा प्रयुक्त की है :—

“कई एक छन्दों में जो भाषा में सवैया के नाम से लिखे पढ़े जाते हैं प्रायः देखा जाता है कि जिन जिन स्थानों में गुरु अर्थात् दीर्घ वर्णों के आने का नियम है, उन उन स्थानों में तो गुरु अवश्य आते हैं, जिन जिन स्थानों में लघु अर्थात् ह्रस्व वर्णों के आने का नियम है, उन उन स्थानों में भी बहुधा वर्ण गुरु स्वरूप में पाये जाते हैं, पर शब्दों के यथार्थ रीति पर प्रयुक्त होने के कारण इस रूपान्तर से उन छन्दों की गति नहीं बिगड़ती।”^२

रत्नाकरजी के गद्य की इस भाषा में तथा चार वर्ष पूर्व की भाषा में पर्याप्त अन्तर है। जो रत्नाकरजी कभी 'हमारे प्रति में है', 'वृहद् संग्रह को किया था', 'अनुमान सौ कवित्तों के इनसे अधिक है', 'अपने उक्त मित्र चौबेजी की हार्दिक कृतज्ञता स्वीकार करता हूँ', जैसे वाक्य अथवा वाक्यांश लिखा करते थे, वे ही अब प्रौढ़, व्याकरण सम्मत, एवं परिमार्जित भाषा लिखने लगे थे।

१. 'घनाक्षरी नियम रत्नाकर' पृष्ठ १

२. 'सरस्वती'-मार्च १९०२

द्विवेदी युग का प्रभाव

रत्नाकरजी की इस व्यवस्थित भाषा का कारण सन् १९०० के पश्चात् की साहित्यिक हलचलें हैं। हिन्दी-गद्य के धारावाहिक इतिहास में यह युग द्विवेदी-युग के नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक प्रवर्तन के सामान्य विकास में एक-न-एक युग ऐसा अवश्य आता है, जब अकस्मात् ही उसकी प्रचलित धारा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रकट होने लगता है। परिवर्तन के कारण पहले ही से अपरिलक्षित रूप में उद्भूत होते रहते हैं और जब वे शनैः-शनैः पर्याप्त सबल हो जाते हैं, तब अनायास ही विषय विशेष की इयत्ता में क्रान्ति उपस्थित कर देते हैं। हिन्दी-गद्य के इतिहास में सन् १९०० से लेकर सन् १९२० तक का समय ऐसी ही क्रान्ति का युग है। इसी युग में न्यायालयों में हिन्दी का प्रवेश हुआ, काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों की खोज आरम्भ हुई तथा प्रयाग से आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। यह युग गद्य के व्यापक प्रचार का युग था, अतः तत्कालीन लेखक सावधान होकर व्यवस्थित भाषा लिखने लगे थे।

अभी तक गद्य लेखकों को भारतेन्दु-युग की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ ही प्रेरणा प्रदान कर रही थीं। उनमें एक उमंग थी, एक उत्साह था और उसी के आवेश में वे लिख रहे थे। हिन्दी का स्वतन्त्र अस्तित्व प्रतिपादित करने में वे प्रयत्नशील थे। उनके प्रयास से भाषा में अभिव्यञ्जना-शक्ति तो आयी, परन्तु उसका परिमार्जित स्वरूप फिर भी स्थिर न हो सका। वाक्यों की शिथिलता, तथा व्याकरण की जो अवहेलना पहले से ही चली आ रही थी, वह यथावत विद्यमान थी। अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त करके विश्वविद्यालयों से बाहर आने वाले अनेक नवयुवकों का ध्यान अपनी मातृभाषा की ओर आकर्षित हो रहा था, परन्तु अपनी भाषा की प्रकृति से पूर्णतः परिचित न होने के कारण उनकी गद्य-शैली में विदेशी प्रभाव विस्पष्ट था। अंग्रेजी-पुस्तकों के हिन्दी अनुवादों में मुहावरों तथा लाक्षणिक प्रयोगों का अक्षरशः अनुवाद कर दिया जाता था। कुछ लेखकों के गद्य में बंगला के प्रयोग भी दिखायी देते थे। अधिकांश लेखकों की भाषा में प्रान्तीय प्रयोगों की बहुलता थी। इस अव्यवस्था के निराकरण का प्रयत्न आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने किया।

'सरस्वती' का प्रकाशन संवत् १९५६ से आरम्भ होता है। अन्य अनेक पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन से भी भाषा का स्वरूप स्थिर होने लगा था। संवत् १९६० में द्विवेदीजी 'सरस्वती' के सम्पादक नियुक्त हुए। भाषा की प्रकृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए जिस कठोर अनुशासन एवं नियन्त्रण की आवश्यकता थी, उसके नियामक

द्विवेदी जी ही हुए। उन्होंने तत्कालीन लेखकों की व्याकरण सम्बन्धी भूलों एवं शिथिल रचना-शैली की अत्यन्त कटु आलोचना प्रारम्भ की। इसका परिणाम बड़ा ही शुभ हुआ। लेखक सँभल कर लिखने लगे। पहले से चली आती हुई भाषा सम्बन्धी साधारण दुर्बलताओं का इस प्रकार निवारण हुआ। विराम-चिह्नों का भी समुचित प्रयोग होने लगा, फलतः गद्य का स्वरूप व्यवस्थित एवं स्थिर हो चला।

गद्य-लेख तथा उनकी भाषा-शैली

‘सरस्वती’ के प्रथम प्रकाशन के अवसर पर उसकी सम्पादक समिति में रत्नाकर जो का भी नाम था। सम्पादक समिति में आते ही उन्होंने सावधान होकर लिखना आरम्भ कर दिया था। यही कारण है कि सन् १९०२ में, ‘कवित्त सवैया छंद’ पर उनका जो लेख ‘सरस्वती’ में प्रकाशित हुआ, उसकी भाषा उनके पुराने लेखों से कहीं अधिक प्रौढ़ तथा परिमार्जित थी। मात्र असावधानी के कारण जो भूलें उनके गद्य में रह जाया करती थीं, वे तुरन्त दूर हो गयीं। वस्तुतः परिमार्जित गद्य लिखने की क्षमता उनमें पहले से ही विद्यमान थी, उनका ध्यान केवल अपनी असावधानी की ओर आकर्षित होने की आवश्यकता थी। यह कार्य उस युग की गद्य सम्बन्धी हलचलों ने पूरा कर दिया। अतः उनके लेख अब व्याकरणसम्मत एवं सुव्यवस्थित होने लगे थे।

रत्नाकरजी की भाषा विषयानुकूल होती थी। सामान्य विषयों का प्रतिपादन करते समय वे बड़ी ही सरल भाषा का प्रयोग करते थे। ईदृश भाषा में अभिव्यंजना के साथ ऐसा प्रभाव भी था, जो सरलतापूर्वक विषय को बोधगम्य बना देता था। ऐतिहासिक अथवा पुरातत्वान्वेषक लेखों में उन्होंने ऐसी ही भाषा का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ ‘महाराज शिवाजी का एक नया पत्र’ शीर्षक लेख की भाषा यह है :—

‘तीस बत्तीस बरस बीते होंगे कि मैंने फारसी भाषा के दो छंदोबद्ध ऐतिहासिक पत्र स्वर्गीय श्री बाबा सुमेरसिंह जी साहबजादे के पास गुरुमुखी अक्षरों में लिखे हुए देखे थे। उक्त बाबाजी उस समय पटने में सिक्खों की हरमंदिर नामक सँगत के महंत थे। उन दोनों पत्रों में से एक तो श्री गुरु गोबिन्दसिंह जी का पत्र था जो उन्होंने बादशाह औरंगजेब को लिखा था और दूसरा पत्र श्री छत्रपति महाराजा शिवाजी का श्री मिर्जा राजा जयशाह अर्थात् जयसिंह के नाम था।

जब उक्त महंत जी ने पत्र मुझे सुनाए तो उनकी भाषा इत्यादि कुछ ऐसी रोचक ज्ञात हुई कि मैंने उनसे उनको लिखा देने की प्रार्थना की और उक्त बाबाजी ने सहर्ष उनको मुझे लिखा दिया। उक्त बाबाजी पढ़ते जाते थे और मैं उनको फारसी अक्षरों में

लिखता जाता था । घर लाकर मैंने वे दोनों पत्र किसी पुस्तक में रख दिए और फिर बहुत दिनों तक उसका कुछ ध्यान भी नहीं रहा ।”^१

हां, तो सन् १९२२ में एक ओर तो वे ऐसी सरल हिन्दी लिख रहे थे और दूसरी ओर अपने भाषणों में विषय की गम्भीरता के साथ इस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते थे :—

“.....यह लोगों की भ्रांत धारणा है कि अनुवादों से साहित्य की पर्याप्त वृद्धि होती है । वस्तुतः बात यह है कि चाहे इस प्रकार से अपने साहित्य में क्षणिक प्रकाश आ जाय और अन्यान्य साहित्यों की सामग्री से परिपूर्ण होकर अपना साहित्य भी परिपुष्टि दिखाई पड़ने लगे परन्तु इस प्रकार की परकीय संपत्ति से संपन्न होना लज्जास्पद ही है । प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के आचार व्यवहार, परम्परा प्राप्त संस्कार, इतिहास मर्यादा आदि से ही अनुप्राणित रहता है अतः दूसरे शरीर में प्रवेश करते ही साहित्य के ये प्राण पूर्व शरीर के साथ छूट जाते हैं । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि साहित्य की वृद्धि में अनुवादों का कोई स्थान ही नहीं । आरम्भ में प्रायः अनुवादों की ही बाढ़ आती है । पर वह बाढ़ ऐसी संयत और अनुकूल होनी चाहिये जो आगे चलकर मौलिकता की प्रसविनी हो ।

हमें यह देखते हुए आनन्द और संतोष होता है कि हिंदी में अब मौलिक नाटक तथा उपन्यास भी प्रकाशित होने लगे हैं और इन दोनों प्रकार के साहित्य निर्माण में कई कुशल लेखकों को अच्छी सफलता भी मिली है । नाटकों के सम्बन्ध में यह बात और ध्यान देने की है कि जबतक हमारा अपना रंगमंच न होगा और उसके द्वारा हमारे नाटक लेखकों को अभिनय का अनुभव न प्राप्त होगा तब तक हिंदी में नाट्य कला तथा नाट्य साहित्य की अभिवांछनीय वृद्धि न हो सकेगी । पारसी कम्पनियों के आश्रित रहकर हम अपनी उन्नति कदापि नहीं कर सकते ।”^१

रत्नाकरजी की आलोचनात्मक शैली यही है । उपर्युक्त उद्धरण में साहित्यिक छटा के अतिरिक्त भाव-गाम्भीर्य भी पर्याप्त है । रत्नाकरजी ने यह भाषण सभापति के पद से दिया था, और इसमें सन्देह नहीं कि इसमें उन्होंने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह सभापति-पद के सर्वथा अनुकूल है । अपने युग की साहित्यिक गति-विधि की अभिनिवेशपूर्वक निभ्रान्त समीक्षा करने के कारण उनकी भाषा आपसे आप गम्भीर हो गयी है, किन्तु फिर भी वह दुरूह नहीं है । यही कारण है कि उनकी भाषा

१. देखिए नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ३, संवत् १९८९ पृष्ठ १४१

१. देखिए बीसवें अ० भा० हि० सा० स० के सभापति का भाषण, पृष्ठ १८-१९

में किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं जान पड़ती ।

भाषा के क्षेत्र में रत्नाकरजी न तो क्लिष्ट संस्कृत-पदावली का प्रयोग उचित समझते थे और न वे अग्रचलित अरबी-फारसी शब्दों के ही पक्ष में थे । उन दिनों अधिकांश गद्य-लेखकों की शैली में संस्कृत की तत्समता का प्राबल्य था । पाण्डित्य प्रदर्शन, एवं वाग्जाल के कारण कभी-कभी तो लेखकों की भाषा बोझल होकर अपनी बोधगम्यता ही खो बैठती थी । रत्नाकरजी इस मनोवृत्ति को हिन्दी-गद्य की उन्नति में घातक समझते थे । सन् १९२६ के एक भाषण में उन्होंने कहा था कि^१ :—

“मेरी नम्र सम्मति में तो इसकी वर्तमान प्रगति के विरुद्ध जो एकमात्र

1. “The only thing which can be said against its present line of development is, in my humble opinion, the tendency to Sanskritize it rather too much. This, as I have already noted above, seems to be due to the discarding of common popular words, though highly expressive, and replacing them, either of necessity or wilfully, by Tatsama Sanskrita words. If this practice is allowed to continue unchecked, the High Hindi., it is apprehended, in not a very distant future, will become Hebrew to the populace and will have to be replaced by some fresh form of popular language, thus becoming a dead language like Sanskrita, Prakṛta and Apabhraṁsha. I do not however mean to suggest that the Sanskrita words, which have already begun to be utilised or even such as are easily comprehensible, must be discarded. What I mean is that difficult and uncommon Sanskrita words be employed with due consideration to their suitability and necessity. Then, it would not be improper to bear in mind the necessity of having some bond of friendly intercourse with neighbouring languages.”

Fourth Oriental Conference (Hindi Section)

बात कही जा सकती है वह यही है कि इसे संस्कृत गर्भित बनाने की प्रवृत्ति बहुत अधिक हो गयी है। जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ इसका कारण आवश्यकतावश अथवा ज्ञानबूझकर प्रचलित भाव-व्यंजक शब्दों का बहिष्कार करके उनके स्थान पर संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करना है। यदि इस प्रवृत्ति को रोका न गया तो यह डर है कि निकट भविष्य में ही उत्कृष्ट हिन्दी जनसाधारण के लिए दुरुह तथा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के समान मृत भाषा बन जायगी एवं उसे बोलचाल की भाषा के किसी नवीन स्वरूप से बदल देना पड़ेगा। मेरे कहने का यह आशय नहीं है कि ऐसे संस्कृत शब्द जो प्रचार में आ गये हैं अथवा अन्य ऐसे शब्द जो सरलतापूर्वक समझे जा सकते हैं, बहिष्कृत कर दिये जायें। मेरे कहने का तात्पर्य तो यह है कि आवश्यकता तथा उपयोग के समुचित विचार के पश्चात् ही कठिन तथा अप्रचलित संस्कृत शब्दों का प्रयोग होना चाहिए। निकटवर्ती भाषाओं से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने की आवश्यकता पर भी ध्यान रखना अनुपयुक्त न होगा।”

अपने इसी भाषण में आगे चलकर उन्होंने अरबी-फारसी के अप्रचलित शब्दों के प्रयोग की अपेक्षा लेखकों को प्रान्तीय भाषाओं से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने की सम्मति प्रदान की थी। तात्पर्य यह है कि रत्नाकरजी खड़ी बोली को न तो संस्कृत-बहुला बनी देखना चाहते थे और न वे उसमें फारसी-अरबी शब्दों के प्राचुर्य को ही उचित समझते थे। संस्कृत, फारसी, तथा अरबी के क्लिष्ट शब्दों की अपेक्षा वे ब्रजभाषा, अवधी अथवा हिन्दी के निकट की अन्य प्रान्तीय भाषाओं के प्रचलित शब्दों को ग्रहण करना अधिक समीचीन समझते थे। अपनी कविताओं में कहीं-कहीं उन्होंने स्वयं भी बोलचाल के ऐसे ही सरल शब्दों का प्रयोग किया है। सामान्यतः उनकी भाषाशैली सरल, सुबोध, प्रवाहयुक्त और प्रसाद गुण पूर्ण है। यद्यपि उनकी मनोवृत्ति भी संस्कृत शब्दों की और झुकी हुई दिखायी देती है, परन्तु संस्कृत की क्लिष्ट पदावली से उनके गद्य की भाषा कहीं भी भाराक्रांत नहीं है। इस मनोवृत्ति ने उनके गद्य को कहीं-कहीं बड़ा ही सरल तथा आकर्षक बना दिया है। भावावेश में जहाँ वे चलती हुई भाषा का प्रयोग करने लगते हैं वहाँ उनके गद्य का स्वरूप यह हो जाता है—

“इसी लगाव में मैं कुछ अपने ग्रन्थ प्रकाशकों तथा लेखकों से भी कहना चाहता हूँ। वास्तव में सद्ग्रंथों के आविर्भाव के लिए ये ही लोग उत्तरदायी हैं। यदि ये चाहें तो साहित्य में कूड़ा-करकट न एकत्र हो तथा चुने हुए आवश्यक विषयों पर उच्च कोटि की पुस्तकों का प्रकाशन हो। आजकल जितनी अन्धाधुन्धी पुस्तकों के प्रकाशन की ओर है उतनी न होनी चाहिए। आप कहेंगे, ‘वाह साहब ! कहां तो अभी तक कहीं कुछ हो ही नहीं रहा था, अब जो कुछ इधर होने भी लगा तो लगे

आप काट छांट करने ।' पर आप लोगों को यह स्मरण रखना चाहिए कि बुरा होने से कुछ न होना अच्छा है । यदि बिना किसी विचार के आप किसी कार्य की ओर झुकते हैं तो अवश्य ही ऐसी कुछ वस्तु हाथ लगेगी जिसका स्वप्न में भी ध्यान न किया होगा पर यदि आप लक्ष्य स्थिर करके किसी काम में हाथ लगायेंगे तो यदि आपकी अभिलषित वस्तु न मिली तो उसी प्रकार की कोई न कोई वस्तु अवश्य प्राप्त हो जायगी ।"^१

उपर्युक्त उद्धरण में संस्कृत के जो तत्सम शब्द आये हैं वे दुरुह नहीं हैं । अन्वाहिक व्यवहार में बोले जाने वाले सरल तथा साधारण शब्दों एवं 'हाथ लगना' 'काट-छांट करना' जैसे चलते हुए मुहावरों के प्रयोग से भाषा में पर्याप्त आकर्षण भी आ गया है । अपने इतिवृत्तात्मक लेखों में भी उन्होंने ऐसी ही सरल भाषा का प्रयोग किया है । उदाहरणार्थ 'शुंग-वंश का एक शिलालेख' शीर्षक लेख की यह भाषा द्रष्टव्य है :—

"एक मन्दिर की देहली के नीचे के पत्थर पर डेढ़ पंक्तियां प्राचीन अक्षरों की खुदी हुई हैं । एक दिन मेरी दृष्टि उन पर पड़ी । प्राचीन लिपियों का मुझे भी कुछ परिचय है । अतः मैंने उनको ध्यान से देखा तो उनमें पुष्यमित्र का नाम पढ़ा गया, पर उस समय और कुछ न ज्ञात हुआ । पुष्यमित्र के विषय में मुझे इतना स्मरण था कि वह एक पौराणिक तथा ऐतिहासिक राजा था, और यह भी सुना था कि उसका कोई शिलालेख इत्यादि अब तक नहीं मिला है । अतः वह शिलालेख ऐतिहासिक दृष्टि से मुझे बड़े महत्व का प्रतीत हुआ । यह समझकर मैंने उसकी एक प्रतिलिपि कागज पर लिख ली । घर जाकर जब उनको ध्यानपूर्वक पढ़ा तो यद्यपि प्रतिलिपि में कुछ अशुद्धियां होने के कारण स्पष्ट अर्थ तो न लगा, पर यह निश्चित अवश्य हो गया कि लेख बड़े काम का है ।"^२

'शुंग वंश का नया शिलालेख', 'एक प्राचीन मूर्ति', 'एक ऐतिहासिक पाषाणाश्व की प्राप्ति', 'समुद्रगुप्त का पाषाणाश्व' इत्यादि लेखों में भी रत्नाकरजी ने प्रायः ऐसी ही सरल भाषा का प्रयोग किया है । ये लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका के भाग पाँच, आठ, आठ तथा नौ में क्रमशः प्रकाशित हुए थे । ये सभी लेख सन् १९२४ से सन् १९२८ के बीच में लिखे गये हैं । रत्नाकरजी की सामान्य गद्यशैली यही है । आलोचनात्मक तथा साहित्यिक लेखों में उनकी भाषा अवश्य कुछ गम्भीर, तर्कपूर्ण, तथा संस्कृतगर्भित हो जाती थी । उन्होंने 'महाकवि श्री बिहारीदासजी की जीवनी', 'बिहारी सतसई सम्बन्धी साहित्य'

१. देखिए ब्रीसर्वे अ० भा० हि० सा० स० के सभापति का भाषण पृष्ठ २५-२६

२. देखिए नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ५ सम्बत् १९८१, पृष्ठ ९९

एवं 'साहित्यिक ब्रजभाषा तथा उसके व्याकरण की सामग्री' इत्यादि लेखों में यथेष्ट प्रौढ़ भाषा का प्रयोग किया है।

रत्नाकरजी हिन्दी की निकटवर्ती भाषाओं के सामान्य शब्दों को आत्मसात् कर लेने के पक्ष में थे, अतः कहीं-कहीं उनके लेखों में 'समाई', 'सबों', 'बुझौवल' गुनावन', 'बानक', 'निचास' जैसे प्रान्तीय अथवा बोलचाल के शब्दों का प्रयोग भी दिखायी देता है। कुछ उदाहरण यहाँ उपस्थित हैं :—

“वे विचार में यथासम्भव संक्षेप में ही निवेदित करूंगा, क्योंकि विस्तृत रूप से उन पर विचार करने की समाई इस भाषण में नहीं है।”^१

“संक्षेपतः इतना ही वक्तव्य है कि इन सबों में आरम्भ ही से कविता का सम्मान होता आया है।”^२

“इस प्रकार उस पंक्ति में कुछ लिखा होना तो जान पड़ने लगा, पर रहा वह लेख अभी तक बुझौवल ही।”^३

“गुनावन करते करते एक दिन उसके तीसरे अक्षर को मैंने ‘ग’ निर्धारित किया।”^४

“पर उन कड़ियों के रूप आपस में कुछ ऐसे मिलते-जुलते से दिखाई दिए कि फिर भी उनके पढ़े जाने का कोई बानक न बना।”^५

“अब भी उसके एक भाग में निचास और गहरापन विद्यमान है जिससे बरसाती पानी भर कर कुछ दिनों के लिए उसको एक बड़ा ताल बना देता है।”^६

‘साहित्यिक ब्रजभाषा तथा उसके व्याकरण की सामग्री’ शीर्षक उनका एक लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका के दसवें भाग में, संवत् १९८६ में प्रकाशित हुआ था। यह लेख उन्होंने अपनी मृत्यु के लगभग तीन वर्ष पूर्व लिखा था, अतः इसे उनकी परिपक्व रचना-शैली का नमूना कहा जा सकता है। यह लेख उनके गम्भीर अध्ययन एवं प्रौढ़ विचारों को तो प्रकट करता ही है, साथ ही उनकी गम्भीर और उत्कृष्ट भाषा-शैली का भी सुन्दर उदाहरण है। इस की कुछ पंक्तियाँ ये हैं:—

१. बीसवें अ० भा० हि० सा० स० के सभापति का भाषण पृष्ठ ३

२. प्रथम अखिलभारतीय कवि सम्मेलन (कानपुर) के सभापति का भाषण, पृष्ठ १०

३. ‘समुद्रगुप्त का पाषाणाश्व’ ना० प्र० पत्रिका, भाग, ९ पृष्ठ ७

४. ‘समुद्रगुप्त का पाषाणाश्व’ ना० प्र० पत्रिका, भाग, ९ पृष्ठ ७

५. ‘समुद्रगुप्त का पाषाणाश्व’ ना० प्र० पत्रिका भाग ९ पृष्ठ ६

६. ‘एक प्राचीन मूर्ति’ ना० प्र० पत्रिका भाग ८ पृष्ठ २९७

“जब आर्य जाति की बस्ती तथा सभ्यता उत्तरीय भारत में एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गयी, तब भिन्न भिन्न प्रांतों के लोगों की बोलियों में भेद पड़ने लगा, इतने लम्बे चौड़े तथा भिन्न भिन्न प्रांतिक प्रकृति रखने वाले देश में एक ही प्रकार की बोली का होना भाषा के प्राकृत नियमों के विरुद्ध है, विशेषतः समाज की ऐसी दशा में जब उसके लिखने पढ़ने का प्रचार बहुत सामान्य हो, और छापे का प्रचार सर्वथा न हो। भाषा के सामान्य नियमों अर्थात् सुखोच्चारण, शीघ्रता, और असावधानी इत्यादि एवं प्रांतिक प्रभावों के कारण भाषा में शनैः-शनैः कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। पर प्रत्येक प्रांत की जनता की बोली में ठीक एक ही सा हेर-फेर नहीं होता, जिस के कारण भिन्न-भिन्न प्रांतों की बोलियों में कुछ कुछ भेद पड़ने लगता है, जो आरम्भ में तो बहुत सूक्ष्म रहता है, पर शनैः-शनैः बढ़कर भिन्न भिन्न प्रांतों की बोलियों को भिन्न-भिन्न कर देता है। यह भिन्नता पड़ोसी प्रांतों की बोलियों में इतनी नहीं होती, जितनी दो दूरस्थ प्रांतों की बोलियों में। इसी कारण किसी एक केन्द्र के चारों ओर कुछ दूर तक बोलियों में एक प्रकार का साम्य होता है, और जब उस केन्द्र से किसी प्रांत का अन्तर अधिक हो जाता है, तब उस दूरस्थ प्रांत की बोली का प्रकार किसी अन्य केन्द्र की बोली के मेल का हो जाता है। इस रीति पर विस्तृत देशों में बोलियों के कई केन्द्र अर्थात् प्रकार स्थापित हो जाते हैं। एक एक प्रकार की बोलियों में कुछ ऐसी विशेषता रहती है, जिनसे आपस में तो वे मिलती हैं, पर अन्य प्रकार की बोलियों से भिन्न हो जाती हैं।”^१

यद्यपि इस लेख में उन्होंने लम्बे-लम्बे वाक्यों का प्रयोग किया है, परन्तु विरामादि के समुचित प्रयोग से भाषा का व्यावहारिक एवं बोधगम्य स्वरूप नष्ट नहीं हुआ है। आलोचनात्मक निबन्धों के लिए भाषा पर जिस असाधारण अधिकार की अपेक्षा है, उसकी यहाँ कमी नहीं है। उनकी भाषा में तथ्यातथ्य के गवेषणात्मक निरूपण की जैसी क्षमता दिखायी देती है, वैसी उस युग के कम गद्य-लेखकों में मिलेगी।

यद्यपि गद्य में उनकी रचनाएँ बहुत कम हैं, परन्तु उन्होंने जो लेख लिखे, वे उनकी आलोचनात्मक उपस्थापना-शक्ति और सूक्ष्म गहन विवेचन-क्षमता के असन्दिग्ध प्रत्यायक हैं। घनाक्षरी छन्द पर उन्होंने ‘घनाक्षरी नियम रत्नाकर’ शीर्षक जो पुस्तकाकार निबन्ध प्रकाशित किया था, उससे काशी-कवि-समाज में ही नहीं वरन तत्कालीन सभी ब्रजभाषा कवियों में हलचल मच गयी थी। विभिन्न छन्दों पर लिखे हुए उनके लेख प्रामाणिक समझे जाते थे। ‘शुंग वंश का नया शिलालेख’ शीर्षक लेख के प्रकाशित होने

पर भी पुरातत्वान्वेषी विद्वानों में हलचल मच गयी थी । तात्पर्य यह है कि रत्नाकरजी अपने युग के महाकवि ही नहीं उच्चकोटि के गद्यलेखक भी थे । प्रौढ़ विचारों से ओतप्रोत, उनके अनुसन्धानात्मक लेख उन्हें निर्विवाद रूप से अपने युग का श्रेष्ठ निबन्धकार घोषित करते हैं ।

रत्नाकर की अनुवाद एवं सम्पादन-कला

अनुवाद-कला

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल के प्रारम्भ में साहित्य-सेवियों की रुचि अनुवादों की ओर झुकी हुई दिखायी देती है। इस युग में नवीन चेतना का जो प्रादुर्भाव हुआ था उसके अनुकूल साहित्य का अभाव होने से तत्कालीन विद्वानों का ध्यान अनुवादों की ओर आकर्षित होना सहज स्वाभाविक था।

युग खड़ीबोली का था, किन्तु हिन्दी-साहित्य के प्राङ्गण में खड़ी बोली उन दिनों अपने पैरों पर कलात्मक मुद्रा में खड़े होने का प्राथमिक अभ्यास कर रही थी। उसे एक सहारे की आवश्यकता थी, अतः तत्कालीन विद्वानों ने विभिन्न भाषाओं के उत्तमोत्तम ग्रन्थों का अनुवाद करके उसे यह अवलम्ब प्रदान किया। किसी भी भाषा के प्रारम्भिक काल में अनुवाद उस भाषा के लिये उपयोगी सिद्ध होते हैं। अन्य भाषाओं के उत्तमोत्तम अनुवाद विद्वानों को अपनी भाषा में भी वैसे ही श्रेष्ठ मौलिक ग्रन्थों के प्रणयन की प्रेरणा प्रदान करते हैं, परिणामतः कुछ ही दिनों में उस भाषा में भी महत्वपूर्ण मौलिक पुस्तकों का प्राचुर्य हो जाता है।

किसी भाषा के साहित्य की श्रीवृद्धि मौलिक रचनाओं से तो होती ही है, अनूदित ग्रन्थ भी उसकी समृद्धि में कम सहायक नहीं होते। अंग्रेजी भाषा का महत्व मौलिक रचनाओं के कारण तो है ही, साथ ही अनुवादित पुस्तकों के बाहुल्य से भी उसका महत्व बहुत बढ़ गया है। किसी भी देश के उत्तमोत्तम ग्रन्थों से लाभान्वित होने के लिए आज अंग्रेजी अनुवादों की सहायता ली जा सकती है। भारत में अंग्रेजी-शिक्षा प्रारम्भ हो चुकने के पश्चात् उच्च शिक्षा प्राप्त नवयुवकों को अंग्रेजी के समृद्ध साहित्य की तुलना में तत्कालीन हिन्दी-साहित्य कांति-हीन सा दिखायी दिया, अतः उन लोगों ने अंग्रेजी की श्रेष्ठ पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करके इस त्रुटि के मार्जन का प्रयत्न किया। रत्नाकरजी स्वतः बी० ए० थे, अतः उनका ध्यान भी अंग्रेजी कवि 'पोप' के काव्य ग्रंथ 'ऐसे औन क्रिटीसिज्म' की ओर आकृष्ट हुआ, और 'समालोचनादर्श' नाम से उन्होंने इस सुप्रसिद्ध पुस्तक का पद्यानवाद हिन्दी-भाषा-भाषियों के सम्मुख उपस्थित किया।

रत्नाकरजी के समकालीन कुछ अन्य विद्वान् भी इस ओर प्रयत्नशील थे। आरम्भ में भारतेन्दुबाबू ने संस्कृत, प्राकृत और बंगला की कुछ पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद करके स दिशा में मार्ग-प्रदर्शन किया। कुछ मित्रों की सहायता से उन्होंने शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' का भी अनुवाद किया था। उनके पश्चात् श्रीधर पाठक ने 'गोल्डस्मिथ' की तीन कृतियों के पद्यानुवाद, 'ऊजड़ ग्राम' 'श्रांतपथिक', तथा 'एकान्तवासी योगी' नामों से प्रस्तुत किये। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अंग्रेजी की 'एजुकेशन' और 'लिबरटी' नामक पुस्तकों का क्रमशः 'शिक्षा' तथा 'स्वाधीनता' नाम से अनुवाद किया। अस्तु, हिन्दी के इस युग में अनुवादों की धूम थी। इसी युग-प्रवृत्ति से प्रेरित होकर रत्नाकरजी ने भी 'ऐसे औन क्रिटीसिज्म' का अनुवाद किया। इस युग के अधिकांश अनुवाद खड़ीबोली में ही हुए, परन्तु रत्नाकरजी ब्रजभाषा के अनन्य भक्त थे अतः उन्होंने ब्रजभाषा में ही इस पुस्तक का अनुवाद किया। हिन्दी-साहित्य में ब्रजभाषा के अनूदित ग्रन्थों में 'समालोचनादर्श' तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अनूदित 'लाइट ऑफ एशिया' का अनुवाद 'बुद्धचरित्र' ही विशेष प्रसिद्ध है।

रत्नाकरजी की इस अनूदित कृति का महत्व समझने के लिए 'पोप' तथा उसकी उपर्युक्त रचना पर विचार कर लेना समीचीन होगा। 'पोप' जैसे मेधावी विद्वान् की रचना का ऐसा सफल अनुवाद कोई सरल कार्य नहीं है। अंग्रेजी-साहित्य में पोप का समय सन् १७८८ से सन् १७४४ तक माना जाता है। आलोचना-शास्त्र पर ग्रीक, लैटिन, इटैलियन, फ्रेंच तथा अंग्रेजी की अनेक उत्तमोत्तम पुस्तकों का सार लेकर सन् १५०९ के लगभग 'पोप' ने 'ऐसे औन क्रिटीसिज्म' की रचना की थी। यह पुस्तक सन् १७११ में प्रकाशित हुई थी। इस समय 'पोप' की अवस्था लगभग चौबीस वर्ष की थी। अंग्रेजी में आलोचना जैसे गम्भीर विषय पर यह कृति इतनी महत्व पूर्ण मानी जाती है कि यदि 'पोप' ने इसके अतिरिक्त और कोई पुस्तक न लिखी होती, तब भी उसका नाम अंग्रेजी-साहित्य में सदैव के लिए अमर हो जाता।

'पोप' तथा रत्नाकरजी की कतिपय विशेषताओं में अद्भुत साम्य है। जिस प्रकार 'पोप' अंग्रेजी का 'क्लासिक' कवि है, उसी प्रकार रत्नाकरजी भी हिन्दी के 'क्लासिक' कवि हैं। 'पोप' अठारहवीं शताब्दी का कवि है, इधर रत्नाकरजी शरीर से बीसवीं शताब्दी के कवि होते हुए भी विशिष्ट-अध्ययन तथा रुचि के कारण मध्ययुग के ही कवि थे। जिस प्रकार 'पोप' की रचना में परिवर्तन करने के लिए उसकी कविता के छन्द को ही बदल देना आवश्यक है, उसी प्रकार रत्नाकर जी की

रचनाओं में भी एक शब्द का परिवर्तन सम्भव नहीं है। 'पोप' के 'ऐसे औन क्रिटीसिज्म' के छन्द से 'समालोचनादर्श' के छन्द का भी थोड़ा बहुत साम्य है। 'पोप' ने अपनी रचना 'हीरोइक कपलैट' में लिखी है। इस छन्द का जैसा सफल प्रयोग 'पोप' ने किया, वैसा अन्य कोई अंग्रेजी लेखक नहीं कर सका। रत्नाकरजी ने इस छन्द के लिए रोला छन्द चुनकर अपनी अनुपम सूझ का परिचय दिया है। रोला में ग्यारह और तेरह मात्राओं की यति से प्रत्येक चरण में चौबीस मात्राएँ होती हैं। 'हीरोइक कपलैट' में दस 'सिलेबिल' होते हैं तथा दूसरे, चौथे, छठे, आठवें तथा दसवें 'सिलेबिल' पर यति आती है। इसकी प्रत्येक पंक्ति में एक भावांश पूर्ण हो जाता है तथा दो पंक्तियों में सम्पूर्ण भाव समाप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इस छन्द का साहित्यिक बन्धन पर्याप्त कठोर है। रत्नाकरजी ने रोला छन्द में 'हीरोइक कपलैट' की इसी विशेषता को निभाने का सफल प्रयत्न किया है। रोला तथा 'हीरोइक कपलैट' की गति में भी पर्याप्त साम्य है। 'हीरोइक कपलैट' यदि अंग्रेजी के 'क्लासिक' कवियों का प्रिय छन्द है, तो रोला हिन्दी के 'क्लासिक' कवियों को सदैव प्रिय रहा है। अंग्रेजी साहित्य में यदि 'पोप' 'हीरोइक कपलैट' लिखने में अद्वितीय था तो हिन्दी में रत्नाकरजी भी रोला लिखने में अप्रतिम थे।

रत्नाकरजी की पुष्ट तथा परिमार्जित ब्रजभाषा ने 'पोप' की मूल रचना को सहज ही आत्मसात् कर लिया है। वही अनुप्रासगर्भित ब्रजभाषा, जो उनकी अन्य रचनाओं में विद्यमान है, यहाँ भी अपने अन्तश्चमत्कार से पाठकों का हृदय अनायास ही आकृष्ट कर लेती है।

अनुवाद में प्रयुक्त रोला छन्द 'पोप' की 'हीरोइक कपलैट' के संगीतात्मक प्रवाह को भी ज्यों-का-त्यों निभा देता है। यह भी एक कारण है जिससे इसे पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि 'समालोचनादर्श' उनकी मौलिक रचना है, अनूदित ग्रन्थ नहीं।

'पोप' यदि अंग्रेजी का अध्ययनशील कलाकार था, तो रत्नाकरजी हिन्दी के निष्णात कवि थे। 'ऐसे औन क्रिटीसिज्म' में यदि अंग्रेजी का गाम्भीर्य तथा 'पोप' का पाण्डित्य परिलक्षित होता है तो 'समालोचनादर्श' में रत्नाकरजी की विचक्षणता तथा ब्रजभाषा के प्रौढ़, गम्भीर, एवं परिमार्जित स्वरूप के दर्शन होते हैं। इस कथन के प्रमाणस्वरूप मूल पुस्तक की प्रारम्भिक आठ पंक्तियाँ तथा उनका अनुवाद उपस्थित किया जा सकता है।

something better you must change the kind." (Short History of English Literature by Saintsbury.) page 523.

“Tis hard to say, if greater want of skill
Appear in writing or in judging ill ;
But, of the two, less dang'rous is th' offence
To tire our patience, than mislead our sense,
Some few in that, but numbers err in this,
Ten censure wrong for one who writes amiss ;
A fool might once himself alone expose.
Now one in verse makes many more in prose”.¹

असद काव्य औ सम्मति में, यह कठिन न्याय अति ,
दुष्टि-रंकता अधिक प्रकासत कौन, धीरमति ;
पै दोउ दोषनि में, बरबस अकुतैबौ वित कौ
न्यून हानिकारक सुबिबेकाहि बहकावन सौं ॥
चूकत वामें कछू एक गामें अनेक हैं ,
दूषित दूषन देत दौरि दस लिखत एक है ॥
कूर कोरु इक बेर जगत में निजहि हँसावें ,
पै कुपछ कौ एक गछ में किते बनावें ॥”^२

अनुवाद करते समय एक भाषा की प्रकृति को दूसरी भाषा की प्रकृति में निभा देना कठिन काम है। शब्दों की अर्थव्यञ्जना भाषा की प्रकृति के अनुसार ही होती है, परन्तु मूल एवं अनुवाद की भाषाओं में प्रकृति-भिन्नता के कारण शब्दों की व्यञ्जना-में कभी-कभी पर्याप्त अन्तर हो जाता है, अतः अनुवाद में मूल के भावों की रक्षा करना, साथ ही अनुवाद की भाषा-गत प्रकृति को भी अक्षुण्ण बनाये रखना कठिन होता है। उदाहरणार्थ उपर्युक्त उद्धरण की प्रारम्भिक दो पंक्तियों पर ही विचार कर लेना यथेष्ट होगा। ‘पोप’ की इन पंक्तियों का यदि मात्र शाब्दिक अनुवाद कर दिया जाता तो वह आकर्षण दृष्टिगोचर न होता जो रत्नाकरजी के अनुवाद में दिखायी दे रहा है। यद्यपि मूल तथा अनुवाद में भाव-साम्य है, तथापि अंग्रेजी और ब्रजभाषा की स्वतन्त्र प्रकृति का ध्यान रखते हुए यदि इन पंक्तियों पर विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो ‘पोप’ और ‘रत्नाकर’ दोनों ही के

1. Pope's Essay on Criticism (Edited by John Churton Collins) p. 1.

२. ना० प्र० स० से प्रकाशित ‘रत्नाकर’ पृष्ठ २३ ‘समालोचनादर्श’

मस्तिष्क में ये विचार स्वतन्त्र रूप से उद्भूत हुए हैं तथा दोनों ही ने अपनी-अपनी मातृभाषा में इन्हें निरपेक्ष रूप से व्यक्त किया है। 'want of skill' के लिए बुद्धिरंकता' शब्द कैसा सटीक आया है ! 'धीरमति' का पर्यायवाची शब्द मूल पंक्तियों में नहीं है, परन्तु इस शब्द के प्रयोग से रत्नाकरजी ने ब्रजभाषा की प्रकृति की रक्षा करते हुए उस भाव को भी पूर्णतः आत्मसात् कर लिया है जो मूल पंक्तियों से ध्वनित हो रहा है। आगे चलकर 'offence to tire our patience, ten censure wrong for one' जैसे अंशों के अनुवाद में भी रत्नाकरजी को ऐसी ही सफलता प्राप्त हुई है। अनुवाद और मूल के इस तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट है कि, रत्नाकरजी का अंग्रेजी भाषा पर कैसा पाण्डित्यपूर्ण अधिकार था तथा ब्रजभाषा की प्रकृति को वे कहाँ तक समझते थे।

मूल पुस्तक की नवीं और दसवीं पंक्तियों के अनुवाद में भी उन्हें आश्चर्यजनक सफलता मिली है। 'पोप' की विलक्षण प्रतिभा और अद्भुत सूझ को व्यक्त करने वाली ये पंक्तियाँ अंग्रेजी साहित्य में अतः प्रसिद्ध हैं—

"Tis with our judgements as our watches, none
Go just alike yet each believes his own"¹

"नर बिबेचना, घड़िनि समान, मिलति द्वे नाही ,
पै अपनी अपनी कौं सब पतियात सदाहीं ॥"²

इस अनुवाद में मूल का भाव अविकल रूप से आ गया है, साथ ही ब्रजभाषा की प्रकृति का निर्वाह भी सुन्दरता से हुआ है। रत्नाकरजी की रचनाओं में उक्ति-वैचित्र्य इतना अधिक है कि ये पंक्तियाँ उन्हीं की प्रतीत होती हैं। मूल की पंक्तियों से मिलाकर पढ़े बिना, यह विश्वास ही नहीं होता कि इन पंक्तियों को उनके अतिरिक्त और भी कोई लिख सकता है। 'पोप' की पंक्तियों में जो आकर्षण, प्रसादगुण, तथा माधुर्य है, वही सौन्दर्य रत्नाकरजी की अनूदित पंक्तियों में भी विद्यमान है। ऐसे स्थलों का अनुवाद बड़ा कठिन होता है। यदि शाब्दिक अनुवाद हो जाता है, तो भाव-व्यञ्जना में त्रुटि रह जाती है और यदि भाव-व्यञ्जना पर ध्यान देकर अनुवाद किया जाता है, तो प्रायः मूल की शब्द-योजना का निर्वाह नहीं हो पाता। रत्नाकरजी ने 'पोप' के शब्द-विन्यास तथा भाव-व्यञ्जना को जिस

1. Essay on Criticism p. one V. 9 to 10.

२. समालोचनावर्ग पृष्ठ २४

कौशल से व्यक्त किया है, वह सर्वथा श्लाघ्य है ।

निम्नलिखित उदाहरणों से यह और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा कि 'पोप' के भावों की रक्षा तथा ब्रजभाषा की प्रकृति के निर्वाह का रत्नाकरजी ने कहाँ तक ध्यान रखा है :—

“Authors are partial to their wit 'tis true
But are not critics to their judgement too.”¹

इन पंक्तियों में 'विट' शब्द का प्रयोग महत्वपूर्ण है । 'पोप' ने 'ऐसे औन क्रिटीसिज्म' में 'विट' लगभग पैंतालीस बार प्रयुक्त किया है और प्रायः सभी स्थलों पर यह भिन्न-भिन्न अर्थों में गृहीत है । रत्नाकरजी ने भी यथास्थान 'विट' के लिए भावानुसार भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया है । उपर्युक्त पंक्तियों का अनुवाद यह है :—

“निज रचना को पछछ साँच यह कर्तन माहीं ,
पर निज मत को कहा बिबेचक कौ हठ नाहीं ॥”²

'विट' यहाँ रचना-शक्ति का परिचायक है अतः मूल के भावानुसार उन्होंने 'देअर विट' का अनुवाद 'निज रचना' किया है । 'पोप' की निम्नलिखित पंक्तियों में यही शब्द इस प्रकार आया है :—

In search of wit these lose their common sense
And then turn critics in their own defence.³

रत्नाकरजी ने इन पंक्तियों का अनुवाद इस प्रकार किया है :—

“चमत्कार की खोज माहिं निज बुद्धि नसावें ,
तब अपने बचाव कौ बनन बिबेचक धावें ॥”⁴

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में 'विट' शब्द भिन्न अर्थों में प्रयुक्त है, अतः रत्नाकरजी ने भी एक स्थान पर 'विट' का अर्थ 'निज रचना' तथा दूसरी जगह 'चमत्कार' किया है । इन दोनों ही स्थलों पर उन्हें कवि के मूल भावों की रक्षा करने में अपूर्व सफलता मिली है । जहाँ 'पोप' ने 'विट' का एक ही अर्थ में दो बार प्रयोग किया है, वहाँ उन्होंने भी उसी भाव को व्यक्त करने वाले एक ही शब्द का दो बार प्रयोग करके ब्रजभाषा की भावाभिव्यञ्जक शक्ति का ज्वलन्त प्रमाण उपस्थित कर दिया है :—

१. Essay on Criticism p. 2.

२. समालोचनादर्श पृष्ठ २४

३. Essay on Criticism P. 2. .

४. समालोचनादर्श पृष्ठ २५

“Some have at first for Wits than Poets past
Turned Critics next and prov'd plain fools at last,
Some neither can for Wits not Critics pass.
As heavy mules are neither horse nor ass.”¹

इन पंक्तियों के अनुवाद में ‘विट’ के लिए ‘कोबिद’ का प्रयोग हुआ है।
सम्भवतः यहाँ इससे अच्छा दूसरा शब्द नहीं हो सकता था :—

“केते कोबिद बने प्रथम, पुनि कबि मनमाने ,
बहुरि बिबेचक भए, अंत घोंघा ठहराने ॥
किते न कोबिद न बिबेचक पद के अधिकारी ,
जैसे खर न तुरंग होहि कहूँ खच्चर भारी ॥”²

अनुवाद करना जैसा सुगम कार्य समझा जाता है वस्तुतः वह उतना सरल नहीं है। सच तो यह है कि एक भाषा में व्यवत भावों को दूसरी भाषा की प्रकृति में ढाल देना मौलिक रचना से भी कठिन कार्य है। मौलिक रचनाओं में तो मस्तिष्क में उद्भूत विचारों को प्रौढ़ और सशक्त भाषा में लिखना भर होता है, परन्तु अनुवाद करते समय मूल लेखक के विचारों को भलीभाँति समझ लेने पर भी कभी-कभी किसी विशेष शब्द के लिए अनुवाद की भाषा में पर्यायवाची शब्द ढूँढ़े नहीं मिलता। एक भाषा के गद्य का दूसरी भाषा के गद्य में अनुवाद ही कठिन कार्य है, फिर एक भाषा के काव्य का किसी दूसरी भाषा में काव्यबद्ध अनुवाद तो और भी कठिन है। यह कार्य कोई ऐसा व्यक्ति ही कर सकता है जो मूल ग्रंथकार के समान ही मेधावी और कला-मर्मज्ञ हो तथा मूल भाषा के समान अनुवाद की भाषा पर भी पूर्ण अधिकार रखता हो। रत्नाकरजी स्वतः एक उच्च कोटि के कवि, ब्रजभाषा के पारङ्गत विद्वान एवं अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता थे। यही कारण है कि ‘पोप’ की रचना का वे इतनी कुशलता से अनुवाद कर सके हैं।

कतिपय नवीन शब्द

अनुवाद करते समय कभी-कभी अनुवादक को नवीन शब्द भी गढ़ने पड़ते हैं। इस निर्माण का कारण भी प्रत्येक भाषा की अपनी-अपनी प्रकृति है। किसी भाषा में कोई शब्द ऐसा भी मिल जाता है, जिसके समानान्तर अर्थ-बल-समृद्ध शब्द

१. Essay on Criticism, page 2.

२. समालोचनादर्श पृष्ठ २५

अनुवाद की भाषा में नहीं मिलता। ऐसी ही परिस्थिति में अनुवादक को नये शब्दों की रचना करनी पड़ती है ; परन्तु यह सर्जना समझ-बूझकर ही की जाती है। अनुवादक द्वारा नव निर्मित शब्द मूल शब्द के समान ही सशक्त एवं भाव-व्यञ्जक होना चाहिए। अर्थात् जिस शब्द के लिए नूतन शब्द गढ़ा गया है, उसके पूरे अर्थ को प्रकट करने की उसमें क्षमता भी होनी चाहिये। गढ़ा हुआ शब्द अनुवाद की भाषा की प्रकृति के इतने अनुकूल होना चाहिये कि किसी भी प्रकार वह बाहर का प्रतीत न हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे नव्यतम शब्दों का निर्माण वही अनुवादक कर सकता है जो अनुवाद की भाषा में निष्णात होता है। रत्नाकरजी के समालोचनादर्श में 'भंडेहर', 'बुधंगड़', 'जांचक', 'सिड़वारे' 'भड़ंगी', 'मुटवास' इत्यादि ऐसे ही गढ़े हुए शब्द हैं, जो मूल रचना के कतिपय शब्दों के समानार्थक होकर अनुवाद में आ गये हैं। मूल रचना में प्रयुक्त शब्दों से, अनूदित नवीन शब्दों को मिलाकर देखने से स्पष्ट हो जाता है कि, रत्नाकरजी द्वारा निर्मित शब्द मूल के भावों को अधिकारपूर्वक व्यक्त करने में समर्थ हैं। प्रत्यय हेतु दो-एक उदाहरण उपस्थित हैं।

मूल :

"Some are bewilder'd in the maze of schools.

And some made coxcombs Nature meant but fools"¹

अनुवाद :

"बिद्यालय जालनि में केतिक हे बौराने ,
बने भंडेहर किते, प्रकृतिकृत कूर अयाने ॥"²

मूल :

"Those half-learne'd witlings num'rous in our isle."³

अनुवाद : "ये अबपड़े बुधंगड़ जग में भरे घनेरे ।"⁴

मूल : "Thus Critics, of Less judgement than caprice,
Curious not knowing, not exact but nice."⁵

1. Essay on criticism p. 2.

2. समालोचनादर्श पृष्ठ २४

3. Essay on criticism p. 2.

4. समालोचनादर्श पृष्ठ २५

5. Essay on criticism p. 2.

अनुवाद : “या बिधि जाँचक लघु बिबेक औ बहु सिङ्गारे ,
अद्भुत पै नाहिं सूझ, सुद्ध नाहिं, खुचुर^१ पियारे ।”^२

मूल :—

“Unlucky, as Fungoso in the play,
These sparks with awkward vanity display.”^३

अनुवाद :— “दरसावत भाँड़नि लौं ये दुर्भाग भङ्गी ।”^४

मूल :—

“In the fatage of pleasure, wealth, and ease.”^५

अनुवाद :— “सुख संपत्ति औ चैन कलित मुटवास काल मैं,”^६

तात्पर्य यह है कि रत्नाकरजी ने अपने अनुवाद में ‘पोप’ के भावों की पूर्ण रक्षा की है। ‘पोप’ द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द के लिए उन्हें ब्रजभाषा का समानार्थक तथा उतना ही सशक्त शब्द अनायास ही मिल जाता है। जहाँ उन्हें ऐसी सुविधा नहीं मिलती, वहाँ वे स्वतः नूतन शब्दों का निर्माण करके मूल रचना के भावों की सफल अभिव्यक्ति कर जाते हैं। रत्नाकरजी की इस क्षमता ने उनके अनुवाद में ब्रजभाषा का ऐसा सशक्त, प्रौढ़ एवं प्राञ्जल रूप स्थापित कर दिया है कि ‘पोप’ की मात्र सुपरिचित पंक्तियों के ही अनुवाद को देखकर यह कल्पना हो सकती है कि यह उनकी मौलिक रचना नहीं है, अन्यथा ‘समालोचनादर्श’ पढ़ते समय पाठकों को ऐसा ही प्रतीत होता है मानों वे रत्नाकरजी की ही रचना पढ़ रहे हों। उनकी अनुप्रासप्रियता भी अनुवाद में यथावत् विद्यमान है। मूल के भावों की रक्षा करते हुए, अपनी भाषा को अनुप्रास से सजाकर, उन्होंने इस अनुवाद पर अपनी अमिट छाप लगा दी है। निम्नोक्त उदाहरण में तो अनुवाद की भाषा मूल की भाषा से भी अधिक मधुर और प्रौढ़ है :—

१. ‘खुचुर’ शब्द का अर्थ छिद्रान्वेषण है। बनारस की ओर इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग होता है।

२. समालोचनादर्श पृष्ठ ३८

३. Essay on Criticism p. 9.

४. समालोचनादर्श पृष्ठ ४०

५. Essay on criticism p. 16

६. समालोचनादर्श पृष्ठ ५१

मूल :

“Tho’ each may feel increases and decays,
And see now clearer and now darker days.
Regard not then if wit be old or new,
But blame the false, and value still the true.”¹

अनुवाद :— “जद्यपि प्रति जुग उन्नति औ अवनति अवरेखें ,
कबहुँ दिव्य दिन लखें, कबहुँ अति धूमिल देखें ॥
तातें कविता नव प्राचीन बिचार न कीजें ,
पै असर्वाह निंदा, और सर्वाह सब जस दीजें ॥”²

स्पष्ट ही यहाँ अनुवाद की भाषा अधिक परिमार्जित है। स्वाभाविक रूप से अनुप्रास आ जाने के कारण उसका लालित्य और भी अधिक बढ़ गया है। “may feel increases and decays” की अपेक्षा ‘उन्नति और अवनति अवरेखें’ कहने से भाव धनुष पर चढ़े हुए तीर की तरह शक्तिशाली हो गया है। ‘विट’ शब्द यहाँ भी विशेष अर्थ में प्रयुक्त है। रत्नाकरजी ने इसके लिए ‘कविता’ शब्द का प्रयोग करके अपने अनुवाद को अधिक प्रसादगुणपूर्ण कर दिया है। ‘बट’ शब्द के लिए ब्रजभाषा का ‘पै’ तो बड़ा ही सटीक है।

पोप की त्रुटियाँ और रत्नाकर

अब कुछ ऐसे स्थल भी देख लीजिए जहाँ ‘पोप’ से कुछ भद्दी भूलें हो गयी हैं, परन्तु अनुवाद करते समय रत्नाकरजी ने उन्हें सुधार लिया है। ये भूलें कहीं तो व्याकरण की हैं, और कहीं छंदोभङ्ग सम्बन्धी। कहीं-कहीं व्यर्थ की जटिलता के कारण भी भाव-स्पष्टीकरण में बाधा पड़ी है।

“No monstrous height or breadth or length appear
The whole at once is bold and regular.”³

इन पंक्तियों में appear और regular का अंत्यानुप्रास दोषपूर्ण है। साथ ही क्रिया Appear बहुवचन में है जबकि इसे होना एकवचन में चाहिए। कवि-सुविधा के नाते यह भूल क्षम्य हो सकती है, परन्तु ‘पोप’ जैसे कवि की भाषा में यह

1. Essay on Criticism, p. 13

2. समालोचनादर्श पृष्ठ ४४

3. Essay on Criticism, p. 8

शैथिल्य खटकता ही है। रत्नाकर जी ने इन पंक्तियों का अनुवाद इस प्रकार किया है—

“कोउ उचान लंबान न तौ चौड़ान भयंकर ,
सब मिलि अति उत्कृष्ट लसत अरु अति सुडौल बर ।”^१

रत्नाकरजी ने अपने अनुवाद में वे भूलें नहीं की हैं जो पोप से हो गयी हैं। उनकी भाषा व्याकरण सम्मत है तथा छन्द का संगीतात्मक प्रवाह भी कहीं नहीं बिगड़ा है। अंत्यानुप्रास भी त्रुटिपूर्ण नहीं है। ‘पोप’ की एक और भद्दी भूल देखिए :

“Neglect the rules each verbal critic lays,

For not to know some trifles is a praise.”^२

यहाँ मूल रचना में न्यूनपदत्वदोष है। Lays के पश्चात् Down आना आवश्यक है अन्यथा मूल पंक्ति का अर्थ भ्रामक हो जाता है। छन्द की गति में स्थाना-भाव के कारण ‘पोप’ को lays लिखकर ही आगे बढ़ जाना पड़ा है। Verbal शब्द के प्रयोग से यहाँ विलुप्तत्वदोष भी आ गया है। इन पंक्तियों का अनुवाद यह है :—

सब्दायुध साहित्यकार-कृत-नियम भुलंभौ ,
पे प्रसंस्य कहूँ किती तुच्छ बस्तुहि बिसरंभो ॥”^३

रत्नाकर जी ने verbal critic के लिए ‘सब्दायुध साहित्यकार’ का प्रयोग किया है। इस अनुवाद में वे मूल की जटिलता तो दूर नहीं कर सके हैं, परन्तु न्यून-पदत्वदोष का परिहार अवश्य हो गया है। ‘पोप’ को निम्नोक्त पंक्तियाँ भी विचारणीय हैं—

“Nor suffers Horace more in wrong translations,
By wits, than critics in as wrong quotations”^४

रत्नाकरजी ने इन पंक्तियों का अनुवाद ही नहीं किया है। यहाँ छन्द में शिथिलता तो है ही, शब्दयोजना भी ठीक नहीं है। सम्भवतः ‘पोप’ का आशय यह है कि विद्वानों द्वारा किये हुए दोषयुक्त अनुवाद से ‘होरेस’ की कोई हानि नहीं होती, परन्तु आलोचकों द्वारा उद्धारणों को अशुद्ध उद्धृत करने से उसकी अवश्य हानि होती है; परन्तु पोप की शब्द-योजना से यह अर्थ प्रकट हो सकता है कि अशुद्ध उद्धरणों से आलोचकों की हानि होती है। ‘पोप’ की ये पंक्तियाँ इतनी भ्रामक हैं कि

१. समालोचनादर्श पृष्ठ ३६

२. Essay on Criticism, p. 9.

३. समालोचनादर्श पृष्ठ ३७

४. Essay on Criticism, p. 20.

रत्नाकरजी ने इनका अनुवाद करना भी उचित नहीं समझा है ।

उत्कृष्ट पंक्तियाँ

‘ऐसे आँ क्तिटिसिज्म’ के कतिपय प्रसिद्ध और मार्मिक स्थलों के अनुवाद में भी रत्नाकरजी को अद्भुत सफलता मिली है । ‘पोप’ की कुछ पंक्तियाँ तो अंग्रेजी के प्रत्येक विद्वान की जिह्वा पर नाचा करती हैं । उदाहरणार्थ निम्नोक्त पंक्तियों में ‘पोप’ ने आलोचक के कर्तव्य-कर्म का जो वर्णन किया है, उससे भव्यतर आदर्श और क्या हो सकता है ?

“But where’s the man, who counsel can bestow,
Still pleas’d, to teach, and yet now proud to know
Unbiass’d or by favour, or by spite,
Not duly prepossess’d, nor blindly right,
Though learn’d, well-bred; and tho’ well-bred sincere,
Modestly bold, and humanly severe;
Who to a friend his faults can freely show,
And gladly praise the merit of a foe ?
Blest with a taste exact, yet unconfined;
A knowledge both of books and human kind
Gen’rally converse, a soul exempt from pride;
And love to praise, with reason on his side ?”

इन पंक्तियों का अनुवाद सर्वथा प्रसादगुणपूर्ण है । मूल की रक्षा करते हुए रत्नाकरजी ने यहाँ भावों को कुछ और स्पष्ट कर दिया है । उपर्युक्त बारह पंक्तियों का अनुवाद भी ठीक बारह ही पंक्तियों में किया गया है :—

“कहाँ मिलत पे ऐसी सज्जन सुमति-प्रदानि ,
सीख देन में मुदित, ज्ञान कौ नहिं अभिमानी ?
बिकृत न राग द्वेष सों, अंधी सुदृढ़ नाहीं ;
पहिलहि सों न सढील पच्छ धारें उर माहीं ;
पंडित तऊ सुसील, सुसील तऊ कपटारी ,
निडर नम्रता-सहित, दयाजुत दृढ़मत धारी ,

सकै दिखाय मित्र कौं जो तेहि दोष असंसै ,
 औ सहर्ष सत्रुहं के गुन कौं भाषि प्रसंसै ?
 धारैं रस अनुभव जयार्थ, पै नहिं इक-अंगी ,
 ग्रन्थनि कौ औ मनुष-प्रकृति कौ ज्ञान सुढंगी ,
 अति उदार आलाप हृदय अभिमान बिहीनौ
 औ मन सहित प्रमान प्रसंसा रुचि सौं भीनौ ॥”^१

‘ऐसे औन क्रिटीसिज्म’ की निम्नोक्त पंक्तियाँ भी प्रसिद्ध है। इन के अनुवाद में भी रत्नाकर जी को पूर्ण सफलता मिली है :—

मूल:—

“Good-Nature and good-sense must ever join;
 To err is human, to forgive, divine”²

अनुवाद:—

“सुभ स्वभाव औ सुमति मिलाप निरंतर ठानौ ,
 चूकभरी नर-प्रकृति, क्षमा देवी गुन जानौ ॥”^३

मूल:—

“Great wits sometimes may gloriously offend,
 And rise to faults true critics dare not mend”⁴

अनुवाद:—

“सुकवि, प्रसंसनीय बिधि, भलाई नियम कहूँ तोरहिं ,
 करहिं दोष जिहिं सोधन सद जाँचक सहस नहिं ॥”^५

मूल:—

“Words are like leaves, and where they most abound
 Much fruit of sense beneath is rarely found”⁶

१. समालोचनादर्श, पृष्ठ ५६-५७

२. Essay on Criticism, p. 16.

३. समालोचनादर्श पृष्ठ ५०

४. Essay on Criticism, p. 6

५. समालोचनादर्श पृष्ठ ३१

६. Essay on Criticism, p. 10

अनुवादः—

“सब लसै पातनि लौं, जहँ तिनकी अधिकाई ,
तहाँ अर्थ-फल-लाभ बिसेब न देत दिखाई ॥”¹

कतिपय शिथिल पंक्तियाँ

रत्नाकरजी के अनुवाद में कुछ पंक्तियाँ ऐसी भी हैं जहाँ उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली है। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ उपस्थित हैं :—

मूलः—

“True ease in writing comes from art, art, not chance,
As those move easiest who have learn'd to dance”²

इन दो पंक्तियों का अनुवाद रत्नाकरजी ने चार पंक्तियों में किया है, फिर भी मूल का भाव यथोचित रूप में व्यक्त नहीं हो सका है। अनुवाद यह हैः—

“साँची सुभग सरलता जौ कविता में भावै,
अम्यासहि सौं होहि न, ऐसहि औचक आवे,
जैसे वे, जिन सीख नृत्य बिद्या की पाई,
चल फिर करत सहजतम भाँति, सहित सुघराई ॥”³

मूल पंक्तियों में जो स्वाभाविक भावव्यञ्जना है, वह अनुवाद में नहीं आ सकी है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि नृत्य पाश्चात्य संस्कृति का आवश्यक अङ्ग है। वहाँ सभी स्त्री-पुरुषों के लिए यह प्रायः अनिवार्य है, परन्तु भारतीय संस्कृति में नृत्य उस रूप में गृहीत नहीं है जिस प्रकार वह पाश्चात्य संस्कृति में प्रचलित है। यही कारण है कि “As those move easiest” में जो स्वाभाविकता है, वह ‘चल फिर करत सहजतम भाँति’ में नहीं आ सकी है। ‘सहित सुघराई’ इन दो अतिरिक्त शब्दों को जोड़कर भी, रत्नाकरजी मूल के भाव को यथोचित रूप में व्यक्त नहीं कर सके हैं। ‘अम्यासहि सौं होहि न’, इतने अंश के पश्चात् जो अर्धविराम है, वह भी युक्तियुक्त नहीं है। यह चिन्ह यदि ‘न’ के पहले आ जाता तो अर्थ-व्यञ्जना में अधिक सहायक हो सकता था।

‘पोप’ की निम्नोक्त पंक्तियाँ भी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनके अनुवाद में भी

१. समालोचनादर्श, पृष्ठ ३९

२. Essay on Criticism p. 11

३. समालोचनादर्श, पृष्ठ ४२

रत्नाकरजी को अधिक सफलता नहीं मिली है :—

मूल :—

“We think our fathers fools, so wise we grow
Our wiser sons no doubt will think us so”^१

अनुवाद :— “पुरुषनि मूर्ख गनें, बनें हम इमि बुधिधारी,
निश्चय त्यों गनिहें हमकों संतान हमारी ॥”^२

यहाँ भी अनुवाद की अपेक्षा मूल में प्रसाद गुण अधिक है। अनुवाद में मूल का पूरा भाव भी नहीं आ सका है। “Our wiser sons” का अनुवाद ‘संतान हमारी’ किया गया है जो अधूरा है। मूल की पंक्तियों में जो व्यंग्य है उसका भी निर्वाह अनुवाद में नहीं हो सका। दो-एक ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं जहाँ अनुवाद मूल की अपेक्षा शिथिल है। निम्नोक्त पंक्तियों को उनके अनुवाद से मिला कर देखिए :—

मूल :—

“Envy will merit, as its shade, pursue.
But like a shadow, proves the substance true;”^३

अनुवाद :—

गुनहिं द्वेष नित ताकी छाँह सरिस पछियावे,
पं छाया लौ सार वस्तु कौ सत्य थिरावे ॥”^४

मूल :—

Fools rush in where Angles fear to tread”^५

अनुवाद :—

“मूर्ख धँसे निसंक सुमन जहँ डरि पग धारै ॥”^६

भारतीय वातावरण

रत्नाकरजी ने ‘ऐसे औन क्रिटिसिज्म’ का अनुवाद केवल इस उद्देश्य से किया था

१. Essay on Criticism, p. 14

२. समालोचनादर्श, पृष्ठ ४६

३. Essay on Criticism, p. 14.

४. समालोचनादर्श, पृष्ठ ४७

५. Essay on Criticism, p. 19

६. समालोचनादर्श, पृष्ठ ५६

कि हिन्दी वाले भी आलोचना सम्बन्धी अंग्रेजी के एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ को पढ़कर अपना ज्ञान-वर्धन कर सकें। अतः उन्होंने मूल पुस्तक के उतने अंश का तो ज्यों-का-त्यों अनुवाद कर दिया है जितने में सैद्धान्तिक समीक्षा के तत्त्वों का निरूपण है, परन्तु अन्य स्थलों पर किंचित् स्वेच्छा से काम लिया है। उन्होंने अनुवाद के कुछ अंशों को भारतीय वातावरण के अनुकूल बनाने की भी चेष्टा की है। इसी उद्देश्य से मूल पुस्तक में प्रयुक्त यूरोपीय नामों के स्थान पर भारतीय नामों का प्रयोग कर दिया गया है। ऐसे परिवर्तन व्यक्तियों के नामों में भी हुए हैं, तथा पुस्तक, स्थान और छन्द इत्यादि के नामों में भी। इसी कारण उनका अनुवाद कहीं-कहीं मूल से स्वतन्त्र हो गया है :—

मूल:—

“All books he reads and all he reads assails,
From Dryden’s Fables down to Duffey’s Tales
With him, most authors steal their works or buy,”
Garth did not write his own Dispensary
Name a new Play, and he’s the Poet’s friend,
Nay show’d his faults but when would Poets mend ?¹

अनुवाद:—

“सब ग्रंथनि वे पढ़ें, पढ़ें जो सो सब लूसें ,
तुलसीकृत सौ सुवा-बहतरि लौं सब दूसें ।
इन लेखें चोरें, मोलें, बहु ग्रंथ-रचैया ,
लिखी बिहारीलाल नाहिं दोहा सतसैया ॥
सनमुख उनके कोउ नव नाटक नाम उचारौ ,
तौ झट बोलें, “कबि याको है मित्र हमारौ ॥”
एतहि नहिं बर कहें, दौष यामें हम काढ़े ,
कब काहू की सुनि सुधरत पै कबि मद-बाढ़े ॥”^२

मूल की निम्नलिखित पंक्तियों के अनुवाद में भी पाश्चात्य वातावरण के स्थान पर भारतीय वातावरण की स्थापना हुई है :—

१. Essay on Criticism. p. 19.

२. समालोचनादर्श, पृष्ठ ५५-५६

मूल:—

“When Ajax strives some rock’s vast weight to throw
The line too labours and the words move slow,
Not so when swift Camilla scours the plain,
Flies o’er th’ unbending corn, and skims along the main
Hear how Timotheus’ varied fall and rise !
While at each change, the son of Libyan Jove
Now burns with glory, and then melts with love
Now his fierce eyes with sparkling fury glow,
Now sighs steal out, and tears begin to flow :
Persians and Greeks like turns of nature found,
And the world’s victor stood subdu’d by sound !
The pow’r of Music all our hearts allow,
And what Timotheus was, is Dryden now .”¹

अनुवाद :— “जहँ रावन लै जान चहत हठि हर-गिरि भारी ,
होहि छंद-गति क्लिष्ट सब्हू सिथिलित चारी ,
पे ऐसो नहिं जहँ हनुमत धावन बनि धावत ,
नाघत सिंधु निसंक, लंक-गढ़ कूदि जरावत ॥
देखौ किमि भवभूति-काव्य-बैचित्र्य लुभावै ,
सब प्रकार के भावनि की तरंग उपजावै ।
जब प्रति पलट माहिं दसरथमुत नई रीति सौं ,
कबहुँ तेज सौं तथत, कबहुँ पुनि द्रवत प्रीति सौं ,
कबहुँ नैन बिकराल क्रोध की ज्वालनि जागें ,
कबहुँ उसास उठें औ बहन आंसु दृग लागें ॥
सब देसनि में निज प्रभाव नित प्रकृति बगारति ,
विस्त्र विजयतनि कौ सब्दहिं सौं जय करि डारति ,
सब-माधुरी-सक्ति प्रबल मन मानत सब नर ,
जैसौ हो भवभूति भयो तैसौ पदमाकर ॥”²

१. Essay on Criticism, p. 12,

२. समालोचनावर्ष, पृष्ठ ४३

मूल से अनुवादित पंक्तियों की तुलना करने पर यहाँ भी यही दिखायी देता है कि रत्नाकरजी ने अनुवाद करते समय मूल की विशेष चिन्ता नहीं की है। पाश्चात्य पौराणिक नामों के स्थान पर उन्होंने भारतीय पौराणिक नाम रख दिये हैं। मूल पंक्तियों में यदि पाश्चात्य पौराणिक गाथाओं को इंगित किया गया है तो अनुवाद में भारतीय पौराणिक कथाओं की ओर संकेत है। पूर्ण भारतीय वातावरण रखने के लिए रत्नाकर जी ने मूल में प्रयुक्त Persians and Greeks का अनुवाद ही नहीं किया है। Timotheus के स्थान पर भवभूति तथा Dryden के स्थान पर पद्माकर का नाम लिया गया है। Pow'r of music के स्थान पर 'सद्भ-माधुरी-शक्ति' कह कर काम चला लिया गया है। पद्माकर का नाम 'नर' से तुक मिलाने के लिए ही आया है अन्यथा भवभूति और पद्माकर का क्षेत्र एक दूसरे से भिन्न है। वस्तुतः यहाँ मूल का छायानुवाद ही किया गया है अविकल अनुवाद नहीं। अनुवाद को भारतीय रूप प्रदान करने के उद्देश्य से कतिपय अन्य स्थलों पर भी रत्नाकर जी ने ऐसी ही स्वतन्त्रता से काम लिया है :—

मूल:—

“From the same foes, atlast, both felt their doom,
And the same age saw Learning fall and Rome”^१

अनुवाद:—

“एकहि रिपु सौं अंत बुहुनि की अलहन आई,
भारत औ विद्या एकहि जुग अवनति पाई ।”^२

मूल:—

“A second deluge Learning thus o'er-run,
And the Monks finish'd what the Goths begun”^३

अनुवाद:—

“या बिधि बूजी प्रलय बहुरि विद्या पर आई,
तुकारंभित बिपति, समाप्ति विदजनि सौं पाई ॥”^४

इन प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि रत्नाकरजी ने अनुवाद के अनेक स्थलों पर

१. Essay on Criticism, p. 21.

२. समालोचनादर्श, पृष्ठ ५९

३. Essay on Criticism, p. 21.

४. समालोचनादर्श, पृष्ठ ५९

मूल की उपेक्षा करके उसमें स्वतन्त्र विचारों का समावेश कर दिया है। शुद्ध अनुवाद की दृष्टिसे चाहे उनका यह कार्य युक्तियुक्त न हो, परन्तु उपादेयता की दृष्टि से सर्वथा प्रशंसनीय है। कतिपय पौराणिक सन्दर्भों अथवा यूरोपीय नामों में परिवर्तन करने से कहीं ऐसा तात्त्विक अन्तर उपस्थित नहीं हुआ है, जिससे मूल रचना की प्रमुख विचार-धारा में कोई व्याघात उपस्थिति होता हो। आलोचना सम्बन्धी सैद्धान्तिक समीक्षा के तत्त्वों का उन्होंने अविकल अनुवाद किया है तथा गौण बातों में साधारण परिवर्तन करके उन्हें भारतीय रूप प्रदान कर दिया है। इस विशेषता के कारण यह अनुवाद हिन्दी-पाठकों के बड़े काम की वस्तु बन गया है। हिन्दी के उस युग में आलोचना सम्बन्धी उत्कृष्ट पुस्तकों का अभाव था अतः जिन दिनों 'समालोचनादर्श' प्रथम बार प्रकाशित हुआ, उन दिनों यह अपने ढंग का एकमात्र ग्रन्थ माना जाता था। आलोचकों और लेखकों के लिए यह अनुवाद वर्षों तक मार्ग-प्रदर्शन करता रहा है।

समालोचनादर्श का मौलिक अंश

'पोप' के 'ऐसे औन क्रिटीसिज्म' में कुल सात सौ चवालिस पंक्तियाँ हैं, परन्तु 'समालोचनादर्श' की पंक्ति-संख्या सातसौ चौरासी है। मूल रचना की सात सौ चवालिस पंक्तियों का अनुवाद रत्नाकरजी ने सात सौ साठ पंक्तियों में पूरा कर दिया है। इन पंक्तियों के पश्चात् उन्होंने चौबीस पंक्तियाँ अपनी ओर से लिखी हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो 'समालोचनादर्श' का कुछ अंश 'ऐसे औन क्रिटीसिज्म' का अविकल अनुवाद, कुछ उसका छायानुवाद तथा कुछ अंश पूर्णरूपेण मौलिक भी है। रत्नाकरजी की इन चौबीस मौलिक पंक्तियों में उनका युग बोल रहा है। इन पंक्तियों में अन्तःसाक्ष्य स्वरूप कुछ बातें ऐसी भी हैं जो उनकी तत्कालीन मनोदशा पर पूर्ण प्रकाश डालती हैं।

उन दिनों खड़ीबोली और ब्रजभाषा को लेकर तत्कालीन साहित्यिकों में वाद विवाद चल रहा था। कुछ लोग खड़ी बोली के पक्ष में थे तो कुछ ब्रजभाषा के पक्ष में। इस अन्तहीन खण्डन-मण्डन ने स्पष्ट रूप से दलबन्दी का स्वरूप भी ग्रहण कर लिया था। 'समालोचनादर्श' की निम्नोक्त पंक्तियाँ तत्कालीन इसी परिस्थिति को इंगित कर रही हैं :

“जात खड़ी बोली पं कोऊ भयौ दिवानौ,
कोउ तुकांत बिन पद्य लिखन में है अरुमानो ॥”^१

रत्नाकरजी के समय में भिन्न तुकान्त कविता भी लिखी जाने लगी थी, जो

उन्हें पसन्द न थी । ब्रजभाषा और उसके कवियों की अनुप्रासप्रियता पर भी लोग टीका-टिप्पणी करने लगे थे । ऐसे ही लोगों को लक्ष्य करके उन्होंने कहा था :—

“अनुप्रास कबहूँ न सुकवि की सक्ति घटावें ,
बहु सच पूछौ तौ नव सुझ हियें उपजावें ॥
ब्रजभाषा औ अनुप्रास जिन लेखें फीके ,
मांगहि बिधना सौं ते श्रवन मानुषी नीके ।
हम इन लोगनि हित सारद सौं चहत बिनय करि ,
काहू बिधि इनके हिय की दुर्मति दीजै दरि ॥”^१

अपने समय की इस परिस्थिति से उनका हृदय क्षुब्ध हो उठा था । साहित्यिक उथल-पुथल के इस युग में बहुत से अधकचरे समालोचक और लेखक अपने आपको बहुत-कुछ समझने लगे थे अतः रत्नाकरजी को लिखना पड़ा—

“पै अब केते भए हाय इमि सत्यानासी ,
कवि औ जाँचक रस-अनुभव सौं दोऊ उदासी ,
सब्द अर्थ कौ ज्ञान न कछु राखत उर माहीं ,
सक्ति, निपुनता और अभ्यास लेसहू नाहीं ॥
बिन प्रतिभा के लिखत तथा जाँचत बिबेक बिन ,
अहंकार सौं भरे फिरत फूले नित निस दिन ,
जोरि बटोरि कोऊ साहित्य-ग्रंथ निर्माने ,
अर्थसून्य कहूँ कहूँ बिरोधी लच्छन ठाने ॥”^२

तात्पर्य यह है कि अपने युग की आवश्यकताओं को समझकर ही उन्होंने ‘समालोचनादर्श’ का निर्माण किया था और इसमें सन्देह नहीं कि अपने उद्देश्य में उन्हें पूर्ण सफलता भी मिली । यद्यपि आगे चलकर खड़ीबोली के सामने ब्रजभाषा को निरस्त हो जाना पड़ा तथा हिन्दी के छायावादी युग में भिन्न तुकान्त कविताओं का भी बोलबाला रहा, परन्तु ‘समालोचनादर्श’ के कारण लोगों का ध्यान आलोचना सम्बन्धी सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट हुआ तथा हिन्दी में आलोचना सम्बन्धी मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन भी हुआ ।

रत्नाकर की सम्पादन-कला

रत्नाकरजी कुशल अनुवादक ही नहीं सफल सम्पादक भी थे । उनके पत्रकार-

१. वही, पृष्ठ ६२.

२. वही, पृष्ठ ६१-६२.

जीवन का वास्तविक आरम्भ सन् १८९३ ई० से होता है। 'साहित्य सुधानिधि' नामक मासिक पत्र उन्होंने इसी वर्ष निकालना आरम्भ किया था। रत्नाकरजी तथा बाबू देवकीनन्दन खत्री, सम्मिलित रूप से इस पत्र का सम्पादन करते थे। इसमें नाटक, उपन्यास, विख्यात साहित्यिकों के जीवनचरित्र एवं उत्तमोत्तम गद्यलेख प्रकाशित होते थे। इस सामग्री के अतिरिक्त, प्राचीन कवियों की ऐसी रचनाएँ भी छापी जाती थीं जो उस समय तक कहीं प्रकाशित नहीं हुई थीं। पत्र कुछ ऐसे ढंग से छपता था कि प्रत्येक मास का अङ्क, मुखपृष्ठ के सहित, एक पुस्तक का रूप ग्रहण कर लेता था। इस विशेषता के कारण यह बड़ा लोकप्रिय हो गया था। इसका एक अङ्क 'साहित्य रत्नाकर' (काव्य निरूपण खण्ड) शीर्षक से भी प्रकाशित हुआ था, जिसमें रत्नाकरजी ने संस्कृत तथा हिन्दी-ग्रन्थों के आधार पर काव्य-लक्षण स्थिर किये थे।

'साहित्य सुधानिधि' का वार्षिक चन्दा, डाकखर्च सहित, दो रु० था। इस पत्र के कुछ अङ्कों में 'काशी-कवि-समाज' की पूर्तियाँ भी छापी गयी थीं। पत्र में गद्य लेख कम, परन्तु कविताएँ अधिक छपती थीं। रत्नाकरजी द्वारा सम्पादित कुछ पुस्तकें सर्व प्रथम 'साहित्य-सुधानिधि' में ही प्रकाशित हुई थीं। 'सुजान सागर' ऐसी ही पुस्तक है। इसकी भूमिका में उन्होंने लिखा है कि:—

‘..... फिर भला मुझे कब चैन पड़ने लगा था, अनेक सविनय प्रार्थना और मैत्रिक टेक द्वारा निकाल ही तो लिया और अब आप सब प्रेमियों के प्रमोदाथ (प्रमोदाथ) इसको साहित्य सुधानिधि द्वारा उमंगित भी करता हूँ।’^१

सम्पादित ग्रन्थ

रत्नाकरजी द्वारा सम्पादित पुस्तकों में सब से प्राचीन पुस्तक 'सुधासर' है। इस पुस्तक का सम्पादन उन्होंने सन् १८८७ ई० में किया था। यह एक संग्रह ग्रन्थ है, जिसमें प्राचीन कवियों के शृंगार रसात्मक अनेक कवित्त-सवयें संगृहीत हैं। इस ग्रन्थ के मूल संग्रहकर्ता वृन्दावन निवासी 'नवीन' कवि थे। रत्नाकरजी ने पं० विजयानन्द की सहायता से इस का संशोधन किया था।

चन्द्रशेखर बाजपेयी कृत 'नखशिख' का सम्पादन उन्होंने सन् १८९४ ई० में किया। रत्नाकरजी प्राचीन पुस्तकों की खोज में बड़ा परिश्रम करते थे। जहाँ-कहीं उन्हें किसी प्राचीन पुस्तक का पता लगता, वहीं से वे उसे किसी न किसी प्रकार प्राप्त कर लेते थे। उपर्युक्त 'नखशिख' की प्राचीन प्रति उन्हें चन्द्रशेखरजी के पुत्र श्री गौरीशंकर

बाजपेयी से मिली थी ।

केशवकृत 'नखशिख' का सम्पादन सन् १८९६ ई० में हुआ । इस पुस्तक की भूमिका में रत्नाकरजी ने इसे केशव की पहली रचना माना है; कुछ स्थलों पर पाठ-भेद भी कर दिया है तथा पाद टिप्पणियों में कहीं-कहीं यह सूचना भी दी है कि यहाँ "कवि प्रिया के पाठ से भेद है ।" उदाहरणार्थ पहिले ही दोहे की प्रथम पंक्ति को उन्होंने इस प्रकार लिखा है:—

'नख तैं सिख लों बरनिए देवी दीपति देखि'

इस पंक्ति की पाद टिप्पणी में उन्होंने लिखा है कि, "प्राचीन प्रति में 'ख' के स्थान पर 'ष' है पर इसमें बदल दिया गया है क्योंकि 'ख' के रव पढ़े जाने की शंका से उसके स्थान पर (?) लिखने की परिपाटी चल गई थी पर छापे में उसकी कोई आवश्यकता नहीं" । इसी पृष्ठ पर 'पद पंकज वर्णन' शीर्षक कवित्त की प्रथम पंक्ति पर भी उन्होंने पाद-टिप्पणी लिखी है । कवित्त की प्रथम पंक्ति यह है :—

गंगाजू के अर्धजल कंठ के प्रमान पैठि ,

पढ़ि पढ़ि सूर मंत्र आनन्द बढ़ावहीं ।'

इस पंक्ति के विषय में वे लिखते हैं :—

"बहुधा प्राचीन प्रति में 'ज' के स्थान पर 'य' लिखा है ।" सातवें पृष्ठ पर 'गतिवर्णन' शीर्षक कवित्त के विषय में यह सूचना है कि "यहाँ कविप्रिया के पाठ से भेद है ।" नवें पृष्ठ पर 'अथ अंगुरी तथा मुंदरी वर्णन' शीर्षक कवित्त की अन्तिम पंक्ति यह है :—

'कंचन कलित मनि मुंदरी ललित मानो

लक्ष बेधि बिसिषनि कंठ राखि लीने हैं ।'

इस पंक्ति पर उन्होंने यह पाद-टिप्पणी लिखी है :—

"प्रिय परिजन मन हाथ करि लीने हैं, कविप्रिया में ऐसा पाठ है ।"

इन चार टिप्पणियों के अतिरिक्त इस पुस्तक में और कोई टिप्पणी नहीं है । टिप्पणियों की भाषा भी शिथिल है । उन दिनों वे प्राचीन पुस्तकों को खोजकर एक संक्षिप्त सी भूमिका के साथ उन्हें प्रकाशित कर देना ही पर्याप्त समझते थे ।

उपर्युक्त पुस्तकों की अपेक्षा 'सुजान सागर' के सम्पादन में उन्होंने अधिक परिश्रम किया है । यह पुस्तक सन् १८९७ ई० में प्रकाशित हुई थी । इस पुस्तक की प्राचीन प्रति उन्हें मथुरा निवासी 'नवनीत' जी से प्राप्त हुई थी । सम्भवतः इस हस्तलिखित प्रति में पाठ बहुत शुद्ध न था अतः इसका सम्पादन करते हुए रत्नाकरजी ने अनेक अस्पष्ट शब्दों अथवा पंक्तियों के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिये हैं ।

उदाहरणार्थ:-

पृष्ठ ९९ 'नरजी' छन्द संख्या ४०३

पृष्ठ १०० 'टोड़िक' छन्द संख्या ४०७

पृष्ठ १०१ पूरी पंक्ति छन्द संख्या ४१३

(पंक्ति यह है— "रिझवारन पै गुन गाय रिझावहु
देहल्ली की निछावरि है")

जहाँ उन्हें पाठ में सन्देह हुआ है वहाँ उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है कि 'इसके पाठ में सन्देह है'—जैसे पृष्ठ ३ पर छन्द संख्या ७ में प्रयुक्त 'श्रेय' शब्द के पाठ में उन्होंने शङ्का प्रकट की है। इसी प्रकार सबैया संख्या १३५ की एक पंक्ति इस प्रकार है:—

"बैरै बियोगिन आय सुजान ह्वै हाय कछु उर आनौ कहा तुम"

इस पंक्ति पर पाद-टिप्पणी लिखते हुए वे कहते हैं—'इसका पाठ यों भी मिलता है 'बर वियोगिन आप'। तात्पर्य यह है कि रत्नाकरजी प्राचीन पुस्तकों की खोज में बड़ा परिश्रम करते थे तथा उपलब्ध सभी प्राचीन प्रतियों से पाठ को मिलाकर उसकी शुद्ध अवतारणा का प्रयत्न करते थे।

इन पुस्तकों का सम्पादन करते-करते रत्नाकरजी की सम्पादन-कला बहुत-कुछ निखर गयी थी। यही कारण है कि १९०७ ई० में उन्होंने पं० चन्द्रशेखर बाजपेयी कृत 'हम्मीर हठ' का सम्पादन बड़ी योग्यता से किया। यह पुस्तक लहरी प्रेस काशी से प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक के उपक्रम में उन्होंने मूल लेखक के विषय में प्रायः सभी मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख कर दिया है तथा कवि के जीवन-चरित्र के अतिरिक्त ग्रन्थ के ऐतिहासिक आधार एवं कवि की सृजनात्मिका शक्ति की भी संक्षिप्त किन्तु तात्त्विक समीक्षा की है। उनकी आलोचनात्मक शैली यहाँ बड़ी आकर्षक हो गयी है। उदाहरणार्थ निम्नोक्त पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

"इस ग्रन्थ की कविता बड़ी मनोहर और उमंगवर्धनी है। ओज, माधुर्य और प्रसाद तीनों गुण अपने-अपने स्थान पर सुशोभित हैं। कवि की प्रौढ़ता अक्षरों से प्रगट होती है। बहुधा कवियों के काव्य में भोंडापन आ जाता है, इस दूषण से भी यह ग्रन्थ रहित है। किस अवसर पर कैसे अर्थ का साधन किन शब्दों के द्वारा करना उचित है, इस बात पर कवि जी ने ध्यान रखा है और कृतकार्य भी हुए हैं, जैसे कि मीर मुहम्मद के वचन सुनने के उपरान्त हम्मीर के उत्साह प्रगट करने के हेतु इस दोहे ("भुज फरकत हरषत सुनत, सरनागत की बात। बोले बिहंसि हमीर तब, उमंग न गात समात ॥") से बढ़कर और क्या कहा जा सकता है। क्षत्री जातीय वीरता इससे टपकी पड़ती है। इसी प्रकार मन्त्रियों के समझाने पर जो उत्तर हम्मीर ने दिया ('घड़ नच्चे लोहू बहै,

परि बोले सिर बोलै । कटि-कटि तन रन में परे, तो नहिं देहुं मंगोल ॥') इसमें शरणागत की रक्षा करने की टेक और प्रान को धर्मपालन के हेतु कोई वस्तु न समझना, इन बातों को कैसी दृढ़ता से कवि ने प्रकाश किया है । युद्ध का वर्णन कवि ने उत्तम रीति से किया है । 'बदल समान मुगलदल उड़ें फिरे' बहुत ही प्रबल पद है । जहां हम्मीर के बाहर निकाल कर लड़ने का वर्णन है, लड़ाई का एक चित्र-सा खींच दिया है । अन्त में शान्तरस की उदासी का चित्र भी बहुत अच्छी तरह खींचा है ।

छन्द भी कविजी जहां-तहां बदलते जाते हैं, जिससे दो कार्य साधन होते हैं । प्रथम तो यह कि पढ़ने वाला नये छन्दों के कारण उकताता नही और दूसरे यह कि बहुधा जहाँ जो उचित है वहाँ वह छन्द इस अदल-बदल में पड़ जाता है ।"१

रत्नाकरजी के इस व्याख्यापन से स्पष्ट है कि वे प्रतिभासम्पन्न कवि ही नहीं गुणग्राही आलोचक भी थे । जैसी सहृदयता एवं कुशलता से वे स्वतः काव्यात्मक-सौन्दर्य साधना करते थे, वैसी ही सहानुभूति एवं पाण्डित्य के साथ अन्य कवियों की रचनाओं का मूल्यांकन भी करते थे । 'हम्मीर हठ' की सम्पादन शैली बहुतांश में वही है जिसका पूर्ण परिपाक आगे चलकर शुक्ल जी द्वारा सम्पादित 'पद्मावत' में दृष्टिगोचर होता है । 'हम्मीर हठ' चाहे उतनी प्रौढ़ता से सम्पादित न माना जाय, परन्तु सन् १९०७ में ऐसी शैली में किसी ग्रन्थ का सम्पादन निश्चय हो रत्नाकरजी की सम्पादन-प्रतिभा का सुदृढ़ प्रत्यायक है ।

'हम्मीर हठ' में रत्नाकरजी ने अनेक स्थलों पर पादटिप्पणियाँ देकर ऐतिहासिक पात्रों एवं घटनाओं पर भी प्रकाश डाला है । कुछ स्थलों पर उन्होंने पाठ-भेद भी कर दिया है । जहाँ उन्होंने ऐसा किया है वहाँ पादटिप्पणियों में पाठान्तर किये जाने की सूचना दे दी है । ये पाठान्तर कहीं तुकान्त शुद्ध करने के लिए, तो कहीं-अश्लीलदोष के निवारणार्थ किये गये हैं; परन्तु अधिकांश स्थलों पर उन्होंने पाठ यथातथ ही रहने दिया है ।

'सरस्वती'

रत्नाकरजी का नाम सन् १९०० ई० में 'सरस्वती' की सम्पादक समिति में दृष्टि-गोचर होता है, परन्तु इन्हीं दिनों उन्होंने अवागढ़ में नौकरी कर ली थी अतः 'सरस्वती' से उन्होंने अपना नाम हटा लिया था । अवागढ़ में दो वर्ष तक नौकरी करके वे अयोध्या चले गये, जहाँ सन् १९२१ तक उन्हें राजकीय झँझटों में ही व्यस्त रहना पड़ा । सन् १९००

से लेकर सन १९२१ तक इसी कारण उनकी लेखनी प्रायः विश्राम करती रही है।

टीकाकार रत्नाकर

रत्नाकरजी के जीवन के अन्तिम दस वर्ष “बिहारी सतसई” और ‘सूरसागर’ के सम्पादन में व्यतीत हुए। यद्यपि ‘बिहारी सतसई’ पर चालीस से अधिक टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं, परन्तु ‘बिहारी रत्नाकर’ के टक्कर की टीका कोई नहीं है। यह टीका रत्नाकरजी को अपने युग का श्रेष्ठ टीकाकार प्रमाणित करती है।

‘बिहारी रत्नाकर’ के प्राक्कथन से विदित हो जाता है कि इस पुस्तक के सम्पादन और टीका में रत्नाकरजी को कितना परिश्रम करना पड़ा था। ‘बिहारी सतसई’ का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था। उस समय उपलब्ध इसकी सभी टीकाओं को भी उन्होंने देख लिया था। सतसई के सम्पादन के लिए प्रयत्नपूर्वक उन्होंने जयपुर के राज-पुस्तकालय से भी इसकी एक प्रतिलिपि प्राप्त की थी। बिहारी के दोहों का पूर्वापर क्रम स्थापित करने में उन्होंने विशेष श्रम किया था। ब्रजभाषा-व्याकरण पर उनका असाधारण अधिकार था और इसी अगाध ज्ञान के बल से उन्होंने सतसई के दोहों के प्रत्येक शब्द को प्रामाणिक तथा व्याकरण सम्मत रूप प्रदान किया था। इस टीका में उनके गद्य की भाषा भी सशक्त दिखायी देती है। ‘बिहारी रत्नाकर’ की निम्नोक्त पंक्तियाँ उनकी प्रौढ़ भाषा के उदाहरण स्वरूप ही नहीं, बिहारी रत्नाकर की विशेषताओं की दृष्टि से भी उद्धृत की जा सकती हैं :—

“इस टीका में विशेषतः इस बात का ध्यान रक्खा गया है कि पाठकों की समझ में शब्दार्थ तथा भावार्थ भली भाँति आ जाय। दोहे के शब्दों के पारस्परिक व्याकरणिक सम्बन्ध तथा कारक इत्यादि के स्पष्ट रूप से प्रकट करने का भी यथासम्भव प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक दोहे के पश्चात् उसके कठिन शब्दों के अर्थ दे दिए गए हैं, और फिर उस दोहे के कहे जाने का अवसर, वक्ता, बोधव्य इत्यादि “अवतरण” शीर्षक के अन्तर्गत बतलाए गए हैं। उसके पश्चात् ‘अर्थ’ शीर्षक के अन्तर्गत दोहे का अर्थ लिखा गया है। अर्थ लिखने में जो कोई शब्द अथवा वाक्यांश कठिन ज्ञात हुआ, उसका अर्थ उसके पश्चात् गोल कोष्ठक में दे दिया गया है, और जिस किसी शब्द अथवा वाक्यखंड का अध्याहार करना उचित समझा गया, वह चौखूटे कोष्ठक में रख दिया गया है। जहाँ कहीं कोई विशेष बात कहने की आवश्यकता प्रतीत हुई, वहाँ टिप्पणी रूप से एक भिन्न वाक्यविच्छेद (पैराग्राफ) में लिखी गई है।”

वे इस टीका में प्रत्येक दोहे के अलङ्कार, लक्षणा, व्यञ्जना, ध्वनि इत्यादि साहित्यांगों का स्पष्टीकरण भी करना चाहते थे, परन्तु खेद है कि अपने जीवनकाल में उन्हें इस इच्छा को पूर्ण करने का अवसर न मिल सका ।^२

तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं पर अपने विचार प्रकट करते हुए, सन् १९२२ में उन्होंने जो कुछ कहा, उससे भी यह पता लगता है कि सम्पादन कला के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण क्या था । बीसवें अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था :—

“यद्यपि हमारी-पत्र-पत्रिकाओं की अवस्था बहुत कुछ सन्तोषप्रद हो गई है और होती जाती है तथापि यह कहने में मुझको संकोच न होना चाहिए कि वे अभी पाश्चात्य देशों की पत्र-पत्रिकाओं की परिनिष्ठा तक नहीं पहुंची है । इसके दो कारण प्रतीत होते हैं । एक तो यह कि प्रायः बहुत से सम्पादक अपनी कर्तव्य-गुरुता के अनुरूप श्रम नहीं उठाते । बिना उचित काट छांट के सभी प्रकार के अशुद्ध असंगत, अप्रामाणिक और यथेच्छ लेखों को अविकल प्रकाशित कर देते हैं, दूसरे प्रत्येक पत्र-पत्रिका के सम्पादक का यही प्रयत्न होता है कि वह उसमें प्रत्येक प्रकार के विषय ठूस दे । अतः वह किसी एक विषय को यथेष्ट रूप से अपने पत्र-पत्रिका में सन्निविष्ट नहीं कर सकता । यह वास्तव में अर्थशास्त्रीय (Economics) युग है । अर्थशास्त्र में कर्म-विभाग (Division of Labour) का सिद्धान्त बड़ा ही सुन्दर है । उसी सिद्धान्त का यदि हम अपने पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन में भी व्यवहार करें तो बड़ा अच्छा हो । इस कर्म विभाग से मेरा अभिप्राय इतना ही है कि कार्य और विषय परस्पर विभक्त कर लिए जाएं । इससे कई स्वतन्त्र विषयों की कई आदर्श पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगेंगी । संभव है, व्यावसायिक दृष्टि को अधिक महत्व देने वाले कुछ व्यक्ति इस विचार का अनुमोदन न करें; पर विचार के तथ्य पूर्ण होने में मुझे विश्वास है । इस बात की सम्मति अन्यान्य लोगों से भी मुझे प्राप्त हुई है । दो चार पत्रिकाएं केवल इतिहास पर, दो चार केवल साहित्य पर, और इसी प्रकार दो-दो चार-चार सभी आवश्यक विषयों पर निश्चित रूप में निकलनी चाहिए । इससे साहित्य का बड़ा ही उन्नत उत्कर्ष होगा । यदि किसी की यह धारणा हो कि किसी एक विषय विशेष के पर्याप्त लेखक न मिल सकेंगे तो इसके लिए उद्योग करना चाहिए ।

यही बात मुझे उनके विशेषांकों के लिए भी कहनी है । आजकल विशेषांक

२. रत्नाकर जी के निधन के पश्चात् सन् १९५३ में यह सामग्री “कविवर बिहारी” नाम से प्रकाशित हो चुकी है ।

निकालने की एक विनोदात्मक बाढ़ सी आ गई है। नित्य नई-नई विधि से बड़ी सजधज के साथ किसी न किसी पत्रिका का विशेषांक निकला ही करता है। उसमें लाल पीले कागज पर छपे हुए छोटे बड़े भांति-भांति के विषयों पर लिखे हुए लेख भी दिखाई पड़ते हैं। परन्तु क्या आप दृढ़ता से कह सकते हैं कि उनसे ज्ञान की वृद्धि होती है अथवा हमारी मानसिक वृत्तियों को आगे बढ़ाने में कोई सहायता मिलती है? इसके ठीक विरुद्ध लोगों का द्रव्य नष्ट होता है, लोगों की चेष्टाएं व्यर्थ होती हैं और लेखकों के विचार व्यर्थ में नष्ट किए जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कभी किसी पत्रिका का विशेषांक वास्तव में किसी विषय विशेष से विभूषित होता है, पर अधिकांश पत्रिकाओं के विशेषांक विविध विषय सम्पन्न ही होते हैं। हमें इस ओर ध्यान देकर इसके सुधार की चेष्टा करनी चाहिए।”^१

सूरसागर का सम्पादन

रत्नाकरजी का प्रौढ़तम सम्पादित ग्रन्थ सूरसागर है। अभी तक सूरसागर का कोई सुसम्पादित एवं प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध न था अतः हिन्दी प्रेमियों को कतिपय छोटे-मोटे संग्रहों से ही काम चलाना पड़ता था, किन्तु रत्नाकरजी के परिश्रम से अब सूरसागर के प्रायः समस्त उपलब्ध पदों का शुद्ध पाठ हिन्दी-पाठकों को सुलभ हो गया है।

रत्नाकरजी ने इसके सम्पादन में अथक परिश्रम ही नहीं किया, प्रत्युत सूरसागर की प्राचीन प्रतियों को एकत्रित करने में कई सहस्र रुपये भी व्यय किये थे। यह ग्रन्थ उनकी मृत्यु के पश्चात् ना० प्र० सभा काशी से प्रकाशित हुआ है। इसके प्रकाशन के कुछ वर्षों पूर्व स्वर्गीय बा० श्यामसुन्दरदास ने ‘रत्नाकर’ ग्रन्थ की भूमिका में लिखा था :—

“रत्नाकरजी ने बहुत दिनों तक बहुत अधिक परिश्रम करके और अपने पास का बहुत-सा धन व्यय करके सूरसागर का संग्रह और सम्पादन किया था। वह कार्य आप पूरा नहीं कर सके थे और उसका केवल तीन-चतुर्थांश करके ही स्वर्गवासी हो गये थे। जितना अंश आपने ठीक किया था, उसमें भी अभी कुछ काम बाकी था। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ काम किया था और जो सामग्री आदि एकत्र की थी, वह उनके सुयोग्य पुत्र श्रीयुत राधेकृष्ण जी ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा को समर्पित कर दी और अब सभा उसे ठीक करके उसके प्रकाशन की व्यवस्था कर रही है। आशा है,

बहुत शीघ्र इसका प्रकाशन आरंभ हो जायगा और 'रत्नाकर' का यह सबसे बड़ा रत्न हिन्दी संसार को अपने प्रकाश से चकित और विस्मित कर देगा ।"१ नागरी प्रचारिणी सभा के प्रयत्न से सूरसागर अब प्रकाशित तो हो गया है, परन्तु उसमें प्रधान सम्पादक के रूप में रत्नाकरजी के नाम का उल्लेख नहीं है । इस ग्रन्थ के साथ जो 'सम्पादकीय विज्ञप्ति' प्रकाशित हुई है, उसमें रत्नाकरजी के आभार को असन्दिग्ध रूप से स्वीकार किया गया है, फिर भी उसके पढ़ने से कुछ ऐसा प्रतीत होता है मानो रत्नाकरजी सूरसागर की प्राचीन प्रतियों एवं तत्सम्बन्धी सामग्री के संग्राहक मात्र थे । सम्भवतः स्वर्गीय आत्मा के प्रति यह पूर्ण न्याय नहीं है । इस 'संपादकीय विज्ञप्ति' के कारण रत्नाकरजी की सूरसागर सम्बन्धी साहित्यिक सेवाओं के समुचित मूल्यांकन में थोड़ी-बहुत भ्रान्ति हो सकती है । सूरसागर के सम्पादन में रत्नाकरजी ने वर्षों परिश्रम किया था । अपने जीवन के अन्तिम दस वर्षों में तो वे अपने रोग की भी चिन्ता छोड़कर सूरसागर के सम्पादन में तल्लीन हो गये थे । उन्होंने ही सूरसागर के पदों का क्रम स्थापित किया था तथा पाठशोध के सम्बन्ध में नियम-उपनियमादि भी स्थिर किये थे । अपने जीवनकाल में ही उन्होंने सूरसागर के नवम स्कन्ध तक बहुत कुछ काम पूरा कर लिया था । दशम स्कन्ध के भी अनेक पदों पर पाद-टिप्पणियाँ तैयार कर ली थीं । तात्पर्य यह है कि इस सम्बन्ध में निश्चय ही तीन-चौथाई कार्य उन्होंने अपने जीवन-काल में ही पूरा कर लिया था । इस कथन के प्रमाण स्वरूप सूरसागर सम्बन्धी वह सब सामग्री उपस्थित की जा सकती है, जो रत्नाकरजी के निधन के पश्चात् उनके वंशजों ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा को प्रदान कर दी थी । यह सामग्री सभा को इसी उद्देश्य से दी गयी थी कि सूरसागर सम्बन्धी जो कार्य शेष रह गया है, उसे सभा अपने तत्वावधान में सम्पादित कराकर ग्रन्थ को प्रकाशित करा दे ।

रत्नाकरजी ने सूरसागर का सम्पादन स्वेच्छा से किया था । इस कार्य के लिए न तो उन्हें ना० प्र० सभा ने ही कोई प्रोत्साहन दिया था और न किसी अन्य संस्था अथवा व्यक्ति ने ही कोई प्रेरणा दी थी । रत्नाकरजी द्वारा सम्पादित सूरसागर जैसी पुस्तक को छापने के लिये प्रकाशकों की भी कमी नहीं थी, परन्तु रत्नाकरजी का स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दरदास तथा ना० प्र० सभा के प्रति इतना अधिक स्नेह था कि उन्होंने बिना किसी हिचक के सूरसागर की पाण्डुलिपि बाबू श्यामसुन्दरदास को दे दी थी । इसी स्नेह-सम्बन्ध का विचार करके रत्नाकरजी की मृत्यु के पश्चात् उनके वंशजों ने भी सूरसागर विषयक शेष सामग्री सभा को प्रदान कर दी थी । इतना होते

हुए भी रत्नाकर जी को सूरसागर का प्रमुख सम्पादक न मानना अधिक शोभनीय प्रतीत नहीं होता ।

सम्पादकीय विज्ञप्ति के विषय में ना० प्र० सभा तथा रत्नाकरजी के वंशजों में पत्रव्यवहार भी हुआ था । सम्भवतः सभा के प्रधान मंत्री ने अपने १७ मार्च सन् १९५० के पत्र में इस तथ्य को स्वीकार भी किया था ।

षष्ठ-अध्याय

रत्नाकर की विचार-धारा

राजनीतिक दृष्टिकोण

युग परिस्थितियाँ प्रायः समग्र रूप में समाज के जीवन को आक्रान्त करती हैं, अतः प्राणवान कवि जब अपने युग के जन-जीवन का व्याख्यापन करता है, तब उसकी कृतियों में तत्कालीन वातावरण और मनोवृत्ति का प्रतिबिम्ब सहज ही परिलक्षित होने लगता है।

हिन्दी-साहित्य में राष्ट्रीय नवचेतना की जो प्रतिध्वनि हरिश्चन्द्र-काल से ही सुनायी देने लगती है, उसमें अंग्रेजी शासन के प्रति विद्रोह का स्वर प्रबल नहीं है। इसका कारण धार्मिक और सामाजिक स्वतन्त्रता प्रदान करने वाला अंग्रेजों का वह व्यवस्थित शासन है, जो मुसलमानों के पक्षपातपूर्ण और साम्प्रदायिक शासन के पश्चात् स्थापित हुआ था। इस नवीन शासन में जनसाधारण को सामाजिक स्वतन्त्रता के साथ अपने-अपने धार्मिक विचारों के अनुरूप आचरण करने का भी स्वत्व प्राप्त हुआ था। जज़िया जैसे अपमान से अब त्राण मिल गया था। अतः भारतेन्दु जी ने लिखा:—

“अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी”

परन्तु इस सन्तोष के साथ हृदय में एक अपरितोष भी था। पाश्चात्य संस्कृति और साहित्य के सम्पर्क में आने से जनता के हृदय में वास्तविक देश-भक्ति की भावना उपद्रुत हो उठी थी। अंग्रेजों की शोषणनीति से समाज का उच्च स्तर विक्षुब्ध था, परिणामतः अंग्रेजी राज को सुख देने वाला बताते हुए भी भारतेन्दुजी को कहना पड़ा:—

“पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख़वारी”^१

जैसे-जैसे राजनीतिक परिस्थितियाँ बदलती गयीं वैसे-वैसे हमारा सामाजिक आर्थिक, धार्मिक एवं साहित्यिक जीवन भी परिवर्तित होता गया; फलतः द्विवेदीयुग में राष्ट्र की सम्पूर्ण चेतना एक आवेश के साथ मुखरित हो उठी। जन-एकता, संस्कृति एवं देश-स्तुति के भावों से इस युग का साहित्य अनुप्राणित है। उदाहरणार्थ आचार्य

१. 'भारत-कुङ्कुमा' भारतेन्दु नाटिकावली, प्रथम भाग, पृष्ठ ४५८

२. 'भारतेन्दु नाटिकावली' प्रथम भाग, पृष्ठ ४५८

रत्नाकरजी के जीवन का वह भाग जिसमें वे राष्ट्रीय नव-जाग्रति में विशेष सहयोग प्रदान कर सकते थे कुछ ऐसी परिस्थितियों से घिरा हुआ था कि इच्छा होते हुए भी वे इस दिशा में विशेष कुछ नहीं कर पाते थे। पट्टीदारों के अभियोजन तथा अपने शत्रुओं के पैशुन्य के कारण भी वे बड़े क्षुब्ध थे। सन् १९२२ के पश्चात् उनका स्वास्थ्य भी गिरने लगा था अतः तब वृद्धावस्था, एवं रुग्ण शरीर के कारण वे अपने युग की राजनीतिक एवं सामाजिक हलचलों में विशेष भाग न ले सके।

इन परिस्थितियों के होते हुए भी उनका हृदय देश-भक्ति एवं समाज-सेवा के भावों से परिप्लुत था। सन् १९२२ से ही रत्नाकरजी की विचारधारा देश की नवीन चेतना से सम्बद्ध दिखायी देने लगती है। बीसवें अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में उन्होंने जो भाषण दिया था, उसमें भी वे अपने युग की साहित्यिक गतिविधि पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करते हुए दिखायी देते हैं। इस कथन के प्रमाणस्वरूप उनके ये उद्गार उद्धृत किये जा सकते हैं :—

“इस समय हमारे ही देश में नहीं, वरन समस्त संसार में सर्वतोमुखी क्रांति की उद्भावना हो रही है। इस क्रांति का उद्देश्य प्राचीनता के विरुद्ध—चाहे वह साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक हो—एक घोर आन्दोलन खड़ा करना है।... मैं मानता हूँ कि हमारी गद्य और पद्य की भाषा एक होनी चाहिए। पर इस एकता की प्राप्ति में हमें ऐसा कोई काम न करना चाहिए जो अन्त में हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए हानिकारक हो। राष्ट्रीय जीवन के लिए प्राचीनता का गौरव बड़े काम का होता है। जैसा कि एक विद्वान ने कहा है, यदि किसी जाति को नष्ट करना चाहो, यदि उसे अपनी वश्यता की बेड़ी में सदा जकड़े रहना चाहो, तो उसे आत्म-विस्मृति का पाठ पढ़ाते रहो। उसे अपने आपको भूल जाने दो और इसका सबसे अच्छा उपाय यह है कि उसे अपने प्राचीन गौरवान्वित इतिहास का ज्ञान न होने दो। एक दूसरे विद्वान का कहना है कि खोई हुई स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त हो सकती है, पर खोया हुआ इतिहास पुनः नहीं मिल सकता इन तथ्यों पर हमें ध्यान रखना चाहिए। जिस प्रकार हो सके, हमें अपने पुराने गौरव को नष्ट होने से बचाना चाहिए। इसी में हमारी भलाई है।”

कानपुर के प्रथम अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन में भी उन्होंने ऐसे ही विचार प्रकट किये थे। इस भाषण में ब्रजभाषा के कवियों से सन् १९२५ ई० में उन्होंने कहा था कि—

“ब्रजभाषा के कवियों का कर्तव्य है कि वे अपनी कविता के रंग-ढंग तथा रचना

प्रणाली में समय की आवश्यकता तथा समाज की रूचि के अनुसार कुछ परिवर्तन आरम्भ करें, और केवल नायिका भेद-वर्णन तथा पुरानी बातों का पिष्टपेषण न करके राष्ट्रीय और सामाजिक दृष्टि से उपयोगी विषयों की ओर भी ध्यान दें, जिससे सर्वसाधारण का मनोरंजन ही नहीं, प्रत्युत उपकार भी हो।”^१

अपने इलाहाबाद वाले भाषण में भी उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन का साहित्यिक दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए सन् १९२६ ई० में कहा था कि:—

“यह बड़े आश्चर्य की बात है कि स्वदेशी आन्दोलन भी, जो सभी विदेशी बातों का विरोध करता है, भाषा पर,—जो कि मानव सभ्यता का प्रधानतम अंग है—कोई प्रभाव न डाल सका।”^२ अपने इसी भाषण में उन्होंने खड़ीबोली को ‘भारती-भाषा’ कहे जाने का प्रस्ताव उपस्थित किया था।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि रत्नाकरजी अपने युग की नवीन मनोवृत्तियों से भली-भाँति परिचित थे तथा समय की आवश्यकताओं के अनुसार ही साहित्य का निर्माण करना युक्तियुक्त समझते थे। वे कोरे उपदेशक नहीं, प्रत्युत कन्धे-से-कन्धा भिड़ा-कर काम करने वाले व्यक्ति थे। उन्होंने अपने युग के ब्रजभाषा-कवियों को श्रृंगारिक रचनाएँ छोड़कर राष्ट्रीय एवं सामाजिक दृष्टि से उपयोगी विषयों पर रचना करने का उपदेश ही नहीं दिया, अपितु स्वतः भी इस प्रकार की कविताएँ लिखकर नवीन राष्ट्रीय चेतना में यथाशक्ति सहयोग दिया। महात्मा गांधी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन की सरा-हना करते हुए उन्होंने कहा था:—

“भारत निवासिन कौ सहन-सुभाव देखि ,
बिस्व चकरान्यौ परि बिस्मय भ्रमर में ।
कहै रत्नाकर बिलोकी बीरता तौ बहु ,
ऐसी पर धीरता न नर में अमर में ॥
एक ओर कुंतल कृपान घमसान तोप
एक ओर टूटी हू कडारी ना कमर में ।

१. प्रथम अखिल भारतीय कवि सम्मेलन के प्रधान सभापति का भाषण, पृष्ठ १७-१८.

2. “It is simply a wonder that when the Swadeshi movement while decrying all foreign things, should produce no effect upon the language, which is the most essential element of human civilization.”

भूले से भ्रमे से भकुवाने से बिलोकि रहे
हारि रहे हिंसक अहिंसा के सभर में ॥”^१

राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर उस युग के कवियों ने चरखे को सुदर्शन चक्र का, कारागार को कृष्ण जन्म-भूमि का एवं चरखा-आन्दोलन के प्रवर्तक गांधी जी को कृष्ण का प्रतीक मान लिया था। रत्नाकरजी ने भी अपने युग के इस सङ्गीत में अपना कण्ठ-स्वर मिलाया। अंग्रेजों की धूर्तता और उनकी कूटनीति की निर्भय आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा :—

“जानि बल पोरुष बिहीन दलि दीन भयौ ,
आपने बिगाने हूँ कटाई जाति काँधी है ।
कहै रत्नाकर यौ मति गति साधी मची ,
जाकी क्रांति बेग सौ अलांति महा आँधी है ॥
कुटिल कुचारी के निगीरन मुखारी पर ,
बक्र चाहि चक्र चरखे की फाल बाँधी है ॥
प्रसति गुरंड-ग्राह आरत अथाह परे ,
भारत-गयंद कौ गुबिंद भयौ गाँधी है ॥”^२

देश की स्वतंत्रता के लिए अंग्रेजों से विकट युद्ध करने वाली महारानी लक्ष्मी-बाई की वीरता के वर्णन में भी उनका कवि-हृदय पूर्ण भावुकता से रमा है। सन् १८५७ की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना को अंग्रेज इतिहासकारों की अहंमन्यता चाहे सिपाही विद्रोह से अधिक कुछ न समझे, किन्तु वस्तुतः था यह अंग्रेज जाति के अन्यायपूर्ण शासन के विरुद्ध भारतीय स्वातन्त्र्य युद्ध का प्रथम अनुष्ठान। मध्यभारत और बुन्देलखण्ड में यह युद्ध झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और वीरवर तांतिया की अध्यक्षता में लड़ा गया था। रणस्थल में अंग्रेजों का मुँह फेर देने वाली इस वीर रमणी के साहस और युद्ध-कौशल को रत्नाकरजी ने इन शब्दों में सराहा है :—

“पीठि बाँधि बालक बिराजि बर बाजि ईठि ,
जाकी दौर देखि दीठि छक्ति छली गई ॥

(Fourth Oriental Conference-Hindi Sec.
Presidential Address.

B. Jagannath Das Ratnakar, B. A. page 8.)

१. प्रकीर्ण पद्यावली, पृष्ठ ५७७, छन्द-संख्या ६१

२. वही, पृष्ठ ५६४-५६५, छन्द-संख्या ३०

कहै रतनाकर बिपच्छिनि के कच्छिनि सौं ,
लच्छमी प्रतच्छ अच्छि आगे निकली गई ॥
अचल उदंड बरिबंडनि के मंडल में ,
डंड लौं अखंडल के खंडत हली गई ।
झारति कृपान सौं गुमान ज्वान जंगिनि के ,
फारत फिरंगिनि के फर कौं चली गई ॥”^१

“सेन लै तुरंगी संग सेनप फिरंगी बीर ,
जंगी नारि धीर धाड़ धारिबौ विचार्यौ है ।
कहै रतनाकर भंडेर ग्राम नेरें घेरि ,
राहु कौ रिसाला हाला चंद पर पार्यौ है ॥
रानी लच्छमी त्यों रत-वच्छता प्रतच्छ करि ,
कावा काटि धावा कै समच्छ ललकार्यौ है ।
ठोकर दें अस्व कौं उड़ाइ बेगि बोकरी पै ,
तीखी तरवारि सौं बिबारि महि डार्यौ है ॥”^२

महारानी लक्ष्मीबाई पर लिखा हुआ उनका सम्पूर्ण वीराष्टक ऐसी ही उदात्त भावनाओं से समृद्ध है। उनका कवि-हृदय कभी तो भारत के अतीत-गौरव का स्मरण करके प्रहर्ष से उमड़ पड़ता था और कभी देश की तत्कालीन करुण-दशा देखकर विषाद-पूरित हो उठता था। कभी वे छत्रपति शिवाजी, महाराणा प्रताप और महाराज छत्रसाल का स्मरण करते थे, तो कभी दुर्भाग्य-सागर में डूबते हुए भारत के तमाच्छन्न भविष्य से चिन्ता-कातर हो उठते थे। यद्यपि ताराबाई जैसी भारत की वीर बालाओं का स्मरण आते ही उनका हृदय पुकार उठता था :—

“साजें बीर बाहिनी बरातहि उछाह नोकें ,
बैरिनि की खाल खेंचि दुंदुभि मढ़ावें जो ।
कहै रतनाकर पछाड़ि देस-द्रोहिनि कौं ,
फाड़ि कै करैजो हाड़-भूषन गढ़ावें जो ॥
मातृभूमि-बेदी पै हिए की दाह साखी राखि ,
सबिधि स्वतंत्रता के मंत्रहि पढ़ावें जो ।

१. वीराष्टक, पृष्ठ ५३०, छन्द-संख्या २

२. वही, पृष्ठ ५३१, छन्द-संख्या ३

धाही बर बीर कौँ बरौँ में अनुराग पाणि ,
अरि उर-राँग माँग सेँदुर चढ़ावे जो ॥”^१

परन्तु भारत अब वह भारत नहीं रहा था । अपने ज्ञानालोक से विश्व-मार्ग-प्रदर्शन करने वाले भारत के क्षितिज पर “अज्ञान तिमिर घन” छा रहे थे । विपत्ति की मूसलाधार वृष्टि हो रही थी । नियति-चक्र के इस प्रत्यावर्तन से कवि का हृदय खण्ड-खण्ड हो उठा । घोर निराशा से व्यथित होकर उसने गोवर्धन-धारी को पुकारते हुए कहा:—

“भारत पे दुरभाग्य-प्रबल-ब्रज्जी कोप्यौ है ।

इहिं हिय जानि अनाथ नाथ चाहत लोप्यौ है ॥

महा घोर अज्ञान-तिमिर-घन चहुँ विसि छावत ।

मूसलधार अपार बिपत्ति-जल खल बरसावत ॥

अब धाइ कृपाचल धारि ध्रुव बेगहिं आइ उबारियै ।

नतु गिरिवर-असरन-सरन बाँकौ बिरद बिसारियै ॥”^२

रह-रहकर वह यही सोचता था कि जिस भारत-वसुन्धरा पर कभी राम और कृष्ण जैसी महान् विभूतियों का प्रादुर्भाव हुआ था, वही भारत आज यों गारत हो रहा है ! इसी से “धर्मसंस्थापनार्थाय” भगवान् को पुकारते हुए, उसने कहा:—

“क्या अब कृपा का भी न यह अधिकारी रहा ,

या कुछ कृपा ही ने निठुरपन धारा है ।

कहै रतनाकर उसी की तो दसा है यह ,

जिसको अनेक बार तुमने बुलारा है ॥

हारा बल पौरुष न इष्ट रहा कोई कहीं

एक आपही की दया-दृष्टि का सहारा है ।

हाथ पावँ मारा भी न जाता इससे है अब ,

गारत हुआ यौँ हाय भारत हमारा है ॥”^३

इस प्रकार भगवान् को देश की व्यथा सुनाकर कवि भारतवासियों को सांत्वना प्रदान करने में दत्तचित्त हो जाता है । वह अपने देशवासियों को शरीर और बुद्धि—‘हाथ और माथ’—से कर्मवीर बनने का उपदेश देता है, किन्तु यह उपदेश कोरा उपदेश ही नहीं है । हृदय से निःसृत होने के कारण इस उद्बोधन में ऐसी संवेदनात्मक

१. वही, पृष्ठ ५३४, छन्द-संख्या २

२. प्रकीर्ण पद्यावली, पृष्ठ ५५१, छन्द-संख्या १

३. वही, पृष्ठ ५५२, छन्द-संख्या ४

आत्मीयता भी है जो अनायास ही अन्तस् को स्पर्श करके साहस और कर्मठता उद्दीप्त कर देती है :—

“आरत होहु न भारतवासी सँभारत दुःख सबै ठिल जात है ।
 त्यों रतनाकर हाथ औ माथ हिलाएँ हिमाचल हूँ हिलि जात है ॥
 काह न होत उछाहनि सौँ मूढु कीट हू पाहन में पिलि जात है ।
 आरस त्यागि कै ढारस कीन्हें सुधारस पारस हूँ मिलि जात है ॥”^१

इस आशा का कारण देश की तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक हलचलें थीं । निराशा-निशा का अवसान, तथा मङ्गल प्रभात का उपःकाल उसे निकट ही दिखायी दे रहा था । उस युग का महापुरुष गांधी ही कवि की दृष्टि में ‘भावी भव्य सुभग सुखद सुमनावली का गंधी’ था:—

“आशा-व्योम-मंडल अखंड तम-मंडित मैं
 उषा के शुभागम का आगम जनाता है ।
 उच्च-अभिलाषा-कंज-कलिका अधो मुख को
 प्रान फूँक-फूँक मुकुलित दरसाता है ॥
 भारत-प्रताप भानु उच्च उदयाचल से
 कुहरा कुमुद्वि का चिरस्थित हटाता है ॥
 भावी भव्य सुभग सुखद सुमनावली का
 गंधी गंधवाहक सुगंध लिए आता है ॥”^२

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि रत्नाकरजी के हृदय में देश के प्रति असीम अनुराग था । भारत की अवनति, पराधीनता और लुप्तगीरव-जन्य दयनीयता से उनके हृदय में एक वेदना उद्भूत हो रही थी । देशभक्ति से ओतप्रोत उपर्युक्त अवतरणों में उनके हृदय की यही व्याकुलता फूट पड़ी है ।

राष्ट्रीय तथा सामाजिक दृष्टिकोण

रत्नाकरजी की राष्ट्रीय भावना आज की राष्ट्रीय भावना से कुछ भिन्न थी । वे हिन्दू-संस्कृति से परिवेष्टित एक सबल राष्ट्र का निर्माण देखना चाहते थे । हिन्दुओं की सामाजिक निर्बलताओं को दूर किये बिना ईदृश उन्नत राष्ट्र की कल्पना भी सम्भव न

१. प्रकीर्ण पद्यावली, पृष्ठ ५५२, छन्द-संख्या ३

२. वही, पृष्ठ. ५६३-५६४, छन्द-संख्या २६

थी अतः उनके वीराष्टकों में देश-भक्ति की भावना के साथ प्रायः जातीय उत्थान की भावनाएँ भी घुल-मिल गयी हैं। औरंगजेब की धर्मान्धता तथा कट्टरता की प्रतिक्रिया स्वरूप शिवाजी के युग में जैसा राष्ट्रीय दृष्टिकोण भूषण का बन गया था, हिन्दू-मुस्लिम-दंगों तथा आर्यसमाज के प्रभाव के कारण, स्वामी दयानन्द के युग में बहुत कुछ वैसा ही दृष्टिकोण रतनाकरजी का बन गया था। परन्तु रतनाकरजी ने अपने युग के मुसलमानों के विरोध में प्रत्यक्ष रूप से कभी कुछ नहीं लिखा। हां, महाराणा प्रताप, गुरु गोविन्दसिंह छत्रसाल इत्यादि ऐतिहासिक महापुरुषों तथा हिन्दू-समाज के रक्षकों का स्मरण दिलाकर जहाँ उन्होंने हिन्दू-जाति में वीरोल्लास को जगाने का प्रयत्न किया है, वहाँ मुसलमानों की दूरारूढ़ अभिशक्ति अवश्य है। हिन्दुत्व के पोषक महाराणा प्रताप का उन्होंने यह चित्र उतारा है :—

“म्लेच्छनि के दोन कौ जलाल पायमाल करे ,
रूम के हिलाल-भाल नाल धिर थापै है ।
कहे रतनाकर अरीनि-उर हार देत ,
चार चन्द्रहार उर्बरा के उर आपै है ॥
प्रबल प्रताप जब चढ़त बिलोकि बंक ,
बैरिनि कौ अमित अतंक पूरि तापै है ।
झांपै तुरकनि कौ सितारा धूरि धारा माहि ,
अस्व-टाप हिंदुनि की छाप छिति छापै है ॥”

गुरु गोविन्दसिंह के मुख से उन्होंने देशभक्ति की जो अभिव्यक्ति करवायी है उसमें भी जातीय भावना सजीव हों उठी है :—

“पेठि पठनैटनि के उमगे अंगेठनि में ,
चूर करि ऐंठ सबे धूरि में धुरेदूं में ।
कहै रतनाकर प्रचार्यो गुरु गोबिंद यों ,
मीर मीरजाबनि के धीर धरि फेटूं में ॥
सेखनि की सेखी करि देखत अलेखी सबे ,
दूरि बलि भूरि मुगलदल बपेटूं में ।
भेटूं भव्य भाव देस-भक्त सदपंथिनि के ,
मोहमद-पंथिनि के मोह-मद भेटूं में ॥”

हिन्दुओं की तत्कालीन हीन सामाजिक दशा से रत्नाकरजी का हृदय आहत था। अपने युग के भयानक हिन्दू-मुस्लिम दंगों में उन्होंने असाम्प्रत हिन्दुओं का पराभव देखा था, अतः स्वजाति के अपमान से खिन्न होकर अपनी ओजस्विन् कविता द्वारा उन्होंने हिन्दू-समाज में वीरता के भावों को जगाने का पूर्ण प्रयत्न किया। तथापि ऐसी रचनाओं में भी उन्होंने सम्प्रदायवाद का विष-वमन नहीं किया है। ऐतिहासिक सत्यों का आख्यान यदि साम्प्रदायिकता मात्र है, तब तो सम्प्रदायवाद-संवलित इतिहास को ही अर्धचन्द्र प्रदान कर देना चाहिए; किन्तु क्या रत्नाकरजी ने भी 'हाली' की तरह सम्प्रदायवाद का जहर उगला है? स्वजाति के उत्थान के लिए अपने पूर्वजों की आख्येय वीरता का स्मरण क्या साम्प्रदायिकता है? उन्होंने जो कुछ लिखा था, वह हिन्दुओं में आत्मविश्वास जगाने के लिए ही लिखा था; हिन्दुओं को मुसलमानों के विरुद्ध भड़काने के हेतु नहीं। किसी जाति के अम्युत्थान के लिए उसके अतीत का गौरव अतीव सहायक होता है। इसी दृष्टि से उन्होंने महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, वीर छत्रसाल, गुरु गोविन्दसिंह, महारानी दुर्गावती जैसी प्रातःस्मरणीय विभूतियों की प्रशस्तियाँ लिखी थी। इन महान् आत्माओं ने स्वतन्त्रता और जाति-रक्षा के हेतु अपने प्राण होम दिये थे। ये सभी वीरात्माएँ ऐसी थी जिन्होंने अपनी ओर से कभी मुसलमानों से छेड़छाड़ नहीं की, परन्तु जब उनकी मान-प्रतिष्ठा पर आँच आयी, तब प्राणों का मोह छोड़कर उन्होंने शत्रुओं से लोहा लिया। गुरु गोविन्दसिंह भी इसी कारण म्लेच्छों से प्रतिशोध लेते हैं कि उन्होंने छोटे-छोटे बालकों को जिन्दा ही दीवाल में चुनवा दिया था तथा दूसरे सम्प्रदाय के लोगों को वे बलपूर्वक कलमा पढ़ाना चाहते थे:—

“थापे भीति माहिं जो अभीत जुग बाल बृच्छ
तिनकाँ ययेच्छ म्लेच्छ लौन सौँ सिचाऊँ में ।
कहै रतनाकर लहौर सरहिंद-सेन ,
कुंत-करबार-बान फलनि अधाऊँ में ॥
हम तुम जीवित रहे जो कछु काल तौब
पुरुष अकाल महा महिमा दिखाऊँ में ।
चाहत हमें जो निज कलमा पढ़ावन सो ,
बाह-गुरु मंत्र तब अंत्र में मढ़ाऊँ में ॥”

तात्पर्य यह है कि रत्नाकरजी के वीराष्टक एक ओर तो देशभक्ति की भावनाओं को उद्दीप्त करते हैं, दूसरी ओर हिन्दुओं में जातीय भावनाओं को जगाकर

उनमें वीरता का सञ्चार भी करते हैं। महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि वीरों ने अपने देश की स्वाधीनता, तथा हिन्दू-समाज एवं संस्कृति की रक्षा के लिए ही अनेक आपदाएँ सहन करते हुए मुगलों से जमकर मोर्चा लिया था, अतः ऐसे वीरों की प्रशस्तियों में देशभक्तिके साथ समाज-हित तथा जाति-हित की भावनाओं का पर्यवसित हो जाना सहज सम्भाव्य है।

नारी का अपमान भी उनके भावुक हृदय को क्षुब्ध कर देता था। वे हिन्दू नारी को असहाय अबला बनने की अपेक्षा अपना अपमान करने वाले के लिए रणचण्डी बनी हुई देखना चाहते थे। नारी-जाति को अपने गौरव का स्मरण कराने के हेतु ही उन्होंने नीलदेवी, दुर्गावती, ताराबाई, सुमति, महारानी लक्ष्मीबाई जैसी वीर बालाओं के उदाहरण उपस्थित किये हैं। अपने पति के शव को शत्रुओं से बलपूर्वक छीन लाने वाली नीलदेवी का यह चित्र भला किस नारी के हृदय में शक्ति-सञ्चार नहीं करेगा :—

फूँकिकैं स्वतंत्रता कौ मंत्र सेन-अंत्र माहिं ,
छत्री-धर्म-कर्म की समर्म सुधि छाई है ।
कहै रतनाकर सपूत राजपूतनि कैं ,
पूत-देस-भक्ति-महा-सक्ति जिय ज्याई है ।
दुवन फरेबी कौं फरेब फल देबे काज ,
चाय की रचाय नीलदेबी सुरा प्याई है ।
जमन जरार फौजदार फारि खंजर सौं ,
“पंजर सौं पति को निकासि लास ल्याई है ॥^१

“आसफ की सफ” का सफाया करने वाली तथा आन पर प्राण न्योछावर कर देने वाली रणचण्डी दुर्गावती के ये शब्द-चित्र भी बड़े भव्य हैं :—

देस-प्रेम-पूरन कौं अरि-दल-चूरन कौं ,
सूरनि गुहारि मंत्र-माया किए देति है ।
कहै रतनाकर कृपान कुंत बान घालि ,
अरिनि निकाय कौं निकाया किए देति है ॥
मुंड-हीन दीसत मलेच्छनि के झुंड झुंड ,
मानहु चमुंड प्रतिछाया किए देति है ।
देबी दुरगावती दपेटि दुरगा लौं दौरि ,
आसफ की सफ कौ सफाया किए देति है ॥^२

१. बीराष्टक पृष्ठ ५२८, छन्द-संख्या ६

२. वही पृष्ठ ५२२, छन्द-संख्या ७

“देबी बुरगावतो कराल कालिका सी कोपि ,
काल-बालिका सी रन तारी मारि पहुँची ।
कहै रतनाकर जहाँ ही भीर भारी परो ,
तमकि तहाँ ही किलकारी मारि पहुँची ॥
जब सफ आसफ की अमित अपार महा ,
ताहि गहिबे कौं सेन सारी मारि पहुँची ।
फूटी आँखिहूँ ना तऊ म्लेच्छनि छटारी चही ,
सरग-अटारी पै कटारी मारि पहुँची ॥

भारतीय नारी के स्वार्थ-त्याग और पतिव्रत धर्म के लिए जान पर खेल जाने की मनोवृत्ति ने कवि के हृदय में नारी के प्रति असीम श्रद्धा उत्पन्न कर दी थी । यही कारण है कि रत्नाकरजी को नारी-चरित्र-चित्रण में अपूर्व सफलता मिली है । ‘शृंगार लहरी’ में यदि नारी के आवेशपूर्ण प्रेम का सजीव चित्रण है, तो ‘वीराष्टकों’ में ‘अबला-सबला बनी हुई अपने धर्म में रत दिखायी देती है । प्रिय के लिए सर्वस्व न्योछा-वर कर देने वाली जो रमणी प्रेमावेश में अपने अपूर्व भोलेपन से आकर्षक, किन्तु प्रिय के वियोग में मुरझायी हुई कोमल लतिका के समान दिखायी देती है, वही अपने सतीत्व पर आँच आते देख रणचण्डी भी बन जाती है । पृथ्वीराज की प्रियतमा का यह रौद्ररूप इसी कारण भयानक होते हुए भी आकर्षक है :—

“रानी पृथ्वीराज की निहारति सिंगार-हाट
पारित सु दीठि गथ बिबिध बिसाती पै ।
कहै रतनाकर फिरी त्यों फँसी फंद बीच
लपक्यौ नगीच नीच धरम अराती पै ।
परसत पानि आनबान राजपूती आनि
औचक अचूक घात कीन्ही घूमि घाती पै ।
झटकि झटाक कर पटक धरा पै धरी
काती-नोक गब्बर अकब्बर की छाली पै ॥^२

उनके युग में हिन्दू-समाज अपनी ही कुरीतियों के कारण दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा था । समाज की उपेक्षा से क्षुब्ध होकर बहुत से हिन्दू अपने धर्म का

१. वीराष्टक पृष्ठ ५२३, छन्द-संख्या ८

२. प्रकीर्ण पद्यावली पृष्ठ ५८९, छन्द-संख्या ९३

परित्याग करके ईसाई अथवा मुसलमान बनते जा रहे थे । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दुओं की इस सामाजिक संकीर्णता को दूर करने के लिए शुद्धि-आन्दोलन प्रारम्भ किया । रत्नाकरजी कट्टर सनातन धर्मी होते हुए भी इस आन्दोलन के पूर्ण पक्षपाती थे । हिन्दुओं की संकीर्ण मनोवृत्ति का विरोध करते हुए उन्होंने कहा था :—

“कुछ हूँ मलेच्छनि की सुद्धि के विरुद्ध बने
जाल जे कुबुद्धि तनै उद्धत अङ्गा कौ ।
कहै रतनाकर न संकुचित होत रंच
परम प्रपंच रचै दंभ अरु दंगा कौ ॥
लाइ कै लबार हरताल निगमागम पै
छाड़ कै बिकार निज कुमति कुङ्गा कौ ।
झांप हरिनाम के प्रताप पर पारत हें
गारत है गौरव गंवार गुनि गंगा कौ ॥”

‘शुद्धि’ को धर्म विरुद्ध समझने वाले सनातनी हिन्दुओं की विगलित बुद्धि पर रत्नाकरजी को दया आती थी । भगवान् का पावन नाम यदि हिन्दुओं के मलेच्छ बन जाने पर उन्हें पुनः पवित्र करके हिन्दू नहीं बना सकता, तो वही नाम उन्हें यम-पाश से छुड़ाकर भला स्वर्ग में कैसे स्थान दिला सकेगा ? इसीलिए उन्होंने कहा—

“मानत हुते कै यह मंजुल महान मंत्र ,
सब सुख - साधन की सिद्धि उपजावंगौ ।
कहै रतनाकर पै धरम-धुरीननि सौं ,
जानि पर्यौ सो तौ कछु काम नहि आवंगौ ।
मलेच्छनि के रंचक प्रपंच-पंच सौं जो ऐंचि ,
हिन्दुनि की पाँति में सुभाँति ना बिठावंगौ ।
सोई हरिनाम जम-पास तैं निकासि कहा
सुखद सुपास सुर-बास में बसावंगौ ॥”

‘शुद्धि’ का विरोध करने वाले वस्तुतः अंधविश्वासी और रुढ़िवादी लोग थे । धर्म के वास्तविक रूप से अनभिज्ञ होने के कारण ये लोग बाह्याडम्बर को

ही धर्म समझते थे । उन्हें यह नहीं सूझता था कि उनके बेढंगे परमार्थ में हिन्दू समाज के स्वार्थ का बलिदान हो रहा है । धर्म की दुहाई देने वाले धर्मान्ध रुढ़िवादी यह नहीं समझ पाते थे कि भगवान् का नाम पावन ही नहीं पतित पावन भी है ;^१ अतः जिस प्रकार तुलसी ने वेद-पुराण के निन्दकों एवं 'साखी सबदी दोहरा' कहकर भक्ति का निरूपण करने वालों की भत्सना की थी, उसी प्रकार रत्नाकरजी ने भी अपने युग के रुढ़िवादियों को बुरी तरह फटकारा:—

“बेद कौं न मानै ना पुरान भेद जानें कछू
ठानें ठान आपने लबेद अड़बंग की ।
कहै रतनाकर नसाये सुद्ध स्वारथ हूँ
आड़ में अनोखे परमारथ - भड़ंगा की ॥
जैन अरु बुद्ध स्वामि-संकर किये जो सुद्ध
ताहू के बिरुद्ध जुक्ति जोरत लफंगा की ।
भक्ति तौ बखाने पर रंचक प्रमानें सक्ति
गुरु की न गोबिंद की गाय की न गंगा की ॥”^२

रत्नाकरजी हिन्दू-समाज को रुढ़िवादी कुरीतियों से मुक्त करके एक संघठित रूप प्रदान करना चाहते थे । इसीलिए वे समाज को बारम्बार उसके प्राचीन गौरव का स्मरण कराकर सचेत करते रहते थे । समाज के अधःपतन का कारण उसकी अकर्मण्यता और कुरीतियाँ ही थीं; अतः इन कुरीतियों पर निर्मम प्रहार करने में रत्नाकरजी कभी नहीं चूके । दीपावली के अवसर पर द्यूत-क्रीड़ा की प्रथा को वे इस प्रकार परिवर्तित कर देना चाहते थे:—

“अहो आर्य संतान मान उन्नत अति धारी ।
सब मिलि अब इहि भाँति मनाऔ दिव्य दिवारी ॥
ज्ञान-दीप की मंजु माल उर-अंतर मेलौ ।
उन्नति-चौसर चारु प्रान पन सौं खुलि खेलौ ॥
सुभ मनसा बाचा कर्म के अच्छ दच्छताजुत धरौ ।
जुग बाँधि साधि निज चाल चलि सार काढ़ि बाहिर करौ ॥”^३

१. किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुत्कसा आभीरकंका यमनाः खसावयः ।

येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्धयन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥ भाग० २।४।१८

२. प्रकीर्ण पद्यावली, पृष्ठ ५५४, छन्द-संख्या ३

३. वही, पृष्ठ ५५१, छन्द-संख्या २

अस्तु, रत्नाकरजी केवल सफल कवि ही नहीं, उच्चकोटि के समाज सुधारक भी थे। अपने युग की नवीन जाग्रति और आवश्यकताओं को समझकर कवि-कर्म द्वारा उन्होंने देश और समाज के उत्कर्ष में पूर्ण सहयोग प्रदान किया था।

दार्शनिक दृष्टिकोण

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में कहा जा चुका है कि रत्नाकरजी गौड़ीय माध्व सम्प्रदाय के अनुयायी थे अतः उनका माध्व-दर्शन से प्रभावित होना सहज स्वाभाविक है। [दर्शन-शास्त्र का मुख्य विषय जीवन है। वैसे तो कवि, उपन्यासकार, नाटककार इत्यादि जीवन की ही व्याख्या करते हैं, परन्तु जीवन की व्याख्या में दार्शनिक का दृष्टिकोण विशिष्ट होता है। इसी से उसका जीवन सम्बन्धी अध्ययन साहित्यिक दृग्बिन्दु से पृथक् हो जाता है। दर्शनशास्त्र मानव जीवन को अखिल ब्रह्मांड के बीच में रख कर देखता है। दार्शनिक जानना चाहता है कि ब्रह्मांड की समग्रता में मानव-अस्तित्व का क्या महत्व है।]

विभिन्न-दर्शन शास्त्रियों ने इसी दृष्टि से जीवन का अध्ययन किया है। मध्य-युगीन धार्मिक आन्दोलनों के प्रवर्तक अनेक आचार्यों ने कतिपय तत्त्वान्वेषियों के ज्ञान-मूलक विचारों का अपने-अपने दृष्टिकोण से खण्डन किया, फलतः भारतीय दर्शन के इतिहास में जीवन की विभिन्न व्याख्याएँ उपस्थित हो गयीं। दर्शनशास्त्र में शङ्कराचार्य का अधीत-अभिमत अद्वैत वेदान्त कहलाता है। मध्वाचार्य ने अपने द्वैतसिद्धांत से शङ्कर के अद्वैतवाद का खण्डन किया था। शङ्कराचार्य मुक्तजीवन और ईश्वर की एकता स्वीकार करते हैं, परन्तु मध्वाचार्य ईश्वर और जीव की सत्ता अलग-अलग मानते हुए दोनों को चेतन और नित्य स्वीकार करते हैं। मध्वाचार्य के मतानुसार ज्ञाता और ज्ञेय का स्वतंत्र अस्तित्व माने बिना ज्ञान सम्भव नहीं है। जीवन और ईश्वर में उन्होंने स्पष्ट भेद स्वीकार किया है। ईश्वर सर्वशक्तिवान और सर्वज्ञ है, परन्तु अज्ञान से युक्त, माया-मोहित ब्रह्म जीव न तो सर्वज्ञ ही है और न उसमें वैसी शक्ति ही है। इन भेदों को माने बिना व्यवहार नहीं चल सकता। मध्वाचार्य ने इन्हीं तर्कों के आधार पर शङ्कर के अध्यास और विवर्त्त-सिद्धान्त की प्रतिकूल आलोचना की है। रत्नाकरजी को उद्धवशतक में अपने दार्शनिक विचारों को प्रकट करने का सहज ही अवसर मिल गया है। उनके दार्शनिक दृष्टिकोण पर मध्वाचार्य का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है, किन्तु जिस प्रकार उनके धार्मिक विचार उदार थे, उसी प्रकार दार्शनिक दृष्टिकोण भी विशालतर था।

भ्रमरगीत-काव्य-रत्नों में 'उद्धवशतक' अपनी रंगोज्ज्वलता में बेजोड़ है—निराला है। इस ग्रन्थ में रत्नाकरजी की भावना सूर और नन्ददास जैसे कवियों

की भक्ति-भावना से टक्कर लेती है। अन्य भ्रमरगीतों के समान यहाँ भी गोपियों की विरह-व्यञ्जना वस्तुतः भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति है। उद्धव ज्ञान-वरिष्ठ दार्शनिकों के प्रतीक हैं, तो गोपियाँ ज्ञान-कनिष्ठ साधारण जनता का प्रतिनिधित्व करती हैं।

रत्नाकरजी ने उद्धव के मुख से जिन दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण करवाया है, वे सभी प्राचीन तथा चिर परिचित सिद्धान्त हैं। उद्धव की विचारधारा अद्वैतवाद के सिद्धान्तों से परिपुष्ट है। रत्नाकरजी ने मध्वाचार्य के दार्शनिक विचारों के आधार पर ही गोपियों द्वारा उद्धव के दार्शनिक विचारों का खण्डन करवाया है। फिर भी 'उद्धव-शतक' दर्शनशास्त्र का ग्रन्थ नहीं है। अन्य कवियों के समान रत्नाकरजी ने भी इसमें ज्ञान और योग की अपेक्षा भक्ति और प्रेम को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया है, अतः प्रसंगानुसार ही इसमें दार्शनिक विचारों का समावेश हुआ है। गोपियों के सम्भाषण में दार्शनिक तर्क-वितर्क की अपेक्षा स्त्री-सुलभ अल्पज्ञता, आकर्षक भोलापन, और भावनाओं का तीव्र आवेग ही अधिक है। जहाँ-कहीं गोपियों के प्रत्युत्तर में दार्शनिकता का आभास आया है, वहाँ उद्धव के अद्वैतवाद के खण्डन में मध्वाचार्य के अद्वैतसिद्धान्त की आसक्ति दिखायी देने लगती है।

उद्धव ने कृष्ण को जो ज्ञानोपदेश दिया है उसमें अद्वैतवाद के ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या'—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', तथा अनेकत्व में एकत्व के सिद्धान्त का उपदेश अद्वैतवाद के आधार पर ही दिया जा सका है। राधिका के स्मरण से जब कृष्ण व्याकुल हो जाते हैं, तब उद्धव उन्हें यही कहकर समझाते हैं कि :—

“पाँचौ तत्त्व माहि एक सत्त्व ही की सत्ता सत्य
याही तत्त्व-ज्ञान कौ महत्त्व स्तुति गायौ है ।
तुम तो बिबेक रत्नाकर कहौ क्यों पुनि
भेद पंचभौतिक के रूप में रचायौ है ॥
गोपिनि में, आप में, बियोग औ सँजोग हूँ में
एकं भाव - चाहिए सचोप ठहरायौ है ।
आपु ही सौ आपुको मिलाप औ बिछोह कहा
. मोह यह मिथ्या सुख - दुख सब ठायौ है ॥

आचार्य शङ्कर के अद्वैतवाद के अनुसार ही उद्धव, संसार और उसके व्यवहार को स्वप्नवत् सिद्ध करते हैं:—

“दिपत दिवाकर कौं दीपक दिखावै कहा ,
तुमसन ज्ञान कहा जानि कहिबौ करें ।
कहै रतनाकर पै लौकिक-लगाव मानि
मरम अलौकिक की थाह थहिबौ करें ॥
असत असार या पसार में हमारी जान
जन भरमाए सदा ऐसे रहिबौ करें ।
जागत और पागत अनेक परपंचनि में
जैसें सपने में अपने कौं लहिबौ करें ॥^१

ब्रजभूमि में पहुँचकर उद्धव ने गोपियों को जो उपदेश दिया है, वह भी शङ्कर के अद्वैतवाद पर आधृत है। श्रुति के अनुसार विश्व में केवल चेतन तत्त्व का अस्तित्व है। परन्तु व्यावहारिक ज्ञान की दृष्टि से यह कथन सारगर्भित प्रतीत नहीं होता। शङ्कर ने इसका कारण अध्यास या मिथ्याज्ञान माना है। जो वस्तु जैसी न हो उसे वैसी समझना ही अध्यास है। रज्जु में सर्प, का भ्रम इसी मिथ्याज्ञान अथवा मोह के कारण होता है। उद्धव गोपियों से कहते हैं:—

चाहत जौ स्वबस सँजोग स्याम सुंदर कौ
जोग के प्रयोग में हियौ तौ बिलस्यौ रहे ।
कहे रतनाकर सु-अंतर-मुखी ह्वै ध्यान
मंजु हिय-कंज-जगी जोति में बस्यौ रहे ॥
ऐसें करो लीन आतमा कौं परमातमा में
जामें जड़-चेतन-बिलास बिकस्यौ रहै ।
मोह-बस जोहत बिछोह जिय जाकौ छोहि
सो तौ सब-अंतर निरंतर बस्यौ रहै ॥^२

इस उपदेश के पश्चात् उद्धव पुनः ‘भदेऽभेदः’ के सिद्धान्त का निरूपण करते

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १५२। छन्द-संख्या १७.

२. वही, पृष्ठ १५७। छन्द-संख्या ३१.

हुए 'कान्ह सब ही में कान्ह ही में सब कोई है' कहकर गोपियों को समझाने लगते हैं। आत्मा ही तो ब्रह्म है। आत्मा की स्वयं सिद्धता ही वस्तुतः वेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त है। सब की आत्मा होने के कारण ही ब्रह्म सर्वात्मा कहलाता है। जड़ में चेतन का अध्यास होने से अथवा आत्मा में अनात्मा का अध्यास होने से भ्रम उत्पन्न होता है। इस भ्रम का निराकरण होने पर सब कुछ ब्रह्ममय ही दिखायी देने लगता है ; अतः उद्धव गोपियों से कहते हैं :—

“पंच तत्त्व में जो सच्चिदानन्द की सत्ता सो तौ
हम तुम उनमें समान ही समोई है ।
कहै रतनाकर बिभूति पंच-भूत हू को
एक ही सो सकल प्रभूतनि में पोई है ॥
माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सब
काँच-फलकनि ज्यों अनेक एक सोई है
देखौ भ्रम-पटल उघारि ज्ञान-आँखिन सौं
कान्ह सब ही में कान्ह ही में सब कोई है ॥^१

“सोई कान्ह सोई तुम सोई सबही हें लखौ
घट-घट-अंतर अनंत स्यामघन कौं ।
कहे रतनाकर न भेद-भावना सौं भरौ
बारिधि औ बूंद के बिचारि बिछुरन कौं ॥
अबिचल चाहत मिलाप तौ बिलाप त्यागि
जोग-जुगती करि जुगावौ ज्ञान-धन कौं ।
जीव आत्मा कौं परमात्मा में लीन करौ
छीन करौ तन कौं न दीन करौ मन कौं ॥^२

अद्वैतवाद के इन सिद्धान्तों में आत्मा का परमात्मा में विलयीकरण तथा जगत की वास्तविक सत्ता का तिरोहण प्रतिपादित है। परन्तु मध्वाचार्य भ्रम को भी नियमहीन नहीं मानते। जगत् की सत्ता वास्तविक है, तभी तो उसमें भ्रम होता

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १५८। छन्द-संख्या ३२.

२. वही, पृष्ठ १५८।, छन्द-संख्या ३३.

है, किन्तु विश्व की सत्ता यदि वास्तविक नहीं है तो भ्रम भी सम्भव नहीं। जगत् में भेद का अस्तित्व न मानने से अथवा भेद को मायिक मानने से संसार का व्यवहार नहीं चल सकता। ज्ञान-अज्ञान, पाप-पुण्य, यथार्थज्ञान-अयथार्थ ज्ञान इत्यादि का व्यवस्थित निरूपण ही तो दर्शनशास्त्र का प्रधान लक्ष्य है, अतः भेद की सत्ता स्वीकार किये बिना दार्शनिक विचार-धारा आगे बढ़ ही नहीं सकती। मध्वाचार्य ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का पृथक्-पृथक् अस्तित्व मानते हैं। उन्होंने जीव, जगत् और ब्रह्म इन तीनों की स्वतन्त्र सत्ता मानी है। उनकी सम्मति में आत्मा और परमात्मा की एकता का अर्थ तादात्म्य नहीं है। मध्व ने जीव और ईश्वर का भेद, जड़ और चेतन का भेद, जीव और जीव का भेद, जड़ और जड़ का भेद तथा जड़ और ईश्वर का भेद प्रतिपादित किया है। रत्नाकर की गोपियाँ भी जीव और ईश्वर में स्पष्ट भेद मानती हैं। उनका निम्नोक्त व्याख्यापन तो निश्चय ही द्वैत-सिद्धान्त का विदग्ध समर्थन है:—

“कान्ह-दूत कैथौ ब्रह्म-दूत ह्वै पधारे आप
धारे प्रन फेरन कौं मति ब्रजबारी की।
कहै रतनाकर पै प्रीति-रीति जानत ना
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की॥
मान्यौ हमें, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम,
तौहूँ हमें भावति न भावना अन्यारी की।
जैहै बनि बिगरि न बारिधता बारिधि की
बूंदता बिलेहे बूंद बिबस बिचारी की॥”^१

मध्वाचार्य प्रामाण्यवादी हैं। अनेक अन्य दार्शनिकों के समान उन्होंने भी प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुति—ये तीन प्रमाण माने हैं। ज्ञाता और ज्ञेय में सीधा सम्बन्ध स्थापित होने से ज्ञाता पूर्णरूप से ज्ञेय को समझ लेता है। रत्नाकरजी की गोपियाँ भी प्रत्यक्ष के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं समझतीं। प्रेम की अनन्यता के बल से उन्होंने अपने कृष्ण को भली भाँति समझ लिया है:—

“हम परतच्छ में प्रमान अनुमानें नाहिं
तुम भ्रम-भौर में भलें हीं बहिबौ करौ।

कहै रतनाकर गुबिद-ध्यान धारें हम
 तुम मनमानौ ससा-सिंग गहिबौ करौ ॥
 देखति सो मानति हैं सूधौ न्याव जानति हैं
 ऊधौ ! तुम देखि हूँ अदेख रहिबौ करौ ।
 लखि ब्रज-भूप-रूप अलख अरूप ब्रह्म
 हम न कहेंगी तुम लाख कहिबौ करौ ॥^१

उद्धव संसार को असत्य तथा स्वप्नवत् समझते हैं । शङ्कर ने भी ब्रह्म को सत्य और जगत् को मिथ्या माना है, परन्तु मध्व के मतानुसार ईश्वर सत्य-संकल्प है अतः उसकी सृष्टि का सत्य होना अनिवार्य है । सत्य से असत्य की संसृष्टि हो ही नहीं सकती । रत्नाकरजी की गोपियाँ भी उद्धव का विरोध करते हुए यही कहती हैं:—

“जग सपनौ सौ सब परत विखाई तुम्हें
 तातें तुम ऊधौ हमें सोवत लखात हौ ।
 कहै रतनाकर सुनै को बात सोवत की
 जोई मुँह आबत सौ बिबस बयात हौ ॥
 सोवत में जागत लखत अपने कौ जिमि
 त्यों हीं तुम आपहीं सुजानी समझात हौ ।
 जोग-जोग कबहूँ न जानें कहा जोहि जकौ
 ब्रह्म-ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हौ ॥^२

जैसा कि कहा जा चुका है, उद्धवशतक में दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण प्रसङ्गवश ही हुआ है । रत्नाकरजी चाहते तो गोपियों के माध्यम से दर्शनशास्त्र के गूढ़ तर्क-वितर्क उपस्थित करके अपने पाण्डित्य का परिचय दे सकते थे, परन्तु ऐसा करने से उद्धवशतक अपने अन्तर्तत्त्व से च्युत होकर, दर्शनशास्त्र के शब्दारण्यक में भटक कर मात्र एक शुष्क ग्रन्थ रह जाता । भ्रमर-गीत-काव्य-परम्परा की रचना होने के कारण भी उद्धवशतक में ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को विशेष महत्त्व देना आवश्यक था । यदि रत्नाकरजी दार्शनिक सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन में ही तल्लीन हो जाते, तो न तो वे अपनी इस श्रेष्ठ रचना को इतना हृदयग्राही बना पाते और न अपने उद्देश्य में ही सफल होते ।

मध्वाचार्य का द्वैतसिद्धान्त भक्ति के सरस तत्त्वों पर आधृत है ।

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १६३, छन्द-संख्या ४५

२. वही पृष्ठ १६५, छन्द-संख्या ५१

द्वैतसिद्धान्त ने शङ्कर के मायावाद का विरोध करके 'हरि' रूप में परम तत्त्व स्वरूप विष्णु की प्रतिष्ठा की थी। मध्व के मतानुसार हरि-भक्त ही भगवान् के अनुग्रह और स्नेह-प्राप्ति का उत्तम साधन है तथा इस प्रकार विष्णु की प्राप्ति ही मोक्ष है—जीवन का लक्ष्य है।^१ रत्नाकरजी के इष्टदेव भी 'हरि' ही हैं। उद्धवशतक में ज्ञान के ऊपर भक्ति और प्रेम की जो विजय दिखायी गयी है, उससे भी यही प्रत्यय होता है कि अद्वैतवाद के शुष्क विचारों की अपेक्षा गम्भीर भक्ति के रसोन्नमित तत्त्वों की ओर रत्नाकरजी की अधिक आस्था थी। उन्होंने दर्शन शास्त्र का गहन अध्ययन किया था, फलतः उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र दार्शनिक सिद्धान्त प्रत्यासन्न हैं, परन्तु प्रकृत्यः वे जितने भक्त थे उतने दार्शनिक नहीं। उनकी गोपियों की प्रेम-भावना, तन्मयता तथा अनूठे भोलेपन में उद्धव के दार्शनिक विचारों की गम्भीरता अनायास ही विलीन हो जाती है अतः निश्चय ही रत्नाकरजी को ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा अमला भक्ति प्रिय थी। एक स्थल पर उन्होंने कहा भी है कि:—

“आए हैं कहां तें कहां जाइबौ कहां है फेरि
काकी खोज माहि फिरें जित तित मारे हैं ।
कहै रतनाकर कहा है काज तासों पुनि
काज औ अकाज के बिभेद कत न्यारे हैं ॥
भेद भावना कौ कहा कारन औ काज कछू
कारन औ काज के कहां लगि पसारे हैं ।

१. उद्धवशतक के मंगलाचरण में भी रत्नाकर जी ने यही कामना की है :

“जासों जाति बिषय-बिषाद की बिवाई बेगि
चोप-चिकनाई चित चारु गहिबौ करै ।
कहै रतनाकर कबित्त - बर-व्यंजन में
जासों स्वाद सौ गुनौ रुचिर रहिबौ करै ॥
जासों जोति जागत अनूप मन-मंदिर में
जड़ता - बिषम-तम-तोम दहिबौ करै ।
जयति जसोमति के लाड़िले गुपाल, जन
रावरी कृपा सौ सनेह लहिबौ करै ॥

ये सब प्रपंच गुणें ज्ञान-मतवारे बैठि
हम तो तिहारे प्रेम-पान- मतवारे हैं ॥^१

भक्ति-भावना और धार्मिक दृष्टिकोण

भक्ति, साधक के चित्त की वह सतोगुणी वृत्ति है जिसमें आत्मविस्मृत होकर वह अपने आराध्य के प्रति प्रेम-विह्वल हो उठता है।^२ भक्त, ईश्वर की अनन्त शक्ति को मुग्ध होकर देखता है, परन्तु ज्ञानी अपने ज्ञान-बल से उस अमेय के रहस्योद्घाटन में प्रयत्नशील हो जाता है। इस प्रकार ईश्वर तक पहुँचने के दो भिन्न-भिन्न मार्ग बन जाते हैं। एक बोधवृत्ति-सम्पन्न ज्ञान-मार्ग है, दूसरा रागात्मिकावृत्ति-संवलित भक्ति-मार्ग।^३ ज्ञान तथा भक्ति दोनों का अन्तिम उद्देश्य एक ही है। ज्ञानी तथा भक्त दोनों ही ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हैं। यदि ज्ञाता और ज्ञेय का तादात्म्य, ज्ञान की चरमावधि है, तो भक्त-भगवान् की तन्मयता भक्ति के उत्कर्ष का चरमबिन्दु। पारिभाषिक शब्दावली में भक्ति को प्रकृति स्वरूपा सतोगुणी मनोवृत्ति तथा ज्ञान को पुरुष अर्थात् चैतन्य कहा जाता है; भक्ति तथा ज्ञान में यही तात्त्विक अन्तर है। ज्ञानी अपने आप को भी जानना चाहता है और ब्रह्म को भी समझना चाहता है। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मरने के पश्चात् जीवात्मा कहाँ चली जाती है? संसार क्या है? सृष्टि के आदि और अन्त का क्या रहस्य है—इत्यादि बातों में ही उसकी हठीली जिज्ञासा उलझी रहती है। तात्पर्य यह है कि उसके लिए ब्रह्म तथा जीव इन दोनों पक्षों का ज्ञान अभीप्सित रहता है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए ज्ञानी को साधना के कण्टकाकीर्ण मार्ग का अनुसरण करना पड़ता है। इस कठोर साधना से उसकी बोधवृत्ति को तो अवलम्ब मिल जाता है, परन्तु आत्मसमर्पण के अभाव में हृदय असन्तुष्ट ही बना रहता है, फलतः ज्ञान की चरम परिणति नहीं हो पाती। अपने अभाव के निराकरण के लिए मन, शरीर को नाना प्रकार के नाच नचाता हुआ, उसे स्वेच्छा-

१. प्रकीर्ण पद्यावली, पृष्ठ ५७७-५७८। छन्द-संख्या ६३

मयि भक्तहि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।

दिष्ट्यायदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥

(श्रीमद्भा० १०।८२।४५)

२. (क) सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ॥ नारद-भक्ति-सूत्र २

(ख) सा परानुरक्तिरीश्वरे ॥ शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र २

३. द्रष्टव्य गीता-रहस्य (लोकमान्य तिलक), पृष्ठ ५३७

नुसार परिचालित करने लगता है, परिणामतः साधक साधना-च्युत होकर बुद्धि और मन के पारस्परिक संघर्ष में उलझ जाता है। मन की शाश्वत वासना और चिरन्तन वेदना के दमन का प्रयास यहीं से आरम्भ होता है। साधक के जीवन में अब संयम-नियम का प्रादुर्भाव हो जाता है अतः उसका साधना-क्षेत्र ही परिवर्तित हो जाता है। जो साधक अज्ञात शक्ति के रहस्योद्घाटन का बीड़ा उठाकर आगे बढ़ा था, वही अब मन को समझाने-बहलाने का प्रयत्न करने लगता है। उसकी अधिकांश शक्ति काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह के निरोधन में क्षीण होने लगती है। इस अन्तर्द्वन्द्व में साधक का निराकार ब्रह्म और भी ओझल हो जाता है, फलतः अज्ञात शक्ति का रहस्य एक रहस्य ही रह जाता है। बुद्धि और मन के इस संघर्ष में प्रायः विजय मन की ही होती है। मन से यथाशक्ति संघर्ष कर चुकने के पश्चात् जब बुद्धि शक्ति हो जाती है, तब वह मन की मान्यताओं को ही युक्तियुक्त समझने लगती है। यह परिस्थिति साधक को ऐसी विकट उलझन में डाल देती है कि उसकी साधना का प्रासाद ही चूर-चूर हो जाता है। इस प्रकार देखते-देखते साधक की बोधवृत्ति राग से पराभूत हो जाती है।

सच तो यह है कि मानव-हृदय से रागात्मिकावृत्ति का अमूलचूल निष्कासन कदापि सम्भव नहीं है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह को हृदय से निकाल फेंकना केवल कहने-सुनने की बातें हैं। हाँ, हृदय की विभिन्न भावनाओं को ऐसी स्थिति में अवश्य रखा जा सकता है जहाँ से वे ज्ञान-मार्ग में बाधक नहीं हो सकतीं। भावनाओं को सदैव किसी न किसी आलम्बन की आवश्यकता होती है। भक्त इन भावनाओं को लौकिक आलम्बन की जगह भगवान् के सगुण रूप का आलम्ब प्रदान कर देता है, फलतः ज्ञानी की तरह भक्त को अपनी वासनाओं से झगड़ने की आवश्यकता ही नहीं रहती। उसका मन शनैः-शनैः लौकिक आलम्बन को भूलकर अनन्त सौन्दर्य की राशि भगवान् के सगुण, लावण्यमय स्वरूप पर मुग्ध होने लगता है। यही कारण है कि सभी भक्तकवियों ने भगवान् के अपरिमित सौन्दर्य के सरस वर्णन को महत्त्व प्रदान किया है। तुलसी और सूर ने भी अपने हृदय के परिष्कार के हेतु भगवान् के असीम सौन्दर्य का ही आश्रय लिया था। हृदय के आकर्षण के लिए सौन्दर्य की शक्ति अमोघ है। बिना कुछ आगा पीछा सोचे, मन उसकी ओर तुरन्त आकृष्ट हो

१. "प्रेम भगति जल बिनु रघुराई । अभि-अन्तर-मल कबहुं न जाई"

—'मानस' उत्तर काण्ड ७१।६

कर्मण कर्म-निर्हारो नहुयात्यन्तिक इष्यते—भाग० ६।१।११

जाता है। इसी कारण निराकार ब्रह्म की जगह नराकार भगवान् का सौन्दर्य सदैव भक्ति का आलम्बन रहा है। कविवर रत्नाकर की भक्ति-भावना भी भगवान् के नयनाभिराम सौन्दर्य के अवलम्बन से चिर-विकसमान है। 'हिंडोले' में श्यामा-श्याम की हृदय-हारिणी छवि ऐसी ही है :—

“मूलतः श्यामा श्याम कोटि-रति-काम-प्रभाधर ,
थाई रति अरु रस सिंगार जनु धारि अँग दर ।
कै सुखमा सौंदर्य अनूप रूप रचि राजत ,
मृदुल माधुरी औ लावन्य ललित कै भाजत ॥”^१

“पीत - नील - पाथोज - बरन मनहरन सुहाए ,
कोमल अमल अमोल गोल गातनि छबि छाए ।
तहन-अहन-बारिज-बिसाल लोचन अनियारे ,
रंग रूप जीवन अनूप कै मद मतवारे ॥”^२

भाय-भेद भरपूर चारु चितवनि अति चंचल ,
बरुनी सघन कोर-कज्जल-जुत लगत दृगंचल ।
भृकुटी कुटिल कमान सान सौं परसति काननि ,
नैकुं मटक मुरि मूकभाव के बरसति बाननि ॥”^३

जइपि दुहुनि के नैन मैन-अभिलाष-सील-मय ,
तदपि सुनहु कछु भेद गुनहु मन सूच्छम अतिसय ।
उनके सफरी स्वच्छ, अच्छ पाठीन सु इनके ,
उनके संध्या-कुमुद, कंज इनके पुनि दिन कै ॥”^४

उनकें लाज सकोच लोच की कछु अधिकाई ,
इनके होस-हुलास-रासि की आतुरताई ।
दोउनि की छबि पै दोऊ ललकत ललचौहें ,
पै इक सौहें लखत एक करि नैन निचौहें ॥”^५

१. हिंडोला, पृष्ठ ९, छन्द-संख्या ३४

२, ३, ४, ५ हिंडोला, पृष्ठ १०, छन्द-संख्या ३७, ३८, ३९, ४०

रत्नाकरजी का यह वर्णन अत्यन्त कलापूर्ण है। नेत्रों की मादक—आकर्षक चेष्टाओं के वर्णन से उन्होंने लाज-संकोच-युक्त वृषभानु-नन्दिनी का तथा हौंस-हुलास की आतुरता से युक्त कृष्ण का, अतीव सजीव चित्र उपस्थित किया है। गोलोक में विराजमान 'युगल बिहारी' की यह झाँकी भी दर्शनीय है:—

“इक इक बाहिं उमाहि किए गलबाहिं बिराजें ।
इक इक कर बड़ भाग बनज बंसी कल भ्राजें ॥
मनु तमाल पर सोनजुही की लसै माल बर ।
स्याम-तामरस-दाम प्रफुल्लित सोनजुही पर ॥

नील पीत अभिराम बसन द्युति-धाम धराए ।
मनहु एक कौ रंग एक निज अंग अँगाए ॥
निज-निज-रुचि-अनुहार धरे दोउ दिव्य बिभूषन ।
जो तन-द्युति की दमक पाइ चमकत ज्यों पूषन ॥

उर बिलसत सुभ पारिजात के हार मनोहर ।
सब लोकनि की फूल-गंध के मूल सुघर बर ॥
चारु चन्द्रिका मंजु मुकुट छहरत छबि-छाए ।
मनहु रतन तन-तेज पाइ सिर चढ़ि इतराए ॥

बिपुल पुलक बुहुँ गात परसपर सरस परस के ।
पीत नील मनि माहि मनौ अंकुर सुचि रस के ॥
सुधि करि बिबिध बिलासफुरति-अंग-अंग फुरहरि ।
मनु सुखमा कैं सिधु उठति आनंद की लहरी ॥

दोउ दोउनि कौं निरखि हरषि आनंद-रस चाखत ।
दोउ दोउनि की सुरुचि मूक भावनि सौं राखत ॥
दोउ दोउनि की प्रभा पाइ इकरैंग हरियाने ।
इक-मन इक-रुचि एक-प्राण इक-रस सरसाने ।”^१

इस रूप-वर्णन में रत्नाकरजी ने कोई नयी बात नहीं कही है। ऐसे ही चित्र सूर-नुलसी, भारतेन्दु इत्यादि की तूलिकाओं से भी निर्मित हुए हैं, परन्तु रत्नाकरजी की प्रतिभा ने इन प्राचीन भावों को अपनी कला-कुशलता से सम्पृक्त करके जो नवीन स्वरूप प्रदान किया है, उस पर उन्हीं की अमिट छाप है—यही उनके काव्य का औज्ज्वल्य है।

रूप से आकृष्ट होने पर भक्त का मन उपास्यदेव में रमने लगता है। इस प्रकार मन को कुछ अधिक आसक्ति का अनुभव होने लगता है। ज्यों-ज्यों आकर्षण बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों प्रिय के साथ-साथ, प्रिय से सम्बन्धित वस्तुएँ भी प्रिय लगने लगती हैं। यही कारण है कि रत्नाकरजी को अपने उपास्यदेव की निवास-भूमि, उनकी वेश भूषा, उनकी मुद्रा, सभी से एक विलक्षण मोह है। जिस प्रकार राम-भक्त कवियों को भगवान् राम धनुष-बाण कभी नहीं भूलता, उसी प्रकार कृष्ण-भक्त कवियों को अपने इष्ट देव की वंशी विस्मृत नहीं होती। धनुष-बाण के बिना यदि राम के सौन्दर्य का पूर्ण उत्कर्ष दृष्टिगत नहीं होता तो मुरली बिना कृष्ण का सौन्दर्य अधूरा सा प्रतीत होता है। कृष्ण-भक्ति-शाखा के सभी कवियों ने कृष्ण की बाँसुरी तथा उसके दिगंतव्यापी प्रभाव का जी भर कर वर्णन किया है। रत्नाकर जी भी अपने उपास्य देव की मुरली नहीं भूले हैं। उनके कृष्ण की वंशी का प्रभाव अतिशय प्रवितत है। चेतनसृष्टि की तो बात ही क्या, जड़संसृति भी इसके प्रभाव से उत्सृष्ट नहीं है:-

“जमुना-कछारनि पै बन-द्रुम-डारनि पै
औरै कछू मंजु मधुराई फिरि जाति है ।
कहै रतनाकर त्यों नगर अगारनि पै
बारनि पै बनक-निकाई फिरि जाति है ।
नर-पसु-पच्छिनि की चरचा चलावै कौन
पौन गौनहू में सरसाई फिरि जाति है ।
जहाँ-जहाँ बाँसुरी बजावत कन्हाई वीर
तहाँ तहाँ मदन-बुहाई फिरि जाति है ॥”^१

गोचारण के पश्चात् कृष्ण गायों के साथ घर लौटते हैं। गोपियाँ उनके लौटने की दिनभर प्रतीक्षा करती हैं। संध्या समय कृष्ण-दर्शनार्थ उमड़ने वाली भीड़ से

बचने के लिए, पहले से ही उस पथ में खड़ी होकर, वे अपने लिए स्थान सुरक्षित कर लेना चाहती है:—

“ठाढ़ी अबै चलि होहु कहूँ न तु बीर न भीर में पावैं थिरेंगे ।
 हाट औ बाट अटारिनि के घर-द्वारिनि के सब ठाम धिरेंगे ॥
 बेखन कौ रतनाकर के बस नैकु में एक पै एक गिरेंगे ।
 धेनु चराइ बजावत बैनु सुन्यौ इहिं गैल गुपाल फिरेंगे ॥”^१

कृष्ण के इस अनुपम सौन्दर्य के सामने कोई दूसरा सौन्दर्य नेत्रों को प्रिय लग ही नहीं सकता । मन उनकी रूप-श्री में ऐसा लीन हो जाता है कि संसार की अन्य सभी कमनीय वस्तुएँ उस सुषमा के सामने फीकी प्रतीत होने लगती हैं :—

“सो तौ करै कलित प्रकाश कला सोरस लौं ,
 या में बास ललित कलानि चौगुनी कौ है ।
 कहै रतनाकर सुधाकर कहावे वह ,
 याहि लखें लगत सुधा कौ स्वाद फीकौ है ॥
 समता सुधारि औ बिसमता बिचारि नीकें ,
 ताहि उर धारि जो बिसद ब्रज-टीकौ है ।
 चारु चाँदनी कौ नीकौ नायक निहारि कहौ ,
 चाँदनी कौ नीकौ कैं हमारौ चाँद नीकौ है ॥”^२

ब्रजराज के साथ ब्रजभूमि के प्रति भी रत्नाकरजी का असीम अनुराग है । ब्रजमण्डल से उन्हें इसी कारण स्नेह है कि वहाँ के रज-कण उनके उपास्य देव के चरणों से पवित्र हो चुके हैं । तभी तो उनमें पाप-प्रक्षालन की ऐसी अपूर्व क्षमता है:—

“दूरि करिबे कौ तन मन कौ मलान सबे ,
 आयौ इहिं ओक आप तीन लोक-त्राता हूँ ।
 कहै रतनाकर रुचिर रुचिकारि जाहि ,
 जानें सम्भु-सहित गजानन की माता हूँ ॥
 आइ इहिं घाट पै धवाइ पट मानस कौ
 होत सुचि स्वच्छ सेंटह में सूम दाता हूँ ।

१. प्रकीर्ण पद्यावली, पृष्ठ ५५८, छन्द-संख्या ९

२. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३१६-३१७, छन्द-संख्या ४ .

ऐसी देखि पातक पखारन कौ यामें खार
ब्रजराज संचि बन्यौ रजक बिधाता हूँ ॥^१

सामान्य लोगों की तो बात ही क्या है, स्वयं पिनाकी भी मधुवन की झाँकी से आत्म-विभोर हैं :—

“डारै कहूँ भृंगी भृंगी-गन गुनि डारे कहूँ ,
वरद बिचारे कौ बिसारै बिचरन में ।
आनंद-अपार-पारावार के हलोरनि में ,
दौरि डगमग पग धारत लगन में ॥
पुलक गभीर प्रेम-बिह्वल सरीर छए ,
नीर अधखुले अनिमेष दृग-तन में ॥
चूमि चटकाइ अँगुरीनि रस-धूमि झूमि ,
झाँकी लेत ललकि पिनाकी मधुवन में ॥^२

प्रिय के सम्बन्ध से प्रिय के चारों ओर का वातावरण भी आँखों में बस जाता है । रत्नाकरजी को भी अपने उपास्यदेव के साथ उनके चारों ओर का वातावरण प्रिय है । भक्ति की विशेषता भी वस्तुतः यही है । कृष्ण के कारण ही ब्रजभूमि का इतना प्रिय लगना श्रद्धा की ही बात है । ऐसी ही प्रेम-संव्यूढ श्रद्धा के कारण भक्तवर रसखान 'आठों सिद्ध नवों निधि' का सुख नन्द की धेनु चराकर बिसार सकते थे । तभी तो वे करोड़ों 'कलघाँत के धाम' करील के कुंजों पर न्योछावर कर देते थे । कामरी और लकुटिया प्राप्त कर लेने पर उनके लिये त्रैलोक्य का राज्य नगण्य था, महत्त्वहीन था । बिना ऐसी श्रद्धा के भक्ति का पूर्ण परिपाक सम्भव नहीं, क्योंकि श्रद्धा ही के द्वारा ज्ञान और ज्ञान द्वारा परमशान्ति प्राप्त होती है ।^३ इसी श्रद्धा से प्रेम का सम्प्लवन होने पर भक्ति की अवतारणा होती है । भक्ति के उद्रेक से प्रिय के प्रति असीम आदर के अतिरिक्त उसके अव्याहत रूप-दर्शन की औत्मुख्यपूर्ण कामना भी उद्भूत हो जाती है; फलतः प्रिय के गुणश्रवण में, उसके ध्यान में, उसके रूपदर्शन में मन रमने लगता है । इस दशा में प्रिय का चलना-फिरना उठना-बैठना, हँसना-खेलना

१. प्रकीर्ण एद्यावली पृष्ठ ५३८-५३९ । छन्द-संख्या १

२. भृंगारलहरी, पृष्ठ ३६७, छन्द-संख्या १४५

३. श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ गीता ४।३९

रूठना-मनाना, वेषभूषा, बातचीत का ढंग, सभी में एक अनिर्वचनीय आनन्द आने लगता है । भक्ति के आवेश में हृदय की उद्वेलित भावनाएँ भक्त को भगवान् के बिना चैन नहीं लेने देतीं । इस भाव-भूमि पर पहुँचकर उसे अपना अस्तित्व ही व्यर्थ प्रतीत होने लगता है, परिणामतः वह प्रिय की सत्ता में अपने आपको मिटा देने के लिये लालायित हो उठता है । किसी कारणवश इसमें असफल होने पर वह अपना मन कतिपय ऐसी वस्तुओं से बहलाने लगता है जिनका प्रिय से किसी प्रकार का सम्बन्ध होता है । प्रिय के अप्राप्य हो जाने पर उससे सम्बन्धित निर्विशेष जड़-चेतन वस्तुओं से ही मन को फुसलाने का प्रयत्न करने लगना एक मनोवैज्ञानिक सत्य है । वृन्दावन के कण-कण से रत्नाकर की गोपियों को इसी कारण इतना मोह है :-

जद्यपि न दूरि मधुपुरि कछ श्रीबन तें
अरग न तौ हूँ एक परग सिधैहें हम ।
कहै रतनाकर बियोग-ज्वाल-जालनि में
जरि बरु बृन्दावन-रज में बिलैहें हम ॥
तन की कहै को मन प्राण आतमा हूँ सबै
याही के कनूका पै तिनूका लौं लटैहें हम ।
जौ हूँ ब्रजवासी प्रेम-पद्धति-उपासी तऊ
अन्य धाम स्याम हूँ सो मिलन न जैहें हम ॥^४

व्यक्ति के गुणों से प्रभावित होने पर हृदय में श्रद्धा उत्पन्न होती है अतः श्रद्धा का कारण सदैव विस्पष्ट रहता है, परन्तु प्रेम का क्षेत्र श्रद्धा के क्षेत्र से भिन्न है । प्रेम स्वेच्छा पर निर्भर नहीं है । चाहे जब तथा चाहे जिससे प्रेम नहीं किया जा सकता । और; यदि प्रेम एक बार अपने पूर्ण आवेश से व्याप्त हो जाय तो उसका निरोध भी सम्भव नहीं है । श्रद्धालु को पहले श्रद्धेय की विशेषताओं का भान होता है और तब उसका हृदय श्रद्धेय पर मुग्ध होता है; परन्तु प्रेम में हृदय पहले प्रिय पर मुग्ध हो जाता है और तब प्रेमी को अपने प्रिय की विशेषताओं की अनुभूति होती है । प्रेम में व्यक्तित्व का प्राधान्य है और श्रद्धा में गुणों का । श्रद्धा तथा प्रेम का समवाय भक्ति है, फलतः भक्त

अज्ञश्चाश्वाहृधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ गीता ४।४०

१. प्रकीर्ण पद्यावली, पृष्ठ ५४०-५४१, छन्द-संख्या ६

श्रद्धा द्वारा भगवान् की महत्ता का अनुभव करता है तथा प्रेम के आवेश में अपने जीवन को प्रिय के चरणों पर न्योछावर कर देता है ।^१ भक्ति का उदय होने पर पहले मन इष्ट की रूपाकृति से आकृष्ट होता है और तब वह उसकी अपरिमेय शक्ति का दर्शन करता है । बाह्य सौन्दर्य से आकृष्ट मन इस प्रकार भगवान् के आन्तरिक सौन्दर्य का भी दर्शन करने लगता है । रत्नाकरजी ने बाह्य तथा आन्तरिक दोनों ही प्रकार के सौन्दर्य को अपने उपास्यदेव में पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित किया है ।^२ भगवान् का बाह्य सौन्दर्य यदि भक्तों को आकृष्ट करता है, तो उनका आन्तरिक सौन्दर्य उन्हें आश्चर्य चकित कर देता है । इस अपरिमित शक्ति और अनन्त सौन्दर्य के साथ ही भक्त को अपने भगवान् की उस विराट् भक्तवत्सलता के भी दर्शन होते हैं, जो उसे पूर्णतः वशीभूत कर लेती है । यहीं से भक्त के हृदय में दैन्य उत्पन्न होने लगता है । एक ओर उसे भगवान् की महत्ता का ध्यान आता है, दूसरी ओर वह अपने पापों और दोषों पर विचार करने लगता है, फलतः वह अपने पापों के प्रक्षालन, त्रुटियों के निराकरण और आत्मा की शुद्धि में दत्तचित्त हो जाता है । इस भाव-दशा में भक्त को अपने दोष और पाप कितने अधिक प्रतीत होते हैं इसका हिसाब नहीं लगाया जा सकता । हृदय की शुद्धता के कारण भक्त अपने पापों, दोषों और त्रुटियों को भगवान् से छिपाना नहीं चाहता अतः भगवान् के समक्ष अपने पापों का निष्कपट विस्तृत उल्लेख करके वह हृदय का बोझ हलका करने लगता है । इसी भाव से प्रेरित होकर रत्नाकरजी भी कतिपय पापियों को सन्देश-वाहक बनाकर धर्मनाथ के पास भेजना चाहते हैं । उनका प्रविचित्त मन्तव्य है कि संप्रति पातिकी-सरदार रत्नाकर के पापों की गणना होनी चाहिए । यदि यह युक्ति काम कर गयी तो उसके पापों का संख्यायन करते-करते ही अंतक के अनेक युगों का अन्त हो जायगा और तब सम्भवतः अन्य पापियों के पापों पर विचार करने के लिए भीमशासन के पास समय ही शेष न रहेगा ।

ए हो बीर पातकी अधीर जनि होहु मुनौ ,
यह ततबीर भीर रावरी भजावंगी ॥
भाषैं यहें आगैं हूँ अभागे हमसों जो जाहि ,
याही एक बात घात सकल बनावंगी ॥

१. मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ गीता १२।२

२. मर्चिस्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ गीता १०।६

पहिलें हमारे सरदार रत्नाकर की ,
 पातक - अपार - परतार पार पावेंगी ।
 जैहें बस चौकड़ी अनेक जगदारी बीति ,
 पारी फेरि जांच की तिहारी नाहि आवेंगी ॥^१

रत्नाकरजी के ये उद्गार भक्ति-परक दैन्य भाव के व्यञ्जक हैं, आत्मवृत्त मूलक नहीं। इन उद्गारों में भक्तहृदय का सामान्य निरूपण है। दैन्य ही तो भक्तों का बल है।^२ इन्हीं भावनाओं से परिचालित होकर भक्त का हृदय आत्मनिरीक्षण में रत होकर अपने दोषों और त्रुटियों के मार्जन में प्रवृत्त होता है। यही वह प्रवञ्चना-विहीन भावभूमि है जहाँ पहुँच कर भक्त अपने कलुष को देखता ही नहीं प्रत्युत अपने भगवान् को स्पष्ट रूप से दिखाने भी लगता है। अपने इष्टदेव को वह धोखा नहीं दे सकता। इसी से मानो वह उनसे स्पष्ट निवेदन कर देता है कि हे भयनाशन् ! मेरे इन दोषों को देख लो, और तब यदि मेरे ऊपर कृपा कर सको तो करो।

रत्नाकरजी ने वकालत का अध्ययन किया था। अयोध्या में कचहरी-दरबार से काम पड़ता ही था, अतः उन्हें विदित था कि अभियोग में संशय का लाभ अभियोगी को ही प्राप्त होता है। भक्ति के आवेश में वे सोचते हैं कि उनके संख्यातीत महान पापों की गणना करते-करते ही एक नहीं अनेक यमराजों का आयुष्य शेष हो सकता है। सम्भव है समय के इस दीर्घ अन्तराल में भाषा, लिपि तथा पाप-पुण्य की वर्तमान परिभाषा ही परिवर्तित हो जाय और अभी तक जिन्हें पापी घोषित किया गया है, उन्हें रत्नाकर के सम्मुख पापी कहा भी न जा सके ! दण्डधर की ऐसी शङ्का से पापियों को संशय का लाभ प्राप्त हो जायगा तथा इस प्रकार पामर-मण्डली अदण्ड ही छूट जायगी :—

“केते मनु-अंतर निरन्तर व्यतीत ह्वैं हें ,
 केती चित्रगप्त-जम औधि उठि जाइगी ।
 कहै रत्नाकर खुल्यौ जो पाप-खाता मम ,
 तौ गनि बिधाताह की आय खुटि जाइगी ।
 जैहै बाँचि-बूझि अबकी ना लिपि भाषा नेंकु ,
 औरें पाप-पुन्य परिभाषा जुटि जाइगी ॥

१. गंगाविष्णुलहरी पृष्ठ ४१६-४१७, छन्द-संख्या ४५

२. ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च । नारद-भक्ति-सूत्र २७.

लाहु लहि संसय कौ संसय बिना ही बस ,
पापिनि की मंडली अदंड छुटि जाइगी ॥^१

‘गंगाविष्णुलहरी’ में रत्नाकरजी की भक्ति-भावना के एक-से-एक उत्तम चित्र विद्यमान हैं। वे कहते हैं कि पाप-आधिक्य के कारण यमलोक उनके लिए उपयुक्त स्थान हो ही नहीं सकता। वहाँ तो ऐसे पापियों को स्थान मिलता है, जो उनकी तुलना में पापी कहे ही नहीं जा सकते। रहा स्वर्ग लोक, सो स्वर्ग में जाने की उनमें योग्यता ही कहाँ है ? अतः जब तक उन जैसे महान पातकी के लिए उपयुक्त लोक का निर्माण नहीं हो जाता, तब तक वे अपने भगवान् के द्वार पर अमानत-रूप में पड़े रहना चाहते हैं :—

“जाउँ जम-गाउँ जौ समेत अपराधनि के ,
तौ पै तिहिं ठाउँ ना समाउँ उबर्यौ रहौं ।
कहै रतनाकर पठावो अघ-नासि जु पै ,
तौ पै तहाँ जाइबे की जोगता हर्यौ रहौं ।
सुकृत बिना तौ सुर-पुर में प्रबेस नाहिं ,
पर तिन तैं तौ नित दूर ही टर्यौ रहौं ।
तातैं नयौ जौ लौं ना निवास निरमान होइ ,
तौ लौं तब द्वार पै अमानत पर्यौ रहौं ॥^२

पतितपावन की कृपा पर उन्हें पूरा भरोसा है। वे जानते हैं कि कर्मों के अनुसार ही मनुष्य को शुभाशुभ फल प्राप्त होते हैं। सृष्टि की यही मर्यादा है। तथापि यदि सृष्टि की मर्यादा भगवान् की रची हुई है तो कृपा भी तो उन्हीं की बनायी हुई है, अतः भगवान् को यदि मर्यादा का ध्यान है तो क्या उन्हें अपनी कृपा की चिन्ता नहीं है ?

“सब कछु कीन्यौ हम निज बस ही सौं सही ,
कौन तुमहीं कौं फेरि परबसताई है ।
कहै रतनाकर फलाफल रचे जो अरु ,
करम सुभासुभ में भिन्नता भराई है ॥

१. गंगाविष्णुलहरी, पृष्ठ ४१६। छन्द-संख्या ४४

२. वही, पृष्ठ ३९९। छन्द-संख्या २

(क) लघ्वपि भक्ताधिकारे महत्क्षेपकमपरसर्वहानात् (शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र ७६)

(ख) सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ गीता १८।६६

निज रचना के उपजोग की तुम्हें जो चाह ,
 तौ न निरबाह में हमें हूँ कठिनाई है ।
 मान्यौ मरजाद सब आपनी रचाई पर ,
 यह तौ बतावौ कृपा कौन की बनाई है ॥”^१

भक्त को अपनी हीनता तथा भगवान् की महत्ता का वर्णन करने में अनिर्वचनीय आत्म-संतोष प्राप्त होता है । अपनी हीनता का स्पष्ट उल्लेख कर देने से उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो उसके हृदय का भारी बोझ उतर गया हो । भगवान् की महत्ता की उसे जितनी तीव्र अनुभूति होती जाती है, उसके हृदय की आत्मग्लानि भी उसी अनुपात से बढ़ती जाती है । उपास्य देव के सम्मुख आत्मनिवेदन करते-करते भक्त का हृदय शुद्ध हो जाता है । इस दशा में श्रद्धा की अपेक्षा हृदय में प्रेम प्रबल हो जाता है । प्रेम का आधार समानता है, अतः इस मनोदशा में भक्त-हृदय भगवान् से अनन्यता स्थापित कर लेता है । अपने प्रेम के भरोसे ही वह अंतर्दामी को मीठा उपालम्भ देने में भी नहीं चूकता । रत्नाकरजी भी भक्ति के आवेश में अपने भगवान् से बहुत कुछ कह बैठे हैं । वे कहते हैं कि पाप और पुण्य दोनों ही भगवान् के बनाये हुए हैं । उनका फलाफल भी ईश्वर के ही आधीन है । मनुष्य स्वतः कर्त्ता नहीं; वह तो ईश्वरेच्छा के अधीन होकर नाना प्रकार के नाच नाचा करता है, अतः पाप-पुण्य का उत्तरदायित्व न उस पर है और न हो सकता है ।

“सोई सो किए हैं जो जो करम कराए आप ,
 तिनपै भले की औ बुरे की छाप छापौ ना ।
 कहै रतनाकर नचाइ चित चाहौ नाच ,
 काच-पूतरी पै गुन दोष आप आपौ ना ॥
 खोटे खरे भेद औ प्रभेद धरि राखौ उतै ,
 बिबस बिचारै पै वृथा ही धाप धापौ ना ।
 थापौ जहाँ भावै तुम्है थापिबौ हमें पै नाथ ,
 माथ पै हमारे पाप-पुन्य-थाप थापौ ना ॥”^२

१. गंगाविष्णुलहरी पृष्ठ ४०१ । छन्द-संह्या ७

२. वही, पृष्ठ ४१४ - ४१५ । छन्द-संह्या ४०

(क) “कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ गीता ४।१८

अनाकांक्षित कुभाव की रचना भी भगवान् ने ही की है। इस कुभाव के प्रभाव से सुरासुर सिद्ध कोई भी तो नहीं बचा ! अतः ईश-विस्मरण का मूल कारण ईश-निर्मित कुभाव ही है। ऐसी स्थिति में कुभाव की प्रेरणा से किये हुए अनुचित कर्मों का उत्तरदायित्व किस पर होगा ?

“किन्यौ आपही तौ रचि कठिन कुभाव ताकी ,
जाकी अब प्रबल प्रभाव इमि भावै है ।
कहै रतनाकर सुरासुर प्रसिद्ध सिद्ध ,
ताके परपंच सौं न कोऊ पार पावै है ॥
तापै सब दोष नाथ आवत हमारै माथ ,
साहस के तातें यह गाथ मुख आवै है ।
भूल तुमहें कौं बस करि जो भुलावै हमें ,
कीजै कहा सोई हमें तुमकों भुलावै है ॥”

रत्नाकरजी की भक्ति-भावना में हृदय की तल्लीनता और अनुभूति की स्निग्धता सर्वत्र परिलक्षित होती है। कभी वे सोचते हैं कि उनकी साधना ही अधूरी है। गले में कण्ठी और हाथ में माला लेकर कोरा ढोंग करनेसे भगवान् प्रसन्न नहीं होते। ऐसा दिखावा कुकर्मों का प्रायश्चित् नहीं, कोरा पाखण्ड, मोघकर्म और श्रद्धा का विकृत तामसी रूप है।

“दान देत चेत के सहस्र गुनौ पंखे हेत ,
लाए नेत ईसहू के संपति-भंडारे पै ।
कहै रतनाकर कहत राम-नाम हू के ,
रामा कौ अकार चढ़ै चित चटकारे पै ॥
हाथ में हजार गारें माला तुलसी की नीकी ,
रांची रचि जी की नित करम नकारे पै ।

(ख) यथा दारुमयी योषिघ्नृत्यते कुहकेच्छया ।

एवमीश्वरतंत्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः ॥भाग० १०।५४।१२

(ग) उमा दारुजोषित की नाई। सबहि नाचवत रामु गोसाई ॥

रामचरितमानस—किष्किन्धा काण्ड १२।७

(घ) यः कर्मफलं त्यजति, कर्माणि सन्यस्यति, ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥

नारद-भक्ति-सूत्र ४८

जोरि-जोरि नैन सैन करि कछु आपस में ,
पाप मुसकात पोले प्राञ्छित हमारे पै ॥”^१

भागवत्कार के मतानुसार ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्, वस्तुतः अखण्डानन्द स्वरूप तत्त्व के ही तीन भिन्न-भिन्न रूप हैं ।^२ भगवान् का चिन्मय रूप ज्ञानाश्रयी भक्तों का आलम्बन है । वे अपने ज्ञान के द्वारा इसी केवल ज्ञानस्वरूप ब्रह्म में लीन हो जाने का प्रयत्न करते हैं । अखण्डानन्दस्वरूप तत्त्व का दूसरा रूप परमात्मा है । योगी अपने योग की मधुमती भूमिका में पहुँच कर परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं । उपर्युक्त तत्त्व का तीसरा रूप भगवान् है, जो भक्त-हृदय का सर्वस्व है । भगवान् की अनन्त शक्ति के रसास्वादन की क्षमता सच्चे भक्त में ही होती है । वह भगवान् को सर्वशक्तिविशिष्ट तथा परिपूर्ण मानता है । भक्त के लिए मोक्ष नहीं प्रेम ही परम पुरुषार्थ है । वह ऋद्धि-सिद्धि नहीं, भगवान् को चाहता है । उसे मानो संसार से कोई मोह नहीं रह जाता । उसके सभी सांसारिक सम्बन्ध अपने भगवान् में ही केन्द्रीभूत हो जाते हैं । रत्नाकरजी का अधीत अभिमत भी यही है । ‘सर्वधर्मान्परित्यज्य’ वे भी केवल उसी की शरण में जाना कल्याणप्रद समझते हैं । प्रभु को छोड़कर उनका अन्य किसी से नेह-नाता नहीं है । भवसागर से पार उतरने की भी उन्हें चिन्ता नहीं, क्योंकि एक बार पार उतर जाने पर फिर पार उतारने वाले के दर्शन न हो सकेंगे:—

“एक तुमहीं सौं तौ सकल नेह नातौ बस ,
और की तौ जानत न मानत सगाई हम ।
कहै रतनाकर सु वारपार धारहू में ,
सोई तुम्हें देखत अपार सुखदाई हम ॥
जानते जौ काहू जानकार दूसरे के कहैं ,
पार जान ही में कछु अधिक भलाई हम ।
जप-तप-साधन बुसाध की कमाई करि ,
बेते मनभाई तुम्हें नाथ उतराई हम ॥”^३

१. गंगाविष्णुलहरी, ४१७ । छन्द-संख्या ४६

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।

राक्षसीमामुरीं चैव प्रकृतिं मोहनीं श्रिताः ॥ गीता १।१२

२. “वदन्ति तत्त्वविदिस्तत्त्वं यज्ज्ञानमदयम् ।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ॥” भा० ३।२।११

३. गंगाविष्णुलहरी पृष्ठ ४१७ । छन्द-संख्या ४७

अखिल ब्रह्मांड का नियन्त्रण एवं सञ्चालन करने वाली अज्ञात शक्ति का रहस्य समझने के लिए मानव कभी तर्क का आश्रय लेता है तो कभी अनुभूति अथवा भावनाओं से प्रेरित होता है; इसी कारण जीवन में कभी ज्ञान का प्राधान्य दृष्टिगोचर होने लगता है, तो कभी भक्ति अथवा कर्मवाद का। रत्नाकरजी की आस्था भक्तिमार्ग पर ही अधिक है। ज्ञान को तो वे मनमानी कहानी मानते हैं :—

देखत तुम्हें ना तौ कहा हैं नैन देखते ये
सुनत तुम्हें ना तौ सब खवन सुने कहा ।
कहै रतनाकर न पावैं जौ तिहारी बस
नासा तौ प्रसूननि सौं ललकि लुनै कहा ।
तेरे बिनु काको रस रसना लहति यह
परसन माहि त्वक अपर चुनै कहा ।
कोऊ धुनै ज्ञान की कहानी मनमानी बैठि
अलख लखैयनि कौं हम पै गुनै कहा ॥^१

उनकी धारणा है कि स्वार्थ और परमार्थ का रहस्य तो अर्जुन भी नहीं समझ सका था, फिर उनकी तो बात ही क्या है; अतः अपने आपको भगवान् के चरणों में समर्पित करके वे सदैव के लिए निश्चिन्त हो जाते हैं:—

“स्वारथ कौ पथ गथ गूढ़ परमारथ कौ,
पारथ हूँ पायो ना तौ और कौन पैहै जो ।
कहै रतनाकर न रंच यह पावैं जाँचि,
जाँचै कहा साँच ही प्रपंच खाँच खवैहै जो ॥
याही उर अंतर निरंतर प्रतीत धरें,
याही मुख मंतर हूँ अंत बुल धवैहै जो ।
ह्वै है हठि सोई जौ तिहारै मन भैहै नाथ,
भैहै तुम्हें सोई तौ हमारौ हित ह्वै है जो ॥^२

उन्हें अपने भगवान् की भक्तवत्सलता का पूरा भरोसा है। भक्तों की आर्त्त-पुकार सुनकर भगवान् एक क्षण की भी देर नहीं लगाते। उनका तो स्वभाव ही करुणामय है; फिर भला वे अपने भक्तों को कष्ट में कैसे देख सकते हैं ? इसी विश्वास को व्यक्त करते हुए रत्नाकरजी कहते हैं:—

१. प्रकीर्ण पद्यावली पृष्ठ ५७९। छन्द-संख्या ६७

२. गंगाविष्णु लहरी पृष्ठ ४१९। छन्द-संख्या ५२

“लीन्यौ रोक जमुना-प्रबाह बाँसुरी के नाथ ,
 जाकौ असबाद लोक सकल बखानेंगे ।
 कहै रतनाकर प्रलैं की धनधार रोकि ,
 लीन्यौ ब्रज राखि सहसाखि साखि मानेंगे ॥
 उमगत सिंधु रोकि द्वारिका बसाई दिव्य ,
 जुग-जुग जाकी कबि कीरति बखानेंगे ।
 हम तौ हमारी दसा दाखन बिलोकि नैंकु ,
 रोकि लैहौ करना प्रबाह तब जानेंगे ॥”^१

भगवान् की असीम भक्तवत्सलता के कारण रत्नाकरजी दुःख पड़ने पर भी उनका स्मरण नहीं करना चाहते । वे सोचते हैं कि दयानिधि का हृदय अतीव कोमल है, अतः वे अपने जन की कष्टगाथा बिना व्यथित हुए न सुन सकेंगे : —

“दुखहू परे पै ना पुकारत गुपाल तुम्हें ,
 कबहूँ उचारत उसास भरि राधा ना ,
 कहै रतनाकर न प्रेम अवराधे रँच ,
 नेम ब्रत संजम हू साधें करि साधा न ॥
 याही भावना में रहैं भभरि भुलाने कहूँ ,
 उभरि करैजें परे करना अगाधा ना ।
 अकथ अनन्व जो अकारन कृपा कौ नाथ ,
 हाथ करिबे में तुम्हें ताहि परे बाधा ना ॥”^२

किन्तु भक्त-भीर-हारी अपने भक्त की पुकार की प्रतीक्षा ही कब करते हैं ? वे तो कष्ट पड़ते ही व्याकुल मन की व्यथा जान जाते हैं । गजराज की पुकार सुन कर वे जिस शीघ्रता से दौड़ पड़े हैं, उसे देखकर चञ्चला भी चकित है :

“रमत रमा के संग आनंद-उमंग भरे ,
 अंग परे थहरि मतंग अवराधे पै ।
 कहै रतनाकर बदन-दुति औरै भई ,
 बूंदें छई छलकि दूगनि नेह-नाथे पै ॥

धाए उठि बार न उबारन में लाई रंच ,
चंबला हू चकित रही हूँ बेग-साधे पै ।
आवत बितुंड की पुकार मग आधे मिली ,
लौटत मिल्यौ तौ पच्छिराज मग आधे पै ॥”^१

इतनी शीघ्रता से आने पर भी भगवान् यही समझ रहे हैं कि उन्हें आने में देर हुई, अतः व्यर्थ ही उनके भक्त को इतनी देर तक कष्ट सहना पड़ा। प्रपन्न, अपत्रस्त गजराज के शरीर पर ग्राह द्वारा किये गये घावों को देखकर उनके नेत्र अश्रु-पूरित हो गये हैं :—

“संड गहि आतुर उबारि धरनी पै धारि ,
बिबस बिसारि काज सुर के समाज कौ ।
कहै रतनाकर निहारि करुना की कोर ,
बचन उचारि जो हरैया दुख-साज कौ ॥
अंबु पूरि दृगनि बिलंब आपनोई लेखि ,
देखि देखि दीह छत दंतनि दराज कौ ।
पीत-पट लै-लै कै अँगोछत सरीर कर ,
कंजनि सौं पौछत भुसुंड गजराज कौ ॥”^२

उधर भक्तश्रेष्ठ गजराज अपने भगवान् को दुःखी देखकर व्याकुल हैं। वह सोचता है कि उसी के कारण भगवान् को इतना कष्ट उठाना पड़ा ! यदि उसे यही विदित होता कि वे अपने जनों को कष्ट में देखकर इतने दुखी होते हैं, तो क्या वह अपने तुच्छ शरीर की रक्षा के लिए उन्हें पुकारता !

“ढारै नैन नीर ना सँभारै साँस संकित सो ,
जाहि जोहि कमला उतर्यौ करे आरते ।
कहै रतनाकर सुसकि गज साहस कै ,
भाळ्यौ हरें हेरि भाव आरत अपार ते ॥
तन रहिबै कौ सुख सब बहि जेहै हाय ,
एक बूंद आँस मैं तिहारै जो बिचारते ।

१. गजेन्द्रमोक्षाष्टक पृष्ठ ४३३ । छन्द-संख्या १

२. वही पृष्ठ ४३४ । छन्द-संख्या ३

एक की कहा है कोटि कदनानिधान प्राण ,
वारतै सचैन पे न तुमकों पुकारते ॥”^१

रत्नाकरजी की व्यक्तिगत भक्ति-भावना भी बहुत कुछ ऐसी ही है। उन्होंने भी विषम परिस्थितियों से आहत होकर कभी अपने इष्ट देव का स्मरण किया था और सम्भवतः भगवान् ने उनकी पुकार सुनी भी थी, परन्तु इधर तो भक्त को कष्ट में देखकर भगवान् को दुःख हुआ, उधर भगवान् को अपने लिए व्याकुल देखकर भक्त का हृदय भर आया, अतः भगवान् को दुःखी देखकर भक्त अपना दुःख भूलकर उन्हें धैर्य बंधाने लगा :—

“जानत हूँ तुमकों अजान बनि देख्यौ हाथ ,
अब सो अजानता की ग्लानि गरिबौ पर्यौ ।
कहै रतनाकर हराँस के हरैया रँच ,
आँस औ उसास हूँ सँभारि भरिबौ पर्यौ ॥
पाई आप पीर जो अधीरता हमारी हेरि ,
देखि कै अधीर तुम्हें धीर धरिबौ पर्यौ ।
आप तो हमारे मनुहार कौ पधारे पर ,
उलटौ हमें ही मनुहार करिबौ पर्यौ ॥”^२

उपर्युक्त उद्धरण से ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि ने भगवान् के कभी प्रत्यक्ष दर्शन किये थे। परन्तु सूर और तुलसी के समान रत्नाकरजी को अपने उपास्य के दर्शन-प्राप्ति की कोई कहानी प्रचलित नहीं है। उपर्युक्त मार्मिक उद्भावना उन्होंने स्वीय प्रतिभा के बल से ही की है। वर्तमान बौद्धिक युग में मध्ययुग की श्रद्धा को सम्भवतः वैसा महत्त्व भी नहीं दिया जा सकता। रत्नाकरजी का भी ऐसा कोई दावा नहीं है :—

“भाव दृढ़ता के कछु भरन न पाए उर ,
दुख-सुख-मोरनि हिंडोरनि पले गए ।
कहै रतनाकर प्रपंचनि कै पंच परि ,
साहस न संचि सके छकति छले गए ॥

१. गजेन्द्रमोक्षाष्टक पृष्ठ ४३६ । छन्द-संख्या ८

२. गंगाविष्णु लहरी पृष्ठ ४०८, ४०९ । छन्द-संख्या २५

घेरि-घेरि-ज्यों-ज्यों मनमाँहि चह्यो राखन कौ ,
फेरि फेरि त्यों त्यों तुम भाजत भले गए ।
जानि हमें कादर निरादर करत नाथ ,
सूर के हिए सौं क्यों न निमुकि चले गए ॥”^१

वे न तो अपने आपको सूर और तुलसी के समान भक्त समझते थे और न केशव के समान विद्वान् । हाँ, प्रेम के ढाई अक्षर उन्होंने अवश्य पढ़े थे, अतः भगवान् के सम्मुख अपना हृदय खोलकर रखते हुए उन्होंने कहा :—

“सूर तुलसी लौं नाहिं भक्ति अधिकारी हम ,
ताके माँगिबे की चित्त चाह गहिबौ कहा ।
कहै रत्नाकर न पंडिताई केसव की ,
तातें कल कीरति की हौंस बहिबौ कहा ॥
मन अभिलाषे धन, धाम दाम नाम सदा ,
पूछत तिहारे सकुचात कहिबौ कहा ।
तातें अब तुम हीं बतावौ हू कृपाल ठाहि ,
अपर हमें है तुम्हें चाहि चहिबौ कहा ॥”^२

भक्त के हृदय में अपने भगवान् की जो काल्पनिक रूप-रेखा स्थापित हो जाती है, वही मञ्जुल मूर्ति विकसित इच्छाशक्ति के प्रभाव से शनैः-शनैः वास्तविकता में परिणित हो उठती है । उपास्य के सुनिश्चित रूप-आकार एवं व्यक्तित्व की कल्पना किये बिना उसका ध्यान अथवा भक्ति सम्भाव्य नहीं है । इसी आवश्यकता की पूर्ति के हेतु इष्टदेव के विशिष्ट व्यक्तित्व की कल्पना की जाती है । भक्त की इच्छाशक्ति के प्रताप से ही निराकार ब्रह्म नराकार बनता है । थोड़ी देर के लिए यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि इच्छाशक्ति-विनिर्मित साकार ईश्वर कोरी कल्पना ही है तथा ऐसे कल्पित भगवान् में भक्त की पुकार सुनने अथवा उसके कण्ठों को दूर करने की क्षमता नहीं होती, तब भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इस साकार स्वरूप के सौन्दर्य पर श्रद्धा करते-करते इच्छाशक्ति का अत्यधिक विकास हो जाता है, फलतः आस्तिक बुद्धि के उद्रेक से भक्त को अतीन्द्रिय तथा अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होने लगता है, इसीलिए रत्नाकरजी ने अपने उपास्य के सौन्दर्य का भव्य चित्रण किया है । इसी सौन्दर्य के माधुर्य-ऐश्वर्य से आस्तिक्य का उद्वाहन होता है । आस्तिक्य के कारण विषम परि-

१. गंगाविष्णु लहरी, पृष्ठ ४१८-४१९ । छन्द-संख्या ५०

२. वही पृष्ठ ४१९ । छन्द-संख्या ५१

स्थितियों में भी भक्त के हृदय में आशा की क्षीण रेखा विद्यमान रहती है और विपत्ति की घड़ियाँ व्यतीत हो जाने पर उसे ऐसा भास होता है कि इष्टदेव की कृपा और सहायता से ही आपत्ति टली है। रत्नाकरजी के इसी आस्तिक्य, इच्छाशक्ति के अद्भुत चमत्कार और आशावाद के दर्शन 'श्री द्रौपदी अष्टक' में होते हैं। द्रौपदी के लिए जीवन मरण का प्रश्न उपस्थित है। भरी सभा में उसे नग्न किया जा रहा है। पाँच-पाँच पतियों के होते हुए भी आज वह अनाथ है। भाग्य के व्यंग्य से प्रतप्त होकर द्रौपदी उसे पुकारने लगती है जिसने सदैव अपने भक्तों की बिगड़ी बात बनायी है :—

“हाय दुरजोधन की जंघ पै उधारि बंठि ,
 ऐंठि पुनि कैसें जग आनन दिखावेगी ।
 बार बार द्रौपदी पुकारति उठाए हाथ ,
 नाथ होत तुमसे अनाथ ना कहावेगी ॥^१

एक ओर मान-प्रतिष्ठा और लज्जा का प्रश्न है, दूसरी ओर है उसकी असहाय दशा। परिस्थिति की विषमता से अपत्रस्त होकर, अपने कण्ठ-कलित हृदय की वेदना को शब्दों में निचोड़ते हुए उसने कहा:—

“पाँच पाँच नाथ होत नाथनि के नाथ होत ,
 हाय हों अनाथ होति नाथ बस ह्वं चुकी ॥^२

द्रौपदी के हृदय की व्याकुलता बढ़ती जाती है। उसकी आर्त्तवाणी अब 'यदुनाथ' को भी भूल कर 'गोपाल' को पुकारने लगती है। 'यदुनाथ' शब्द से कृष्ण के राजत्व का जैसा बोध होता है, वैसा 'गोपाल' शब्द से नहीं होता। राजा का धर्म प्रजा की रक्षा करना है। परन्तु कौरव-सभा में द्रौपदी ने राजपूतों की बानगी देख ली थी। भरी सभा में एक अबला की लाज लूटी जा रही थी, फिर भी भीष्म और कर्ण जैसे क्षत्रियत्व के अभिमानी वहाँ नतमस्तक होकर चुप बैठे थे। क्षत्रिय जाति पर द्रौपदी को जैसे विश्वास ही न रहा हो, अतः 'यदुनाथ' को पुकारना व्यर्थ समझकर उसने गाढ़े के साथी गोपाल को ही पुकारा। द्रौपदी की यह कण्ठ पुकार अतीव हृदय-द्रावक है:—

“भीष्म कौं प्रेरौं कर्नहूँ कौ मुख हैरौं हाय ,
 सकल सभा की ओर बिन दृग फेरौं मैं ।
 कहै रत्नाकर त्यों अंधहूँ [के आगें रोइ ,
 खोइ दीठि चाहति अनीठहूँ निबेरौं मैं ॥

१. श्रीद्रौपदी अष्टक पृष्ठ ४४५ । छन्द-संख्या १

२. वही, पृष्ठ ४४६ । छन्द-संख्या ३

हागी जदुनाथ जदुनाथ हूँ पुकारि नाथ ,
हाथ दाबि कढ़त करेजहि दरेरों में ।
देखी राजपूती की सकल करतूति अब ,
एक बार बहुरि गुपाल कहि टेरों में ॥^१

‘अन्धे के आगे रोना और अपने दीदे खोना’ इस सामान्य लोकोक्ति का रत्नाकर जी ने यहाँ बड़े ही कलात्मक ढंग से निर्वाह किया है । धृतराष्ट्र की तो खैर माथे की भी फूट गयीं थीं और हिये की भी, किन्तु भीष्म और कर्ण जैसे उस युग के वे महा-पुरुष भी, जिनके आगे ऐसा अधर्म और अनाचार हो रहा था, कापुरुष के समान निश्चेष्ट बैठे थे । द्रौपदी की रक्षा तो बड़ी दूर की बात है, इस अन्याय के विरोध में उनके मुँह से एक शब्द तक नहीं निकल पाता था । परीक्षा के निकष पर ‘रजपूती की करतूती’ सारहीन सिद्ध हो रही थी ।

सब ओर से निराश होकर भक्त जब अशरण-शरण भगवान् का स्मरण करता है, तब उसकी आर्त्त पुकार कभी खाली नहीं जाती । भक्तों का तो यही दृढ़ विश्वास है कि भगवान् के कानों तक हाथी की चिंघाड़ चाहे विलम्ब से पहुँचे परन्तु चींटी की गुहार पहले पहुँच जाती है । आवश्यकता है हृदय की निर्मलता और ऊर्जस्वित् भवित-भाव की । द्रौपदी की करुण पुकार से इसी कारण यह चमत्कार उपस्थित हो सका था :—

“दीन द्रौपदी की परतंत्रतापुकार ज्योंही ,
तंत्र बिन आई मन-अंत्र बिजरीनि पै ।
कहै रतनाकर त्यों कान्ह की कृपा की कानि ,
आनि लसी चातुरी बिहीन आतुरीनि पै ॥
अंग परधौ थहरि लहरि दृग रंग परधौ ,
तंग पर्यो बसन सुरंग पैसुरीनि पै ।
पंचजन्य चूमन हुमसि होंठ बक्र लाग्यौ ,
चक्र लाग्यौ घूमन उमगि अँगुरीनि पै ॥”^२

और अपने भक्त की व्यथित वाणी से द्रवित होकर भगवान् कह उठे:—

“अंबर कौ काल कौ हली कौ हरि हरहूँ कौ ,
संतत अनंतता बिधान जब छूटंगौ ।

१. श्रीद्रौपदी अष्टक पृष्ठ ४४६ । छन्द-संख्या ४

२. वही, पृष्ठ ४४६, ४४७ छन्द-संख्या ५

छूटैगी हमारौ नाम भक्त भीर हारी जब ,
द्रुपद-सुता कौ चीर-छीर तब छूटैगौ ॥”^१

महाकवि सूरदास ने भी इस मार्मिक स्थल का हृदयहारी वर्णन किया है। हारे को हरिनाम के अतिरिक्त और भला किसका अवलम्ब हो सकता है ? इसीलिए सूर ने कहा था:—

“सुने री मेंने निरबल के बल राम ,

.. .. .
.. .. .
.. .. .

द्रुपद सुता निरबल भइ ता दिन, तजि आए निज धाम ,
दुस्सासन की भुजा थकित भई, बसन रूप भये स्याम ।
अप बल तप बल और बाहू बल, चौये है बलदाम ,
सूर किसोर कृपातें सब बल, हारे को हरिनाम ॥”^२

सिद्धवाणी के सरस कवि रत्नाकर ने भी भगवान् की इसी द्रवणशीलता का प्रदीप्त उल्लेख किया है। वही पौराणिक गाथा है, परन्तु रत्नाकरजी की कलानिपुणता ने उसे जो आकर्षक रूप प्रदान किया है, वह अपने ढंग का अनोखा है। सूर के ‘बसन रूप भए स्याम’ जैसे उच्चकोटि के भाव को आत्मसात् कर लेना टेढ़ी खीर है, किन्तु रत्नाकरजी ने सूर की इस उक्ति को अपना ही नहीं लिया, नूतनता से आप्लावित भी कर दिया है।

“भरि दृग नीर ज्यों अधीर द्रौपदी ह्वं दीन ,
कीन्यौ ध्यान कांह की महान प्रभुता कौ है ।
कहैं रतनाकर त्यों पट में समान्यौ आइ ,
अकल असीम भाइ दीनबंधुता कौ है ॥”^३

यहाँ तक सूर से गृहीत भाव ‘बसन रूप भए स्याम’ का कलात्मक औज्ज्वल्य निर्बाध है। इसके पश्चात् रत्नाकरजी निजी कल्पना के आधार पर इसी भाव को और भी चमत्कारिक ढंग से कह जाते हैं :—

“भौचक समाज सब औचक पुकारि उठ्यौ ,
गारि उठ्यौ गहब गुमान गरुता कौ है ।

१. श्री द्रौपदी अष्टक, पृष्ठ ४४७ । छन्द-संख्या ६

२. सूरदास जी-वैद्य भजन संग्रह भाग १ पृष्ठ ११० संग्रहकर्ता श्री वियोगीहरि

३. श्री द्रौपदी अष्टक, पृष्ठ ४४७ । छन्द-संख्या ७

चौदहै अनंत जग जानत हुते पै यह ,
पंद्रहौं अनंत चीर द्रुपद-सुता कौ है ॥”^१

देश-काल के बन्धन महाकवि को बाँध ही कब सके हैं । उसकी प्रखर कल्पना की उड़ान कहाँ तक पहुँचेगी, इसका अनुमान लगा लेना सरल कार्य नहीं । प्रतिभा सम्पन्न कलाकार की अनुभूति तथा उसके सूक्ष्म निरीक्षण से संसार की कोई बात छिपी नहीं रहती । यही कारण है कि विश्व के विभिन्न महाकवियों में भाव-साम्य प्रायः परिलक्षित होता है । ऐसे कवि यदि अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को अपनाते भी हैं तो अपनी प्रतिभा से उन्हें और भी उत्कर्ष प्रदान कर देते हैं । रत्नाकरजी ने भी मानव भावाम्बु में गहरी डुबकी लगायी है । एक नहीं अनेक स्थलों पर उन्होंने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को अपनाया है, परन्तु गृहीत भावों पर अपनी छाप इतनी गहरी डाल दी है कि वे भाव उन्ही के हो गये हैं । चौदह अनन्त लोक तो सभी ने सुने थे, किन्तु भगवान् की कृपा से द्रुपद-सुता के चीर को पन्द्रहवाँ अनन्तलोक बनाकर उन्होंने भक्ति-भावना के साथ अपनी कलात्मक प्रतिभा का भी पूर्ण परिचय दे दिया है ।

“दुःशासन की भुजा थकित भई” कहकर सूर ने द्रौपदी-चीर-वृद्धि से अपत्रप दुःशासन के थक जाने का वर्णन किया है । इसी प्रकार—

“जैसी लाज रखी द्रौपदि की, होन न दीन्ह उघारी ।

खँचत-खँचत दोउ भुज थाके, दुस्सासन पचि हारी ॥”^२

इत्यादि पंक्तियों में सूर ने अधिकतर यही कहा है कि दुःशासन द्रौपदी का चीर खँचते-खँचते हार गया । परन्तु चीर का इतना बढ़ जाना अतिशय विस्मापक घटना थी । इस असम्भाव्य घटना से वृत्तहीन दुःशासन के थकित होने के अतिरिक्त उसका चकित होना तथा खिसियाजाना भी स्वाभाविक था । अतः एक ओर तो रत्नाकरजी ने प्रपीड़िता द्रौपदी की रक्षा का दृश्य उपस्थित किया, दूसरी ओर दुःशासन की घबराहट का भी चित्र अङ्कित कर दिया है । सन्देहालङ्कार की कलात्मकता द्वारा विमंमूढ़ दुःशासन की मनोदशा की निम्नोक्त चित्रव्यञ्जना भी अतीव सजीव है:—

“कंधों पाँडु-पूतनि कौ कछुक पखंड यामे ,

कोऊ अभिहार कं सभा कौ ज्ञान लूट्यो है ।

कंधों कछु वाही कलछल रतनाकर कौ ,

नटखट नाटक इहाँहूँ आनि जूट्यो है ॥

१. श्री द्रौपदी अष्टक, पृष्ठ ४४७ । छन्द-संख्या ७

२. सूरदासजी-विनय भजन संग्रह भाग १ पृष्ठ ९३ संग्राहक श्री वियोगीहरि ।

कहत दुसासन उसास न संभारयौ जात ,
 साहस हमारौ जात सब बिधि छूट्यौ है ।
 लागि गए अंबर लौं अखिल अटंबर पै ,
 द्रुपद-सुता कौ अजौं अंबर न खूट्यौ है ॥”^१

भावोत्कर्ष में सन्देहालङ्कार यहाँ बड़ा सहायक हुआ है । किसी आश्चर्यजनक घटना को देखकर नाना प्रकार की कल्पनाएँ करता हुआ मन यही तो कहता है कि आखिर इसका रहस्य क्या है ? “दुस्सासन की भुजा थकित भई” की अपेक्षा

“कहत दुसासन उसास न संभारयौ जात ,
 साहस हमारौ जात सब बिधि जूट्यौ है ॥”

कहकर तो रत्नाकरजी ने मानो उक्त अवसर को ही पाठकों के मानसिक नेत्रों के सम्मुख प्रत्यक्ष कर दिया है ।

रत्नाकरजी ने भक्तिभावना की अभिव्यक्ति के लिए प्रायः मार्मिक पौराणिक प्रसङ्गों को ही चुना है । श्रीगजेन्द्रमोक्षाष्टक, श्रीसुदामाष्टक, श्रीद्रौपदी अष्टक, भीष्म प्रतिज्ञा, जयद्रथवध इत्यादि में उन्हें भगवान् की भक्तवत्सलता के निरूपण का पूर्ण अवसर मिला है । जयद्रथवध में तो भगवान् की भक्तवत्सलता का अत्यन्त रसप्लुत वर्णन है । कृष्ण ने महाभारत के युद्ध में शस्त्र-ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा की थी, परन्तु भक्त अर्जुन की प्राणरक्षा के लिए वे अपनी प्रतिज्ञा तोड़ने के लिए भी प्रस्तुत हो जाते हैं । यह प्रसङ्ग रत्नाकरजी ने महाभारत से लिया है । यद्यपि महाभारत में इस अवसर पर भगवान् को अपनी प्रतिज्ञा की अवज्ञा में तत्पर नहीं दिखाया गया है, परन्तु रत्नाकरजी के भक्त हृदय ने यहाँ भी मौलिक उद्भावना से हृदयहारी चित्र उपस्थित किया है । उनके कृष्ण अपनी प्रतिज्ञा की भी उपेक्षा करने को प्रस्तुत है :

“पारथ कियौ जो प्रन घोर ताहि तोरन कौं ,
 कोरि प्रान-पन सौं महारथ सकैंहें ना ।
 मीजि मीजि हाथ कहें नाथ रतनाकर के ,
 भामुहूँ पयान माहि बिलंब लगैंहें ना ॥
 सावधान चक्र आज काज अक्रता कौ नाहि ,
 जोपे सक-पूत प्रन पालत लखैंहें ना ।

आपनी प्रतिज्ञा की अवज्ञा करि लेंहें पर ,
भक्त-भीर-भंजन की संज्ञा जानि देंहें ना ॥”^१

भगवान् की उतावली और चिन्ता क्षण-क्षण बढ़ती जा रही है। भक्त की रक्षा में वे दर्प के साथ तत्पर हैं। चक्र पर झुंझलाते हुए वे सूर्य के पास संदेश नहीं आदेश भेज रहे हैं। यम के साथ यम-जनक को भी उनकी स्पष्ट आज्ञा है :

“ऐरे चक्र अक्र ह्वै रह्यौ है कहा बेगि धाइ ,
जाइ तितैं रंचहूँ बिलंब कहूँ लैयौ ना ।
कहै रतनाकर सँदेस ना निदेस यह ,
कहियौ अतंक सौँ ससंक सकुचैयौ ना ॥
जौलौं अरि-रक्त सौँ धनंजय न पूरें मंग ,
तौलौं नील अंबर दिगंगना सजैयौ ना ।
सिंधुराज-जीवन सौँ जौलौं ना अघाइ जम ,
तौलौं जम-जनक बिराम-ठाम जैयौ ना ॥”^२

उपर्युक्त कवित्त रत्नाकरजी की कला-चातुरी के उत्कृष्ट उदाहरणों में से एक है। चक्र, अक्र, संदेस, निदेस, अतंक, ससंक जैसे शब्दों की अर्थ-गुण-कान्ति तथा संगीतात्मकता, अरि-रक्त की लाली और दिगंगना के नील अम्बर सजाने में उपस्थित चित्रात्मकता, ‘सिंधुराज-जीवन सौ जौ लौं न अघाय यम’ में श्लेष का अन्तश्चमत्कार, तथा यम के साथ यम-जनक के उल्लेख में ध्वनि का कौशल उस कलात्मकता का स्पष्ट उद्घोष है जो कलाकार के साफल्य के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है।^३ कवि की भक्ति-

१. वीराष्टक जयद्रथ वध पृष्ठ ४९९ । छन्द-संख्या ७

२. वीराष्टक जयद्रथवध पृष्ठ ५०० । छन्द संख्या ८

3. “Just as, for instance, it was necessary to understand life in order to live properly, so he, (Plato) implies, a knowledge of art was needed for the making of a successful artist. Then too he finds in philosophy sanctions for some of his governing artistic principles, notably the law of order, restraint, and the like. To him God, not man, was the measure of all things : and man he added was like God in so far as he followed the law of right measure. Or again there is the use he makes of

भावना की प्रेषणीयता में यहाँ कला का अन्यून-अनतिरिक्त सम्प्लवन निश्चय ही उत्कर्षाधायक है ।

भगवान् की भक्तवत्सलता पर रत्नाकरजी मुग्ध हैं । भीष्म-अर्जुन-युद्ध-प्रसङ्ग में भी उन्हें दयामय की इसी दयार्द्रता ने आकृष्ट किया है । यहाँ तो भगवान् ने भीष्म प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए अपनी प्रतिज्ञा तोड़ सी ही ली है । भक्तों को भगवान् से लड़ने में भी बड़ा मजा आता है । प्रेम के भरोसे ही वे मान ठान लेते हैं । मान भी वस्तुतः प्रेम का ही प्रतीक है । मान किये जाने पर यदि मनाये जाने की आशंसा न हो तो कौन किससे मान करेगा और क्यों कोई किसी का मान सहेगा ? कृष्ण ने महाभारत के युद्ध में अस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की थी, उधर भक्त-शिरोमणि भीष्म को युद्धस्थल में ही परिहास की सूझी है ! भगवान् की भक्तवत्सलता के भरोसे ही वे भी प्रतिज्ञा कर बैठते हैं कि :—

“हरि-प्रन हारी-जस धारि कै धरा ह्वै सांत ,

सांतनु कौ सुभट सपूत कहवैंहौं मैं ॥”^१

प्रीति-रीति के भरोसे ही भीष्म ने यह हठ पकड़ी है । जिसे प्यार किया जाता है उसके लिए संसार की ऐसी कौन सी वस्तु है जो न्योछावर न की जा सके ? भक्त भी यही सोचता है कि यदि सचमुच भगवान् की मुझ पर कृपा है, तो वे मेरे लिए क्या नहीं कर सकते ? इसी से भीष्म ने कहा :—

“कैतौ प्रीति-रीति की सुनोति उठि जाइगी कै ,

आज हरि-प्रन की प्रतीति उठि जाइगी ॥”^२

भगवान् के लिए विचित्र धर्म सङ्कट है । यदि अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हैं तो उनके भक्त की बात जाती है और यदि प्रतिज्ञा तोड़कर शस्त्र-ग्रहण करते हैं, तो लोकहँसाई होती है । उधर भीष्म की भयङ्कर बाण-वर्षा से उनका अर्जुन संव्रस्त है :—

“the reconciliation of opposites” as applied to a musical scale which he regards as a blending of high notes and low notes, and to rhythms based on short and long syllables, the elements differ in kind but are reconciled by the art of music.”

Atkins—Literary Criticism in antiquity page 54.

१. वीराष्टक पृष्ठ ४८९ । छन्द-संख्या २. भीष्म प्रतिज्ञा ।

२. वही पृष्ठ ४८९ । छन्द-संख्या १. भीष्म-प्रतिज्ञा ।

“भीष्म के बाननि की मार इमि माँची गात ,
 एकहैं न घात सव्यसाची करि पावैं है ।
 कहै रतनाकर निहारि सो अधीर दसा ,
 त्रिभुवन-नाथ-नैन नीर भरि आवैं है ॥
 बहि बहि हाथ चक्र-ओर ठहि जात नीठि ,
 रहि रहि तापैं बक्र दीठि पुनि धावैं है ।
 इत प्रन-पालन की कानि सकुचावैं उत ,
 भक्त-भय-घालन की बानि उमगावैं है ॥”^१

भक्तश्रेष्ठ भीष्म को अपनी हठ में सफल होने की पूर्ण आशा है । आशा ही नहीं अपने भगवान् की भक्तवत्सलता पर उन्हें पूरा विश्वास भी है । इसी से वे मुसकराकर धीरे से कह देते हैं :—

“रोकि झर रंचक अरोक धर बाननि की ,
 भीष्म यों भाष्यौ मुसकाइ मंद स्वर में ।
 चाहत बिजै कौ सारथी जौ कियौ सारथ ,
 तौ बक्र करौ भृकुटी न चक्र करौ कर में ॥”^२

भीष्म की इस मुसकराहट तथा सारथी सम्बोधन में अद्भुत हार्द्र है । भगवान् को अपने भक्तों की इस चुहल में ही तो आनन्द आता है । कृष्ण भी भीष्म-प्रतिज्ञा की पूर्ति तथा भक्त पार्थ की रक्षा के लिए रथ के पहिये को ही चक्र बनाकर दौड़ पड़े हैं । अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग होने का उन्हें ध्यान ही नहीं रहा है :—

“ज्यौही भए बिरथ रथांग गहि हाथ नाथ ,
 निज प्रन-भंग की रही न चित चेत है ।
 कहै रतनाकर त्यों संग हीं सखाहूँ कूबि ,
 आनि अरघौ सौहें हाहा करत सहेत है ।
 कलित कृपा औ तृपा द्विमग समाहे पग ,
 पलक उठ्यौई रह्यौ पलक-समेत है ।
 धरन न वेत आगे अरुमि धनंजय औ ,
 पाछें उभय भक्त-भाव परन न वेत है ॥”^३

१. वीराष्टक भीष्म-प्रतिज्ञा पृष्ठ ४९० । छन्द-संख्या ४

२. वही, पृष्ठ ४९१ । छन्द-संख्या ३

३. वही, पृष्ठ ४९२ । छन्द-संख्या ८

कवि की जैसी मनोवृत्ति होती है, तदनु रूप ही वह अपने काव्य का विषय चुनता है। रत्नाकरजी की रचनाओं से विस्पष्ट है कि वे अनन्य वैष्णव थे। उनके उपास्य राधा-कृष्ण ही थे, परन्तु उनमें धार्मिक संकीर्णता लेशमात्र भी न थी; अतः राम, शिव, हनुमान, गणेश, गङ्गा, यमुना, काशी, अयोध्या सभी के प्रति उन्होंने पूर्ण श्रद्धा प्रकट की है। अन्य उपासकों के समान रत्नाकरजी भी अपने उपास्य को साक्षात् परब्रह्म मानते हैं। उपाधिअंश से रहित होने पर तो सभी देवी-देवता परब्रह्म ही हैं, परन्तु उपाधिअंश के साथ विचार करने पर परब्रह्म और अन्य देवताओं में अन्तर प्रतीत होने लगता है। यही प्रतीकोपासना का सुरम्य मार्ग है। भक्त के उपास्यदेव ही उसके लिए परब्रह्म के प्रतीक होते हैं। इसी कारण रत्नाकरजी का हृदय राधाकृष्ण में जैसा रमा है, वैसा अन्य देवी-देवताओं में नहीं रम सका। यों तो व्यापक हिन्दू धर्म में सहस्र-शीर्ष, सहस्राक्ष, सहस्रपाद के सहस्रधा अभिधानों की भी कमी नहीं, परन्तु भक्त के हृदय में नाम के पहले भगवान् का विशिष्ट रूप स्थापित हो जाता है, फलतः एक ही ईश्वर की कोई विष्णुरूप में उपासना करता है, तो कोई शिव, शक्ति, दुर्गा, गणेश, राम, कृष्ण इत्यादि के रूप में उसी का ध्यान करता है। भक्त के लिए अपने इष्टदेव का चुनाव कर लेना आवश्यक ही नहीं, श्रेयस्कर भी है। भक्त का अनुराग अपने इष्टदेव को सर्वशक्तिविशिष्ट बना देता है। उसका उपास्य कोई क्षुद्रदेवता नहीं होता। रत्नाकरजी के इष्टदेव भी सर्वशक्ति वरिष्ठ हैं। इसी से उनके भक्त हृदय ने अपने काव्य के लिए पौराणिक गाथाओं में से ऐसे ही स्थलों का चयन किया है, जहाँ वे अपने भगवान् की अपरिमेय शक्ति, असीम सौन्दर्य और अगाध भक्त-वत्सलता का दिग्दर्शन करा सकते थे। इस प्रकार की भक्ति-भावना में इष्टदेव के प्रति पूर्ण अनुराग होने के कारण कभी-कभी साम्प्रदायिक पक्षपात भी हो जाता है। शैवों और वैष्णवों के झगड़े इसी साम्प्रदायिकता के कारण होते रहे हैं, परन्तु रत्नाकरजी में धर्मान्धता है ही नहीं। अपने इष्टदेव को सर्वशक्तिवरिष्ठ प्रतिपादित करते हुए भी उन्होंने नाना रूपात्मक देवी-देवताओं की विस्तृत सारिणी में से किसी की अवज्ञा कभी नहीं की। इष्टदेव के नाम तथा रूपात्मक भेद के कारण जो झगड़े उठ खड़े होते हैं, उनसे रत्नाकरजी बहुत दूर हैं। उनके उदारतर हृदय में सभी के प्रति आस्था है। यही कारण है कि उन्होंने इतर धर्मावलम्बियों के इष्टदेवों को दानव-दल में कभी नहीं धकेला। साधारण जनता साम्प्रदायिक मीमांसा की न तो क्षमता ही रखती है, और न उसे इसमें कुछ आनन्द ही आता है। उधर ज्ञानवरिष्ठ लोगों के लिए भी ईश्वर एक ही है, अतः उदार चेतन मनीषियों का हृदय धार्मिक संकीर्णता को कभी प्रश्रय नहीं देता। कविवर रत्नाकरजी के व्यापक धार्मिक दृष्टिकोण में भी सभी देवताओं के लिए पूर्ण आदर था।

रत्नाकर जी की भक्ति-मदति की इस चर्चा के पश्चात् यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या उनके भक्ति परक उद्गारों में हृदय की वैसे ही तल्लीनता, अनुभूति की तीव्रता का वैसा ही मार्दव, अडिग आत्मनिष्ठता और वैसी ही द्रवणशीलता परिलक्षित होती है जैसी सूर और तुलसी की भक्ति-भावना में विद्यमान है ? इस प्रश्न का उत्तर देते समय इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि रत्नाकरजी आधुनिक काल के कवि थे और अभी लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व ही उनका स्वर्गवास हुआ है । ऐसे अनेक व्यक्ति अभी विद्यमान हैं, जो उनके निकट सम्पर्क में रह चुके हैं । सम-कालीन कवियों के भक्ति-सम्बन्धी व्याख्यापन पर लोगों को प्रायः वैसा विश्वास नहीं होता, जैसा प्राचीन भक्तों की तन्मयता पर हो जाया करता है ।

सामान्यतः भक्त भी दो प्रकार के होते हैं । एक तो वे जो संसार से विरत हो कर उपासना में तल्लीन हो जाते हैं, दूसरे वे जो संसार में रहते हुए ही भगवान की भक्ति करते रहते हैं । पहले प्रकार के भक्तों में वैराग्य का आधिक्य दृष्टिगोचर होता है, किन्तु दूसरी कोटि के भक्तों में विरक्ति की मात्रा उतनी तीव्र नहीं होती । ईदृश भक्तों को संसारीभक्त कहा जा सकता है । वैराग्य के अभाव में संसार के प्रति उनका थोड़ा-बहुत मोह बना रहता है; इसीलिए ऐसे भक्तों में प्रथम श्रेणी के भक्तों के समान तीव्र वैयक्तिक रागात्मक अनुभूति की आवेग-कान्ति परिलक्षित नहीं होती । जीवन की विषम परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से संसारी भक्तों के हृदय में समय-समय पर ही भक्ति की उपद्रुति सम्भाव्य है । यद्यपि इन दोनों ही प्रकार के भक्तों में दैन्य की भावनाएँ पायी जाती हैं तथा भगवान की भक्तवत्सलता का महत्त्व भी दोनों ही प्रतिपादित करते हैं, परन्तु प्रथम श्रेणी के भक्तों की भक्ति दिव्य प्रेम से ओत-प्रोत होती है, तथा द्वितीय श्रेणी के भक्तों की भावनाओं में लौकिक स्नेहाकर्षण का पुट समासन्न रहता है

कृष्णभक्ति-शाखा के भक्तिकालीन कवियों में जो अलौकिक अथवा दिव्य प्रेम पाया जाता था, वह रीतिकालीन कवियों द्वारा लौकिक अथवा पार्थिव प्रेम में परिवर्तित हो गया था । सूर और मीरा की भक्तिभावना रीतिकाल में विलास की भावना में समाहित हो गयी थी । रीतिकालीन कवियों के लिए अपने आश्रयदाताओं की मनःतुष्टि के लिए ऐसी ही रचनाएँ करना आवश्यक हो गया था । अतः उस युग में आते-आते सूर और मीरा के इष्टदेव गोपियों का हृदय मुग्ध करने वाले मनहरण कृष्ण न रहकर निर्विशेष प्रेमी और रसिक बन गये थे । रीतिकालीन साहित्य से प्रभावित रत्नाकरजी की मनोवृत्ति भी शृंगारोन्मुख थी, अतः उनकी भक्ति-भावना में वैसा हार्द्र, आवेश और निर्मल दैवी प्रेम विद्यमान न था, जैसा सूर, तुलसी अथवा मीरा की भक्ति-भावना में उपलब्ध है । उनकी भक्ति के आलम्बन अनेक स्थलों पर पार्थिव से प्रतीत होते हैं, सूर

तुलसी, और मीरा की तरह अपार्थिव नहीं। कहीं-कहीं तो लौकिक प्रेम का रङ्ग इतना विस्फीत है कि भक्तिभावना दिव्यप्रेम से प्रद्युतित न रहकर मानवीय शृंगारिक आकर्षण के निकट पहुँच गयी है। शृंगारलहरी में अपने उपास्य देव का उन्होंने यह चित्रण किया है :—

“रति विपरीति रची प्यारी मनमोहन सौ ,
 करि कै कलोल केलि कसक मिटाए लेति ।
 हिय हलकोरनि सौँ झमकि झकोरनि सौँ ,
 किंकिनी के सोरनि सौँ उर उमगाए लेति ॥
 उच्च कुच-कोरनि सौँ जुग-जंघ-जोरनि सौँ ,
 मैन के मरोरनि सौँ दुमुचि दबाए लेति ।
 अंग-अंग अमित अनंग की तरंग भरी ,
 प्रथम समागम कौ बदलौ चुकाए लेति ॥

यह चित्र तो खैर समस्या-पूर्ति के आग्रह से निर्मित हुआ है, तथापि रत्नाकरजी की रचनाओं में ऐसे वर्णन विरल नहीं हैं। रचना-परिमाण की दृष्टि से भी उनकी भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ अधिक नहीं हैं। सच तो यह है कि रत्नाकरजी में भक्त कवियों की भावुकता भी विद्यमान थी तथा रीतिकालीन कवियों की रसिकता भी। रीतिकालीन प्रभाव से अलग रहकर जहाँ कहीं उन्होंने अपनी भक्ति-भावना को प्रकट किया है, वहाँ उनके चित्र धुंधले नहीं उतरे हैं; अतः रत्नाकरजी को तुलसी और सूर जैसे भक्त कवियों की श्रेणी में स्थान देने की अपेक्षा हरिश्चन्द्र, पद्माकर, घनानन्द इत्यादि कवियों को पंक्ति में स्थान देना अधिक समीचीन है। ये सभी कवि ऐसे थे जिन्होंने सांसारिक प्रलोभनों के बीच में रहकर भगवान् की भक्ति की थी।

सप्तम अध्याय

रत्नाकर का काव्य-कलाप

काव्यग्रन्थ और उनका संक्षिप्त परिचय

हिंडोला

रत्नाकरजी का प्रथम काव्यग्रन्थ 'हिंडोला' है जो सन् १८९४ में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। इसकी अन्तिम पंक्तियों के अनुसार इसका रचनाकाल संवत् १९५१ है:—

मन^१ इन्द्रिय^२ अरु भक्ति^३ सहित गोपालहि^१ लायौ ,

तिहि तरंग में रचि झूलन अति रुचिर झुलायौ ॥^१

उपर्युक्त प्रबन्धकाव्य के मंगलाचरण में प्रथम एक कवित्त तथा अन्त में एक दोहा लिखकर कवि ने अपने इष्टदेव की वन्दना की है। शेष सम्पूर्ण काव्य सौ रोलाओं में समाप्त हुआ है।

इस काव्य में वर्षाऋतु में राधाकृष्ण के झूला झूलने का आकर्षक वर्णन है, सुतरां इसमें आद्यन्त संयोग शृंगार का प्राधान्य है। ब्रजभूमि की वर्षाकालीन नैसर्गिक शोभा के चित्रण में भी रत्नाकरजी को पूर्ण सफलता मिली है। कहीं-कहीं अनोखी उपमाएँ और अनूठी उत्प्रेक्षाएँ उनके पुराण ज्ञान, दार्शनिक विचार, प्रकृति-प्रेम और रङ्गों के सूक्ष्म निरीक्षण की सफल अभिव्यञ्जना करती है। अलङ्कारों की यह योजना प्रायः सर्वत्र ही संयोग शृंगार के उत्कर्ष में सहायक हुई है। उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ उपस्थित हैं:—

“साजे हरित दुकूल फूल छाजे बनिता बहु ,
निज-निज नाहें अंक निसंक रहीं भरि मानहु ॥”^२

“जहँ तहँ सरवर, झील, ताल, सोहत जल पूरित ,
सलिल सिमिटि कहुं लघु सरिता धावति धरधूरित ।
अति मलीन, बुति-हीन विरह-आधीन छीन-तन ,
मानहु खोजत फिरत जीवनाधार तिया-गन ॥”^३

१. हिंडोला पृष्ठ २२ । छन्द-संख्या १००

२. वही पृष्ठ २ । छन्द-संख्या ५

३. वही पृष्ठ २ । छन्द-संख्या ७

“कैधों लाज मदन कों मध्य परयो मध्या जिय ,
 कों अभिसार-समै कलकामिनि कौ धरकत हिय ।
 किधौ राग कुल कानिबीच अनरागिनि कौ चित ,
 सकै न ठिकु ठहराइ जात आवत नित उत इत ॥”^१

‘हिंडोला’ काव्य की दो-एक पंक्तियाँ ऐसी भी हैं जिन्हें पढ़ते ही तुलसी की कति-पय प्रसिद्ध पंक्तियाँ स्मरण हो आती हैं। अध्ययनशील रत्नाकरजी ने अनेक प्राक्तन कवियों के भावों को ऐसे कौशल से आत्मसात् किया है कि वे दूसरों के नहीं जान पड़ते। निम्नलिखित उदाहरणों में भाव चाहे तुलसी के ही हों, परन्तु रत्नाकरजी पर भावापहरण का दोष नहीं लगाया जा सकता :—

“नील सरोरुह श्याम तरुण अरुण बारिज नयन”

रामचरित मानस । बालकाण्ड, सो० ३

“तहन-अरुन-बारिज-बिसाल लोचन अनियारे”

हिंडोला पृष्ठ १० । छन्द-संख्या ३७

“कंकण किंकणि नूपुर धुनि सुनि । कहत लषणसन राम हृदय गुनि”

रामचरित मानस २७८।१ बालकाण्ड

“किंकिनि, कंकन, नूपुर की धुनि धूम मचावति”,

हिंडोला पृष्ठ १३ । छन्द-संख्या ५३

रत्नाकरजी की कविता के भावापक्ष और कलापक्ष पर विचार करते समय ‘हिंडोला’ काव्य की अन्य विशेषताओं पर आगे चलकर विचार किया जायगा ।

समालोचनादर्श

‘समालोचनादर्श’ रत्नाकरजी की अनूदित रचना है। इसमें आद्यन्त रोला छन्द प्रयुक्त है। प्रस्तुत प्रबन्ध के पञ्चम अध्याय में समालोचनादर्श पर विचार किया जा चुका है, अतः यहाँ पुनरुक्ति वाँछनीय न होगी।

‘समालोचनादर्श’ रत्नाकरजी की दूसरी रचना है। यह अनुवाद प्रथम बार ना० प्र० पत्रिका के प्रथमवर्ष के तृतीय अङ्क में प्रकाशित हुआ था।

हरिश्चन्द्र

‘हरिश्चन्द्र’ रत्नाकरजी की तीसरी कृति है। इसमें कृष्ण भयानक, ‘वीभत्स

दानवीर, रौद्र इत्यादि रसों की सुन्दर योजना हुई है । सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की कथा इतनी लोकप्रसिद्ध हो चुकी है कि कथानक की दृष्टि से किसी भी कवि के लिए इसमें नूतन उद्भावना के लिए स्थान नहीं रह गया है । हाँ, यदि कोई सफल कवि चाहे तो भावों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा इसके पात्रों के प्रति पाठकों की गहरी सहानुभूति अवश्य जाग्रत करा सकता है और रत्नाकरजी ने यही किया भी है । इस काव्य के अनेक स्थल ऐसे हैं, जिन्हें पढ़ते-पढ़ते सहृदय पाठकों की पलकें भीग जाती हैं ।

हरिश्चन्द्रोपाख्यान के प्रमुख पात्र सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र तथा विश्वामित्र हैं । इन दोनों की कथा विभिन्न पुराणों में किञ्चित् भेद के साथ वर्णित है । मार्कण्डेय पुराण का अध्याय नौ, महाभारत के शांतिपर्व का अध्याय एक सौ इकतालीस, कालिका-पुराण का अध्याय चौरासी, तथा वाल्मीकिरामायण—बालकाण्ड के बावन से लेकर साठ तक नौ सर्ग, इस कथन के प्रमाण-स्वरूप उपस्थित किये जा सकते हैं । क्षेमेश्वर कवि ने 'चण्डकौशिक' नाटक की रचना भी इसी शास्त्र-प्रसिद्ध उपाख्यान के आधार पर की थी । आगे चलकर भारतेन्दुजी ने 'चण्डकौशिक' के आधार पर अपना सुप्रसिद्ध नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' लिखा । रत्नाकरजी ने 'हरिश्चन्द्र काव्य' को भारतेन्दुजी के 'सत्यहरिश्चन्द्र नाटक' के आधार पर ही लिखा है । हरिश्चन्द्र काव्य तथा सत्यहरिश्चन्द्र नाटक की कतिपय पंक्तियों में अत्यधिक साम्य है । ऐसे सादृश्य मूलक स्थलों को साथ-साथ पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दुजी ने जो बातें गद्य में कही हैं, प्रायः उन्हीं को रत्नाकरजी ने पद्य में भावुकता से निभा दिया है । हरिश्चन्द्र नाटक यदि चार अङ्कों में समाप्त हुआ है, तो रत्नाकरजी का हरिश्चन्द्र काव्य भी चार ही सर्गों में पूरा हुआ है । समस्त हरिश्चन्द्र काव्य की रचना रोला छन्द में ही हुई है । यह काव्य दो सौ छत्तीस रोलाओं में समाप्त हुआ है ।

'हरिश्चन्द्र काव्य' के प्रत्येक सर्ग की कथा 'हरिश्चन्द्र नाटक' के क्रमशः प्रत्येक अङ्क से बहुत कुछ मिलती है । उदाहरणार्थ :—

“इन्द्र—साधु स्वभाव से ही परोपकारी होते हैं, विशेष करके आप ऐसे जो हमारे से दीन गृहस्थों को घर बैठे दर्शन देते हैं ।”

भारतेन्दु ग्रंथावली प्रथम भाग पृष्ठ २६३

“जो न अकारन करहि कृपा तुम से उपकारी ।

तौ पावहि सतसंग कहाँ हम से गृह-धारी ॥”

हरिश्चन्द्र पृष्ठ ६५ । छन्द-संख्या ८

“इन्द्र—कहिये, इस समय कहाँ से आना हुआ ?

भारतेन्दु ग्रंथावली—प्रथम भाग—पृष्ठ २६३

“पुनि पूछ्यौ सुरराज, आज मुनि आषत कित तें ।”

हरिश्चन्द्र पृष्ठ ६५ । छन्द-संख्या १०

“इन्द्र—भला ! उनके गृह चरित्र कैसे हैं ?

नारद—दूसरों के लिए उदाहरण बनने योग्य । भला पहले जिसने अपने निज के और अपने घर के चरित्र ही नहीं शुद्ध किये हैं, उसकी और बातों पर क्यों विश्वास हो सकता है ।”

भारतेन्दु ग्रंथावली पृष्ठ २६४

“पे कहिये कछु गृह चरित्र ताके हैं कैसे ।”

बोले मुनि पुनि “होन उचित सज्जन के जैसे ॥

जिनके परम पवित्र चरित्र नाहि घर माहीं ।

कंसहु होहि कदापि प्रसंसा-जोग सु नाहीं ॥”

हरिश्चन्द्र पृष्ठ ६६ । छन्द-संख्या १६

“चन्द्र टरे सूरज टरे, टरे जगत व्योहार ,

पे दूढ़ श्री हरिश्चन्द्र को टरे न सत्य विचार ।”

सत्य हरिश्चन्द्र नाटक द्वितीय अङ्क पृष्ठ २७६

“टरहि चंद सूरज औ टरहि मेरु गिरि सागर ।

टरहि न पे हरिचन्द भूप को सत्य उजागर ॥”

हरिश्चन्द्र—पृष्ठ ७२ । छन्द-संख्या ७ सर्ग २

“हरिश्चन्द्र—.....विश्वामित्र को पृथ्वी दान करके जितना चित्त प्रसन्न नहीं हुआ उतना अब बिना दक्षिणा दिए दुखी होता है ।”

सत्य हरिश्चन्द्र नाटक—तृतीय अङ्क—पृष्ठ २८३

“दे सब महि मुनिवरहि नाहि तेतौ सुख लीन्हौ ।

जेतौ दुख अब लहत जानि आग अजहुं न दीन्हौ ॥”

हरिश्चन्द्र पृष्ठ ७९ । छन्द-संख्या २ सर्ग ३

“हरि—.....हाय हाय ! इनका खेल और सहज व्योहार भी कैसा भयंकर है । कोई कटाकट हड्डी चबा रहा है । कोई खोपड़ियों में लहू भर भर करके पीता है, कोई सिर का गेंद बनाकर खेलता है, कोई अंतड़ी निकाल गले में डाले हैं और चंदन की भांति चरबी और लहू शरीर में पोत रहा है ।”

सत्य हरिश्चन्द्र नाटक—चतुर्थ अङ्क—पृष्ठ ३००

“कोउ कड़ाकड़ हाड़ चाबि नाचत दे ताली ।

कोऊ पीवत दधिर खोपरी की करि प्याली ॥

कोउ अँतड़िनि की पहिरि माल इतरात दिखावत ।
कोउ चरबी लें चोप सहित निज अंगनि लावत ॥
कोउ मूँडनि लें मानि मोद कंबुक लों डारत ।
कोउ रुंडनि पै बँठि करंजौ फारि निकारत ॥”

हरिश्चन्द्र—पृष्ठ ९३।९४। छन्द-संख्या १३।१४ सर्ग ४

“हरि.....

“दुपट्टे की फांसी गले में लगाना चाहता है कि एक साथ चौंक कर : गोविंद ! गोविंद ! यह मैंने क्या अनर्थ अधर्म विचारा ! भला मुझ दास को अपने शरीर पर क्या अधिकार था कि मैंने प्राण त्याग करना चाहा ! भगवान सूर्य इसी क्षण के हेतु अनुशासन करते थे ! नारायण ! नारायण ! इस इच्छा कृत मानसिक पाप से कैसे उद्धार होगा । हे सर्व्वार्थरामि जगदीश्वर ! क्षमा करना । दुःख से मनुष्य की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती । अब तो मैं चांडाल कुल का दास हूं । न अब शैव्या मेरी स्त्री है और न रोहिताश्व मेरा पुत्र ! चलू, अपने स्वामी के काम पर सावधान हो जाऊं, वा देखूँ अब दुःखिनी शैव्या क्या करती है । (शैव्या के पीछे जाकर खड़ा होता है)

सत्यहरिश्चन्द्र नाटक—चतुर्थ अङ्क—पृष्ठ ३१२।३१३.

“पै ज्यौहीं गर माँहि फाँद वै कूवन चाह्यौ ।
त्यौही सत्य-विचार बहुरि उर माँहि उमाह्यौ ॥
हरे-हरे यह कहा बात हम अनुचित ठानी ।
कहा हमें अधिकार भई जब वेह बिगानी ॥

जौ हम तजिबौ प्राण होइ मतिअंध बिचारघौ ।
हाय जाय कैसे यह मनसा-पाप निवारघौ ॥
बुख सों गई हाय ऐसी ह्वँ मति मतवारी ।
अंतरजामी नाथ छमहु यह चूक हमारी ॥

अब तौ हम हें दास डोम के आज्ञाकारी ।
रोहिताश्व नहि पुत्र न शैव्या नारि हमारी ॥
चलें स्वामि के काज माँहि दूढ़ ह्वँ चित लावें ।
लेहि कफन को दान बेगि नहि बिलंब लगावें ॥

यह निरधारि निबारि फाँद हिय प्रौढ़ महा करि ।

उतरि आइ रानी पाछ ठमके उर कर धरि ॥”

हरिश्चन्द्र—पृष्ठ १०३-१०४। छन्द-संख्या ६३, ६४, ६५, ६६ सर्ग ४

अस्तु, रत्नाकरजी ने ‘हरिश्चन्द्र’ का कथानक भारतेन्दु जी के ‘सत्यहरिश्चन्द्र’ से ही लिया है। इस साम्य का कारण हरिश्चन्द्रोपाख्यान का अत्यधिक लोकप्रसिद्ध होना है। आख्यात कथाओं के मार्मिक स्थल जनसाधारण को जल्दी नहीं भूलते। ऐसे स्थलों में सहसा परिवर्तन करने से कभी-कभी कवि को पाठकों की सम्बेदना से भी हाथ धोना पड़ता है। यही कारण है कि रत्नाकर जी ने हरिश्चन्द्रोपाख्यान को प्रायः ज्यों-का-त्यों अपना लिया है। ‘सत्यहरिश्चन्द्र’ के चतुर्थ अङ्क में मार्मिक स्थल अपेक्षा-कृत अधिक हैं, अतः इस नाटक के चतुर्थ अङ्क और ‘हरिश्चन्द्र काव्य’ के चौथे सर्ग में अन्य स्थलों की अपेक्षा अधिक साम्य है; तथापि यह कहना ठीक न होगा कि रत्नाकरजी का ‘हरिश्चन्द्र काव्य’, भारतेन्दुजी के ‘सत्यहरिश्चन्द्र नाटक’ का आद्यन्त अनुवाद मात्र है। दोनों की रचना-शैली में तात्त्विक अन्तर है। एक नाटक है और दूसरा खण्ड-काव्य। कथानक का साम्य होते हुए भी दोनों रचनाओं की अभिव्यञ्जना-शैली में पार्थक्य है। इस अन्तर के कारण ‘हरिश्चन्द्र काव्य’ के अनेक स्थल ‘सत्यहरिश्चन्द्र नाटक’ से सर्वथा स्वतन्त्र हो गये हैं। कथानक का साम्य होते हुए भी ‘हरिश्चन्द्र काव्य’ की प्रत्येक पंक्ति अथवा सर्ग का ‘हरिश्चन्द्र नाटक’ से आमूलचूल साम्य स्थापित नहीं हो सकता।

कलकाशी

‘कलकाशी’ रत्नाकरजी की अपूर्ण कृति है। इसमें उन्होंने एक छप्पय तथा एक सौ बयालीस रोला लिखे हैं। खेद है कि रत्नाकरजी इसे अपने जीवन काल में पूरा न कर सके। इस रचना का अन्तिम रोला भी अपूर्ण ही रह गया है।

काशी रत्नाकरजी की जन्मभूमि थी। इसी कारण उन्होंने कलकाशी की रचना बड़े मनोयोग से प्रारम्भ की थी। वे भगवान् शङ्कर और पतित-पावनी गङ्गा के भी भक्त थे, फलतः शिवपुरी के प्रति उनका विशेष आकर्षण स्वाभाविक ही था। प्रारम्भिक छप्पय (मंगलाचरण) में तो उन्होंने काशी-वन्दना की ही है, आगे चलकर भी इन शब्दों में काशी का महत्त्व प्रतिपादित किया है—

“परम रम्य सुख रासि कासिका पुरी सुहावनि ।

सुर-नर-मुनि-गंधर्व-यच्छ-किन्नर-मन-भावनि ॥

संभु सदासिख बिस्वनाथ की अति प्रिय नगरी ।
 बेद पुराननि मांहि गनित गुनगन में अगरी ॥
 तीन लोक दस चार भुवन तें निपट निराली ।
 निज त्रिसूल पर धारि संभु जो जुग जुग पाली ॥
 जाके कंकर में प्रभाव संकर कौ राजै ।
 जम-किंकर जिहि जानि भयंकर दूरहि भाजै ॥^१

वरुणा और असी से युक्त गङ्गा की शोभा और पावन प्रभाव को व्यक्त करने वाला निम्नोक्त रूपक भी सुन्दर है । 'विनयपत्रिका' (छन्द-संख्या २२) में तुलसी ने काशी को कामधेनु बनाकर जो रूपक बाँधा है, उससे रत्नाकरजी का यह रूपक कहीं अधिक आकर्षक है :—

“मुठि मुठार त्रिपुरारि पिनाकाकार बसी है ।
 उत्तर बरुना औ दक्खिन कौ कोट असी है ॥
 उत्तर-बाहिनि गंग प्रतिचा प्राची दिसि बर ।
 उन्नत मंदिर मंजु सिखर जुत लसत प्रखर सर ।
 बम-बम की हुँकार धनुष-टंकार पसारै ।
 जाकौ धमक-प्रहार पापगिरि-हार बिदारै ॥
 जिहि पिनाक की धाक धरामंडल में मंडित ।
 जासौं होत त्रिताप-दाप त्रिपुरा-सुर खंडित ॥”^२

कलकाशी वस्तुतः वर्णनात्मक प्रबन्ध काव्य है । रत्नाकरजी ने इसमें काशी के बाजारों अट्टालिकाओं, मठों, वारवधुओं, साध-सन्तों, विद्यार्थियों तथा समकालीन विभिन्न विषयों के विद्वानों का जीता-जागता चित्र उपस्थित कर दिया है । रत्नाकरजी ने यद्यपि अपने समय की काशी का वर्णन किया है, परन्तु आज भी काशी का ठाठ-बाट बहुत कुछ वैसा ही है जैसा रत्नाकरजी के युग में था; अतः उनकी इस रचना से काशी मानसिक नेत्रों के सम्मुख सजीव हो जाती है । आज भी काशी के विद्यारत ब्रह्मचारी ब्राह्ममुहूर्त में सुख-निद्रा-परित्याग कर, उसी प्रकार गङ्गातट की ओर जाते हुए देखे जा सकते हैं :—

“बड़े भोर हठि उठत मोर मुख सुख निद्रा सौं ।
 जद्यपि पाये पूर्व रात्रि हूँ दुख निद्रा सौं ॥

१. कलकाशी पृष्ठ ११६ । छन्द-संख्या १, २.

२. वही पृष्ठ ११७ । छन्द-संख्या ६, ७.

सकल सौच करि तुरत फुरत गंगा विसि धावत ।

तहँ अन्हाय निर्बाहि नित्य निज-निज थल आवत ।”^१

रत्नाकरजी ने ‘कलकाशी’ में समकालीन विभिन्न विद्वानों का नाम बड़े आदर से लिया है। इस सूची में वे अपना नाम गिनाना भी नहीं भूले हैं :—

“आयुर्वेद प्रभेद परम भेदी गनेस से ।

रस-प्रयोग आचार्य चारुमति त्रिबकेस से ॥

सुरुचि सौम्य साहित्य सलिलधर गंगाधर से ।

रोचक कविता रत्न रुचिर गृह रत्नाकर से ॥”^२

काशी-निवासियों की सामान्य दिनचर्या के वर्णन में भी उनका हृदय भावुकता से रमा है। सनातनी हिन्दू होने के कारण काशी की संस्कृति में उनकी पूर्ण आस्था थी। सामगायक ब्राह्मणों का उन्होंने यह शोभन चित्र उतारा है :—

“कहँ पाँति की पाँति बिप्रगन सहज सुभाए ।

कलित कुसासन पै बंठे मन मोद मढ़ाए ॥

सुंदर गोरे गात बस्त्र उपबस्त्र सँवारे ।

सिखा सूत्र औ भस्म रीतिजुत अंगनि धारे ॥

लघु दीरघ प्लुत औ उदात्त अनुदात्त सकल स्वर ।

करन्यास के सहित सुघर बिधि साधि सबिस्तर ॥

सहित बिरति बिल्लाम सामगायन अनुरागत ।

जाके प्रबल प्रभाव दुरित दुरि दूरहि भागत ॥”^३

रत्नाकरजी सम्पन्न व्यवित थे, अतः काशी की अट्टालिकाओं और वैभव का उन्होंने अनुभूति-पोषित वर्णन किया है। नाना प्रकार के बहुमूल्य रत्नों, वस्त्रों, स्वादिष्ट व्यञ्जनों, हाथी-घोड़ों एवं उनके उपकरणों का भी उन्होंने विस्तृत व्याख्यान किया है। विस्तार कुछ अधिक हो जाने से कहीं-कहीं पाठक उकताने भी लगता है, तथापि ऐसे थोड़े से स्थलों को यदि छोड़ दिया जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि अपूर्ण होते हुए भी यह रचना आकर्षक और उनके व्यापक ज्ञान की प्रत्यायक है।

१. कलकाशी पृष्ठ १२८ । छन्द-संख्या १५

२. वही पृष्ठ १२० । छन्द-संख्या २३

३. वही पृष्ठ १२४ । छन्द-संख्या ४१, ४२

शृंगारलहरी तथा प्रकीर्ण पद्यावली

‘शृंगारलहरी’ तथा ‘प्रकीर्ण पद्यावली’ में समय-समय पर रची उनकी मुक्तक कविताएँ संगृहीत हैं। ‘शृंगारलहरी’ तथा ‘प्रकीर्ण पद्यावली’ को कवि की समस्या-पूर्तियों का संग्रह कहना भी असाम्प्रतिक न होगा। प्रस्तुत प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में कहा जा चुका है कि रत्नाकरजी ने काशी-कवि-समाज तथा अन्यान्य कवि-समाजों या कवि-सम्मेलनों में जो समस्या-पूर्तियाँ पढ़ी थीं, उनमें से अधिकांश ‘शृंगारलहरी’ तथा ‘प्रकीर्ण पद्यावली’ में सङ्कलित हो गयी हैं।

‘शृंगारलहरी’ में अधिकतर संयोग शृंगार का निरूपण है। कहीं-कहीं विद्योग की भी सुन्दर अभिव्यंजना है, परन्तु विप्रलम्भ की दृष्टि से उनकी श्रेष्ठ रचना ‘उद्धव शतक’ ही है।

काव्य-विषयों की विविधता ‘शृंगारलहरी’ की अपेक्षा ‘प्रकीर्ण पद्यावली’ में विशेष है। शृंगार की उभयपक्षीय रचनाओं के अतिरिक्त इसमें देशभक्ति, शुद्धि-आन्दोलन अथवा ब्रजभूमि, अयोध्या और काशी की महत्ता प्रतिपादित करने वाली कविताएँ भी एकत्रित हैं। धार्मिक औदार्य से प्रेरित होकर रत्नाकरजी ने ज्वालामुखी, सती, राधा, हनुमान, राम तथा शिव पर जो पद्य लिखे थे, वे भी इस संग्रह में आ गये हैं। ‘प्रकीर्ण पद्यावली’ तथा ‘शृंगारलहरी’ में कुछ छन्द ऐसे भी हैं, जिनका वर्ण्य उद्धव-गोपी-संवाद है। विषय की दृष्टि से ये छन्द भ्रमरगीत-काव्य में आते हैं, परन्तु रत्नाकरजी ने इन्हें ‘उद्धव शतक’ में संगृहीत न करके अलग ही रखा है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि उद्धवशतक में वे केवल घनाक्षरी का प्रयोग करना चाहते थे। उपर्युक्त दोनों संग्रहों में कुछ कविताएँ प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से भी उत्कृष्ट हैं।

‘शृंगारलहरी’ की पूर्ण छन्द-संख्या एक सौ अड़सठ तथा ‘प्रकीर्ण पद्यावली’ की एक सौ बासठ है। ‘प्रकीर्ण पद्यावली’ के पद्य कवित्त, सवैया, छप्पय, बरवै, दोहा, तथा रोला छन्दों में लिखे गये हैं तथा ‘शृंगारलहरी’ में केवल कवित्त-सवैया का प्रयोग है। उपर्युक्त दोनों संग्रहों में कुछ कविताएँ अधूरी भी हैं। उदाहरणार्थ ‘प्रकीर्ण पद्यावली’ छन्द ७५ तथा ‘शृंगारलहरी’ में छन्द १७, ५७ और १०९ अपूर्ण हैं। रत्नाकरजी की ‘शृंगारलहरी’ पर पद्माकर के ‘जगद्विनोद’ का न्यूनाधिक प्रभाव है।

गंगाविष्णुलहरी

पद्माकर पर रत्नाकरजी की विशेष आस्था थी। यह भी सुना जाता है कि परिहास-प्रिय होने के कारण वे कभी-कभी पद्माकर के कवित्तों में ‘कहै पद्माकर’ की जगह ‘कहै रत्नाकर’ जोड़कर लोगों को भ्रम में डाल देते थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में कहीं-कहीं पद्माकर का नाम लिया भी बड़े आदर से है। उदाहरणार्थ ‘समालोच-

नादश' और 'शृंगारलहरी' की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

“जैसो हो भवभूति भयो तैसो पद्माकर” ।

समालोचनादर्श पृष्ठ ४३

“संभु कुच मुख पदमाकर दिमाक देव ,
तापे घनआनंद घनैरो कच साज है ।”

शृंगार लहरी पृष्ठ ३१८ । छन्द-संख्या ६

भवभूति और पद्माकर की कला-सर्जना में अभिव्यक्ति के अन्तःवर्ती रस का अन्तर है, फिर भी रत्नाकरजी एक ही साँस में दोनों का नाम ले बैठे हैं । अनुमानतः उनका तात्पर्य यह है कि भवभूति यदि करुण रस के सिद्ध कवि थे तो पद्माकर शृंगार रस के । सम्भव है प्रारम्भिक सौन्दर्य-साधना में रत्नाकरजी को पद्माकर की कविताओं से कुछ प्रेरणा मिली हो, परन्तु पद्माकर, रत्नाकरजी के एकमात्र आदर्श नहीं थे । रत्नाकरजी ने पद्माकर से जो काव्य-प्रेरणा प्राप्त की थी उसके विकास में उनके युग का सम्पूर्ण वातावरण सहायक हुआ है । उन्होंने पद्माकर से कवित्त-सवैयाओं के प्रवाह मात्र का परिग्रहण किया है, परन्तु काव्य-कौशल में आत्मा अपनी ही रखी है ।

उनकी 'गंगालहरी' पर भी पद्माकर की 'गंगालहरी' का थोड़ा बहुत प्रभाव है । इसी प्रकार 'विष्णुलहरी' पर पद्माकर के 'प्रबोध पचासे' का प्रभाव परिलक्षित होता है, परन्तु उनकी रचनाओं पर उनके व्यक्तित्व की छाप इतनी प्रद्युतित है कि पद्माकर का स्मरण कराते हुए भी उनकी कृतियाँ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व अक्षुण्ण रखती हैं । पद्माकर तथा रत्नाकरजी के निम्नोक्त कवित्त इस सम्बन्ध में व्याख्येय हैं :—

पद्माकर

“विधि के कमंडल की सिद्धि है प्रसिद्धि यही ,
हरि पद पंकज प्रताप की लहर है ।
कहै “पद्माकर” गिरीस सीस मंडल के
मुण्डन की माल ततकाल अघहर है ॥
भूपति भगीरथ के रथ की सुपुन्य पथ ,
जन्म-जप-जोग-फल फल की फहर है ।
हेम की छहर गंगा रावरी लहर ,
कलिकाल को कहर जमजाल को जहर है ॥”^१

रत्नाकर

“बिधि बरदायक की सुकृति-समृद्धि-वृद्धि ,
 संभु सुर-नायक की सिद्धि की सुनाका है ।
 कहै रतनाकर त्रिलोक-सोक नासन कौं ,
 अतुल त्रिविक्रम के बिक्रम की साका है ।
 जम-भय-भारी-तम-तोम निरवारन कौं ,
 गंग यह रावरी तरंग तुंग राका है ।
 सगर-कुमारनि के तारन की खेनी सुभ ,
 भूपति भगीरथ के पुन्य की पताका है ॥”^१

पद्माकर

“जोग जप संध्या साधु-साधन सबैही तजै ,
 कीन्है अपराध ते अगाध मन भावते ।
 तेते तज औगुन अनंत “पद्माकर” तौ ,
 कौन गुन लं कै महाराजहि रिझावते ॥
 जैसे अब तैसे पै तिहारे बड़े काम के हैं ,
 नाहीं तौ न एते बैन कबहूँ सुनावते ।
 पावते न मो सों जो पै अधम कहूँ, तौ राम ,
 कैसे तुम अधम उधारन कहावते ॥”^२

रत्नाकर

“एते बड़े नाथ हूँ न हाथ करि पावें जाहि ,
 ताकौ वार हाथ हमवार किमि आड़ेंगे ।
 कहै रतनाकर न हम हमता में आइ ,
 ऐसे मन प्रबल प्रभाइ सों बिगाड़ेंगे ॥
 निज करनी-फल के बिफल सहारे कहा ,
 रावरी भरोसौ-तरु कामद उजाड़ेंगे ।

१. गंगालहरी पृष्ठ ३८१ । छन्द-संख्या १०

२. पद्माकर पंचामृत पृष्ठ ३०३ । प्रबोध पचासा । छन्द-संख्या ६९

छाड़ेंगे न कान्ह आप जबलौ कृपा की कानि ,
तौ लौ बानि हमहूँ कुठानि की न छाड़ेंगें ॥”

इन उदाहरणों से यही प्रकट होता है कि रत्नाकरजी पर पद्माकर का प्रभाव तो अवश्य है, परन्तु आयत्ति में रत्नाकरजी के व्यक्तित्व का लोप नहीं है। उनकी रचनाओं में एक प्रकार का अपनापन इतना स्पष्ट है कि कृतियों को पहचान लेने में कहीं भ्रम नहीं होता।

‘गंगाविष्णुलहरी’ के पद्य रत्नाकरजी की भक्ति-भावना से परिप्लुत हैं। विष्णु-अवतार कृष्ण तो उनके इष्टदेव ही थे। सम्भवतः इसी कारण विष्णुपद-निर्गता गङ्गा के प्रति उनकी ऐसी असीम श्रद्धा थी। गङ्गा की मोक्षदायिनी शक्ति का जैसा सुन्दर निरूपण उन्होंने ‘गंगालहरी’ में किया है, वैसा ‘गंगावतरण’ में भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

‘गंगाविष्णुलहरी’ की रचना कवित्तों में हुई है। ‘गंगालहरी’ तथा ‘विष्णुलहरी’ में क्रमशः बावन-बावन कवित्त हैं। इस प्रकार ‘गंगाविष्णुलहरी’ की पूर्ण पद-संख्या एक सौ चार है।

रत्नाष्टक तथा वीराष्टक

सतसई, अष्टक, सप्तशती इत्यादि के द्वारा मुक्तक रचनाओं को एक सूत्र में गुम्फित करने की परिपाटी बहुत प्राचीन है। रत्नाकरजी ने इसी प्रथा का अनुसरण करते हुए अनेक अष्टकों की रचना की है। इस प्रकार के संग्रहों में कभी-कभी नियत संख्या से कुछ अधिक पद्य भी रख दिये जाते हैं। रत्नाकरजी के अनेक अष्टक ऐसे हैं जिसमें ठीक आठ पद्य संगृहीत हैं, परन्तु जयद्रथवध, महाराणाप्रताप, छत्रपति शिवाजी, श्री गुरु गोविन्दसिंह, द्रौपदीअष्टक इत्यादि में पद्य संख्या आठ से अधिक है। तुलसी अष्टक की पद्य संख्या सात है। सुमति, वीरनारायण तथा ताराबाई पर उन्होंने जो अष्टक लिखे हैं, उनमें भी पद्य संख्या आठ से कम है। इन अष्टकों में क्रमशः एक, दो और तीन पद्य उपलब्ध हैं। सम्भवतः इन अष्टकों को पूरा करने का कार्य उन्होंने भविष्य के लिए उठा रखा होगा, परन्तु सुविधा एवं अंतःप्रेरणा का सुयोग प्राप्त न होने से ये अधूरे ही रह गये।

इन अष्टकों में से केवल तुलसीअष्टक ही ऐसा है जिसमें दो कवित्त और पाँच छप्पय हैं, शेष सभी में मात्र कवित्त ही हैं।

रत्नाकरजी ने कुल तीस अष्टक लिखे हैं। इनमें से सोलह ‘रत्नाष्टक’ में

तथा चौदह 'वीराष्टक' में संकलित हैं। इन अष्टकों की नामावली यह है:—

- | | |
|-----------------------|------------------|
| १. श्रीशारदाष्टक | ९. बसंताष्टक |
| २. श्रीगणेशाष्टक | १०. ग्रीष्माष्टक |
| ३. श्रीकृष्णाष्टक | ११. वर्षाष्टक |
| ४. गजेन्द्रमोक्षाष्टक | १२. शरदष्टक |
| ५. श्री यमुनाष्टक | १३. हेमंताष्टक |
| ६. श्री सुदामाष्टक | १४. शिशिराष्टक |
| ७. श्री द्रौपदी अष्टक | १५. प्रभाताष्टक |
| ८. तुलसी अष्टक | १६. संध्याष्टक |

इनमें से प्रथम सात रत्नाकरजी की भक्ति-भावना के परिचायक हैं। आठवें अष्टक में उन्होंने महाकवि तुलसी के प्रति श्रद्धांजलि समर्पित की है। शेष अष्टक प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। 'वीराष्टक' में निम्नलिखित चौदह अष्टक हैं :

- | | |
|-------------------------|---------------------------|
| १. श्रीकृष्णदूतत्व | ८. महाराज छत्रसाल |
| २. भीष्म-प्रतिज्ञा | ९. श्री महारानी दुर्गावती |
| ३. वीर अभिमन्यु | १०. सुमति |
| ४. जयद्रथ-वध | ११. वीर नारायण |
| ५. महाराणा प्रताप | १२. श्री नीलदेवी |
| ६. छत्रपति शिवाजी | १३. महारानी लक्ष्मीबाई |
| ७. श्री गुरु गोविंदसिंह | १४. श्री ताराबाई |

इनमें से प्रथम चार पौराणिक एवं शेष दस ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक अष्टक देशभक्ति, राष्ट्रीय भावना और जातीय प्रेम से ओतप्रोत हैं। इनकी रचना उन्होंने हिन्दू-जाति में नवशक्ति-सञ्चार-हेतु की थी। उपर्युक्त अष्टकों में रौद्र तथा वीररस का पूर्ण परिपाक हुआ है। जयद्रथवध, और भीष्मप्रतिज्ञा में वीरोल्लास के साथ भगवान् की भक्तवत्सलता की भी सुन्दर अभिव्यञ्जना है।

गंगावतरण

रत्नाकरजी ने १४ मई सन् १९२१ ई० शनिवार को 'गंगावतरण' की रचना प्रारम्भ की थी। वे इसे सौ सवा-सौ छन्दों में ही समाप्त कर देना चाहते थे, अतः भगीरथ की तपस्या से कथा प्रारम्भ करके गङ्गा के हरिद्वार पहुँचने तक का वर्णन कर, उन्होंने इसे लगभग एक माह (१५ जून सन् १९२१) में पूरा कर लिया था।

महारानी अयोध्या तथा रत्नाकरजी के कतिपय मित्रों को 'गंगावतरण' के इस

अवतरण से सन्तोष न हुआ। कथानक में जह्नु की कथा भी उत्सृष्ट थी। सगर के उन साठ सहस्र पुत्रों की मोक्षप्राप्ति का भी व्याख्यापन न था जिनके कल्याण के लिए गङ्गा को पृथ्वी पर लाने का विराट् उद्योग किया गया था; अतः रत्नाकरजी के मित्रों ने 'गंगावतरण' को साङ्गोपाङ्ग रूप प्रदान करने का आग्रह किया। फलतः उन्हें मूल रचना में परिवर्तन करने पड़े। 'गंगावतरण' के प्रारम्भ में भी उन्हें कथानक को बढ़ाना पड़ा तथा अन्त में भी बहुत कुछ जोड़ना पड़ा। कृति को निश्चित रूप प्रदान कर चुकने के पश्चात् जब लेखक को उसमें प्रवृत्त दृष्टिकोण से हेर-फेर करना पड़ता है, तब कहीं न कहीं शिथिलता आ ही जाती है। यही कारण है कि गङ्गा को पृथ्वी पर लाने के प्रयत्नों में कार्य की गुरुता और प्रयत्नों के बीच में पड़ने वाले प्रत्यवरोधन का उतना प्रभावशाली वर्णन नहीं हो सका जैसा होना चाहिए था। गङ्गा का अवतरण सगर सुतों की मोक्ष-हेतु ही हुआ था, परन्तु 'गंगावतरण' में गङ्गा की मोक्षदायिनी शक्ति का वैसा भव्य निरूपण नहीं है, जैसा रत्नाकरजी की 'गंगालहरी' में परिलक्षित होता है। धार्मिक संकीर्णता से उद्भूत शैवों, वैष्णवों तथा शाक्त मतावलम्बियों के विवाद, गङ्गातट पर आकर स्वतः समाप्त हो जाते हैं। गङ्गा, यदि विष्णुपद-संभवा और ब्रह्म-कमण्डलु-शोभा है, तो हरशेखरा भी हैं, अतः वे तीनों ही प्रधान देवताओं से सम्बन्धित हैं। ब्रह्मा की उपासना तो खैर शाप-वश लोकप्रचलित न हो सकी, किन्तु शिव और विष्णु की आराधना का यथेष्ट प्रचार हुआ। शिव और विष्णु से सम्बन्धित होने के कारण गङ्गा शैवों, वैष्णवों एवं शाक्तों की भी समान रूप से वन्दनीया हैं। फिर भी पता नहीं क्यों रत्नाकरजी 'गंगावतरण' में गङ्गा की मोक्षदायिनी शक्ति के निरूपण में अधिक तन्निष्ठ नहीं हुए। प्रथम सर्ग से अष्टम सर्ग तक 'गंगावतरण' के कथानक का प्रवाह जैसा रोचक है, वैसा शेष पाँच सर्गों में नहीं है। नवम सर्ग से त्रयोदश सर्ग तक कथानक का विस्तार आवश्यकता से अधिक बढ़ जाने के कारण कहीं-कहीं अरोचक भी हो गया है। 'गंगावतरण' की ये सामान्य त्रुटियाँ हैं। यदि रत्नाकरजी ने पहले से ही इसे उस रूप में लिखने का प्रयत्न किया होता जिस में वह आजकल उपलब्ध है, तो सम्भवतः यह शिथिलता न रहती। उन्होंने संवत् १९८० में इसे वर्तमान संशोधित रूप प्रदान कर दिया था। इस के अन्त में काव्य-समाप्ति-तिथि का सूचक यह दोहा लिखा हुआ है :—

“संवत् उनइस सँ असी गुरु पूनौ भृगु बार ।

गंग अवतरन काव्य यह पूरन भयो उदार ।”^१

रत्नाकरजी ने 'गंगावतरण' का कथानक 'वाल्मीकिरामायण' से लिया है। इ० प्र० प्रयाग से प्रकाशित 'गंगावतरण' के प्राक्कथन में उन्होंने स्पष्टरूप से कहा भी है कि महारानी अयोध्या ने उन्हें उपर्युक्त कथानक को ही हिन्दी-काव्यमय रूप प्रदान करने का आदेश दिया था। इसी से रत्नाकरजी ने 'वाल्मीकिरामायण' के आधार पर 'गंगावतरण' की रचना की। उपर्युक्त रामायण में राजा सगर की कथा अड़तीसवें सर्ग से प्रारम्भ होती है। 'वाल्मीकिरामायण' में विश्वामित्र ने रामचन्द्रजी को यह कथा सुनायी है, किन्तु 'गंगावतरण' में कथा का प्रारम्भ विश्वामित्र द्वारा न होकर कवि द्वारा हुआ है। 'गंगावतरण' के चौथे सर्ग को छोड़कर शेष प्रायः सभी सर्गों की कथा 'वाल्मीकिरामायण' के अड़तीस से चौवालीस तक के सर्गों के अनुसार है। यद्यपि 'गंगावतरण' तथा 'वाल्मीकिरामायण' के उपर्युक्त सर्गों में बहुत कुछ साम्य है, तथापि 'गंगावतरण' 'वाल्मीकिरामायण' में दी हुई कथाका अविकल अनुवाद नहीं है। सुप्रसिद्ध पौराणिक कथा होने के कारण ही दोनों के कतिपय स्थलों में समासक्ति दिखायी देते हैं। उदाहरणार्थ 'वाल्मीकिरामायण' के बालकाण्ड के अड़तीसवें सर्ग तथा 'गंगावतरण' के प्रथम सर्ग के निम्नोक्त स्थलों की तुलना की जा सकती है:—

“अयोध्याधिपतिर्वीर पूर्वमासीन्नराधिपः ।

सगरो नाम धर्मात्मा प्रजाकामः स चाप्रजाः ॥”

३८वां सर्ग श्लोक-संख्या २

रत्नाकरजी ने इस श्लोक के आधार पर 'गंगावतरण' में दो रोला लिखे हैं:—

“भयौ भूप तिहि नगर सगर इक परम प्रतापी ।

दिग-छोरनि लौं उमगि जासु कल कीरति व्यापी ॥

रिपु-बल खल बल बलन प्रजा परिजन द्रुत भंजन ।

गुनि-जन-जीवन-मूल सुकृति-सज्जन-मन-रंजन ॥

गौ ब्राह्मण प्रतिपाल ईस गुरु भक्त अवूषित ।

बल बिक्रम बुधिरूप धाम सुभ गन गन भूषित ॥

नीति-पाल जिहि सचिव बाल की खाल खिचैया ।

सेनप स्वामि-प्रसेद-पात-थल रबत-सिचैया ।”

उपर्युक्त अवतरणों से स्पष्ट है कि रत्नाकरजी ने 'वाल्मीकिरामायण' से कथा के स्थूलरूप को ग्रहण किया है, परन्तु कथा कहने का ढंग उनका अपना ही है। 'गंगा-

वतरण' तथा 'वाल्मीकिरामायण' में जहाँ कहीं आसक्ति दिखायी देती है, वहाँ सर्वत्र यही बात है। किसी प्रसिद्ध कथा को कहते समय भौगोलिक स्थलों, व्यक्तिवाचक नामों अथवा अन्य महत्त्वपूर्ण बातों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। पौराणिक कथाओं में तो इन बातों की अवहेलना से उनकी पौराणिकता ही नष्ट हो जाती है। रत्नाकर जी ने 'गंगावतरण' में धार्मिक आख्यान का रङ्ग प्रद्युतित रखने के लिए ही 'वाल्मीकिरामायण' से कथानक के स्थूल रूप को ग्रहण किया है, परन्तु कथा की अभिव्यञ्जना में उन्होंने अपनी ही भावुकता का आश्रय लिया है। 'रामायण' तथा 'गंगावतरण' के निम्नोक्त सादृश्य मूलक स्थलों में भी यही तथ्य प्रतिभासित है:—

“वैदर्भदुहिता राम केशिनी नाम नामतः ।

ज्येष्ठा सगरपत्नी सा धर्मिष्ठा सत्यवादिनी ॥

अरिष्टनेमेर्दुहिता सुपर्णभगनी तु सा ।

द्वितीया सगरस्यासीत्पत्नी सुमतिसंज्ञिता ॥”

वाल्मीकिरामायण—बालकाण्ड—सर्ग ३८ । श्लोक ३-४

“भामिनी-भूषण भई जुगल ताकी पटरानी ।

ज्ञान-सुसंगिनि जया भक्ति लब्धा सुख-सानी ॥

जोबन-रूप-अनूप भूप-सुचि-रुचि-अनुगामिनि ।

जिनकी प्रभा निहारि हारि सकुचति सुर-स्वामिनि ॥

इक केशिनी बिदर्भ-राज बर की कुल-कन्या ।

बूजी सुमति सुपर्ण-भव्य-भगिनी भुवि-धन्या ॥

दोउ पुनीत पति-प्रीति-पात्र दोउ पति-अनुरागिनि ।

दोउ कुल-कमला-गिरा-रूप दोउ अति बड़-भागिनि ॥

गंगावतरण—पृष्ठ—संख्या १९६ । छन्द-संख्या ८, ९

“अथ काले गते तस्य ज्येष्ठा पुत्रं व्यजायत ।

असप्तज इति ख्यातं केशिनी सगरात्मजम् ॥

सुमतिस्तु नरव्याघ्र गर्भतुम्बं व्यजायत ।

षष्टिः पुत्रसहस्राणि तुम्बभेवाद्विनिःसृता ॥

घृतपूर्णेषु कुम्भेषु धात्र्यास्तान्समवर्धयन् ।

कालेन महता सर्वे यौवनं प्रतिपेदिरे ॥”

ब० रा० बालकाण्ड सर्ग ३८ । श्लोक १६, १७, १८

“लहि सुभ समय-निवेस केशिनी सुत इक जायौ ।

गुरुवर गुनि गुन तासु नाम असमंज बरौयौ ॥

सुमति सलोनो जनी एक तूंबी अति अद्भुत ।
निकसे जासौं साठ सहस लघु बीज सरिस सुत ॥

बीरघ घृत-घट घालि पालि ते धाइ बढ़ाए ।
समय-संग सब अंग रूप जोबन अधिकाए ॥
महा बीर बरिबंड भए महि-मंडल-मंडन ।
निज भुजदंड उदंड चंड-अरि-मुंड-बिहंडन ॥

गंगावतरण पृष्ठ १९७-१९८। छन्द-संख्या १४, १५

‘वाल्मीकिरामायण’ बालकाण्ड के उन्तालीसवें सर्ग की कथा से साम्य रखने वाले स्थल ‘गंगावतरण’ में स्वल्प हैं। इस सर्ग की कथा से ‘गंगावतरण’ की केवल यही बात मिलती है कि यज्ञ के घोड़े को इन्द्र ने चुरा लिया था।

“.....

तस्य पर्वणि तं यज्ञं जयमानस्य वासवः ॥
राक्षसी तनुमास्थाय यज्ञियाश्वमपाहरत् ।
ह्रियमाणे तु काकुत्स्थ तस्मिन्नश्वे महात्मनः ॥”

वा० रा० सर्ग ३९। श्लोक-संख्या ७-८

“यह लखि मघवा बिलखि माखि मख-भंग बिचारधौ ।
स्यामकरन-अपहरण-मंत्र हिय हठि निरधारधौ ॥
पै रच्छक रन-दच्छ देखि अच्छय-बल-साली ।
भयौ प्रतच्छ न लच्छ अलच्छहि हरधौ कुचाली ॥

गंगावतरण पृष्ठ २०० छन्द-संख्या २५

तात्पर्य यह है कि ‘वाल्मीकिरामायण’ में राजा सगर की जो कथा दी हुई है, वह चाहे ‘गंगावतरण’ के कथानक का आधार भले ही हो, परन्तु ‘गंगावतरण’ ‘वाल्मीकि रामायण’ के उपर्युक्त आख्यान का अविकल अनुवाद नहीं है।

‘गंगावतरण’ के चौथे सर्ग की कथा का आधार ‘वाल्मीकिरामायण’ में उपलब्ध नहीं है। इस सर्ग के इतिवृत्त का कुछ आभास ‘ब्रह्मवैवर्त पुराण’ में अवश्य मिलता है। इस पुराण में शिव के सङ्गीत से एक तान, एक ताल और एक लय होकर देवताओं के जलरूप में द्रवीभूत हो जाने से गङ्गा की उत्पत्ति मानी गयी है। ‘गंगावतरण’ में शिव के सङ्गीत का उल्लेख है, परन्तु यहाँ भगवान् शङ्कर के सङ्गीत से केवल गो गोक स्थित युगलबिहारी ही द्रवीभूत होते हैं। देवताओं की प्रार्थना से वे पुनः धनीभूत होकर दर्शन देते हैं। युगलमूर्ति के साथ ही एक स्त्री भी उत्पन्न होती है जो कृष्ण के शरीर में

सूक्ष्म रूप से प्रविष्ट हो जाती है और उनके पद-नख से पुनः निःसृत होती है। कथा का यह अंश 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' से भिन्न है। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' तथा 'गंगावतरण' के निम्नोक्त स्थलों में साम्य दृष्टिगोचर होता है:—

“एतस्मिन्नन्तरे तत्र सगीतं शंकरो जगौ ।
 कृत्वाऽतीव सुतालं च स्वरयन्त्रसमन्वितः ॥
 आबयोश्च गुणाख्यानं राससम्बन्धि सुन्दरम् ।
 समयोचितरागेण मनोमोहनकारिणा ॥
 यन्त्रकण्ठकतानेन चैकमानेन चारुणा ।
 पदभेद विरामेण गुरुणा लघुना क्रमात् ॥
 गमिकेनातिदीर्घेण मंदे (न्त्रे) न मधुरेण च ।
 भवेति दुर्लभं सृष्टं प्रत्या स्वेन विनिर्मितम् ॥
 पुलकाञ्चितसर्वाः साश्रुनेत्रः पुनः पुनः ।
 तदेव श्रुतिमात्रेण मूर्च्छां प्राप्नुविचेतनाः ॥
 बभूव रुद्ररूपाश्च मुनयः पुरतः प्रिये ।
 रुद्ररूपाः सुराः सर्वे विधातृहरिपार्षदाः ॥
 नारायणश्च लक्ष्मीश्च गायकाश्च शिवः स्वयम् ।
 जलपूर्णं च वैकुण्ठं दृष्ट्वा त्रस्तोऽहमैश्वरि ।”

‘ब्रह्मवैवर्त पुराण—पूर्वार्ध—अध्याय ३४। श्लोक-संख्या ७ से १३ तक

“सिव सुजान तब उमगि डमकि डमरु सुख-पागे ।
 रचि तांडव रस-भूमि जुगल-गुन गावन लागे ॥
 भरघौ भूरि आनंद हृदय तिहि लगे उलीचन ।
 पौन-पटल पर भव्य भाव अंतर के खीचन ॥

सकल कला के परम-धाम संकर अबिकारी ।
 प्रभु-गुन-गान सुजान सभा अवसर मनहारी ॥
 सब संघट मिलि मंजु बंध्यौ इमि समी सुहायौ ।
 भए देव-गन मुग्ध देह-अध्यास सिरायौ ॥

इमि बाढ़्यौ आनंद-तिषु-सुधि-बुधि-लय-कारी ।
 आपहुं ह्वे सिव मगन गान की सुरति दिसारी ॥

तब सब संज्ञा पाइ दीठि जो इत-उत फेरी ।
बिस्मय लह्यो महान जुगल मूरति नहिं हेरी ॥

सिंहासन चहुं पास अमल जल-रासि लखाई ।
गौर-स्याम-द्युति-दाम ललित लहरनि छबि छाई ॥
ह्वं अति बिह्वल बिकल लगे सुरसकल बिसूरन ।
आरत - नाद विषाद-बाद सौं सब बिसि पूरन ॥”

गंगावतरण पृष्ठ २२४ । छन्द-संख्या ३१, ३२, ३३, ३४

इन उद्धरणों से सिद्ध हो जाता है कि रत्नाकरजी ने ‘ब्रह्मवैवर्त पुराण’ तथा ‘वाल्मीकिरामायण’ के कतिपय सर्गों के आधार पर ‘गंगावतरण’ के कथानक की सर्जना की है। ‘तुलसीकृत रामायण’ के कुछ संस्करणों में भी (क्षेपक के रूप में) गङ्गा की उत्पत्ति ‘वाल्मीकिरामायण’ के आधार पर ही वर्णित है। इन संस्करणों में गरुड़ तथा अंशुमान की कथा भी उसी रूप में उपलब्ध है जिस रूप में वह ‘गंगावतरण’ में आयी है। तात्पर्य यह है कि विभिन्न स्थलों से कथा-सूत्र लेकर उन्होंने ‘गंगावतरण’ के कथानक को स्वानुकूल बनाकर एक आकर्षक रूप प्रदान कर दिया है। रत्नाकरजी का यह कौशल उनकी प्रबन्ध-पटुता का जाज्वल्यमान प्रमाण है।

रत्नाकरजी ने ‘गंगावतरण’ की रचना अपने प्रिय छन्द ‘रोला’ में की है। इस काव्य के मंगलाचरण में तीन छप्पय, प्रत्येक सर्ग के अन्त में एक उल्लाला, ग्रन्थ के अन्त में एक दोहा तथा शेष समस्त काव्य में रोला छन्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार यह काव्य तीन छप्पय, एक दोहा, तेरह उल्लाला तथा पाँच सौ छप्पन रोला छन्दों में समाप्त होता है। ‘गंगावतरण’ की कथा तेरह सर्गों में विभक्त है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द बदल जाने से इस काव्य का सङ्गीतात्मक प्रवाह भी अधिक आकर्षक हो गया है। राजा भगीरथ इस काव्य के धीरोदात्त नायक हैं। ‘गंगावतरण’ में प्रायः सभी प्रमुख रसों की सुन्दर योजना है। वीर, करुण तथा शृंगार के अतिरिक्त इस काव्य में अद्भुत, रोद्र, तथा कहीं-कहीं हास्य रस का भी सुन्दर निरूपण है।

‘गंगावतरण’ के प्रमुख पात्रों के चरित्रचित्रण में रत्नाकरजी को पूर्ण सफलता मिली है। राजा सगर प्रतापी तथा धर्मनिष्ठ नरेश हैं। यज्ञ में विघ्न उपस्थित होने पर वे अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। राजा सगर के साठ सहस्र पुत्र अपने बल के दर्प में चूर उद्धत नवयुवक हैं। अभिमान और अदूरदर्शिता के कारण ही उनका नाश होता है। अंशुमान विनयशील तथा बुद्धिमान राजकुमार हैं। वही गङ्गा को पृथ्वी पर लाने के लिए समुचित अनुष्ठान करता है। भगीरथ दूरदर्शी तथा

कर्मठ व्यक्ति हैं। अनेक कष्ट भोगते हुए वे कठोर तपस्या करके गङ्गा को पृथ्वी पर ले आते हैं। आकाश से गङ्गा के पृथ्वी पर उतरने का वर्णन भी अतीव सजीव है। गङ्गा के आवेश को मनोवैज्ञानिक रूप से प्रेम-भावना में परिवर्तित कर देने में भी रत्नाकरजी को अद्भुत सफलता मिली है।

स्वर्ग से गङ्गा के पृथ्वी पर आने की पुरातन कथा को लेकर अभी तक हिन्दी में कोई प्रबन्धकाव्य नहीं लिखा गया था। यद्यपि पद्माकर ने 'गंगालहरी' की रचना करके इस दशा में कुछ प्रयत्न किया था, परन्तु उनकी 'गंगालहरी' में प्रबंधसौष्ठव की पर्याप्त कमी है। 'गंगावतरण' की रचना से हिन्दी-साहित्य का यह अभाव भी दूर हुआ।

उद्धवशतक

भक्तिकालीन कवियों की भावुकता तथा रीतिकालीन कवियों की शृंगारिकता से समन्वय-पटु रत्नाकरजी ने अपनी कला का शृंगार किया था। उनकी सौन्दर्य-साधना की यही विशेषता 'उद्धवशतक' में भी परिलक्षित होती है। सम्पूर्ण 'उद्धवशतक' की रचना घनाक्षरी छन्द में हुई है। 'उद्धवशतक' का प्रत्येक छन्द अपने आप में पूर्ण होने के कारण मुक्तक काव्य की विशेषताओं से सम्पन्न है, तथापि इन कवित्तों को कथा-प्रसङ्ग के अनुसार संगृहीत करके रत्नाकरजी ने 'उद्धवशतक' को प्रबन्धकाव्य का रूप भी प्रदान कर दिया है। यह प्रबन्धकाव्य ११८ घनाक्षरी छन्दों में समाप्त हुआ है।

रत्नाकरजी की कलात्मक राग-रसिकता से सिकत 'उद्धवशतक' भ्रमरगीत काव्य परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। हिन्दी में भ्रमरगीत-काव्य की परम्परा भक्तिकालीन कवियों से प्रारम्भ होती है। इस परम्परा का उत्स श्रीमद्भागवत है। श्रीमद्भागवत में कृष्ण उद्धव को ब्रज में जाकर नन्द, यशोदा तथा विरह-विधुरा गोपियों को सान्त्वना प्रदान करने का आदेश देते हैं। उद्धव ने ब्रज में पहुँचकर विषण्ण नन्द-यशोदा, को तो किसी सीमा तक चित्त की स्वस्थता प्रदान की, परन्तु वे विरहणी गोपिकाओं के कष्टना-कलित हृदय को धैर्य न बंधा सके। इसी अन्तराल में एक भ्रमर आकर गुन-गुन करने लगता है। मानव हृदय संसार के सम्पूर्ण क्रिया-कलापों को अपने ही रङ्ग में रङ्ग कर देखता। रागात्मिकानुभूति की छोटी सी चिञ्जारी नगण्य सी ही तो होती है, किन्तु उसकी सीमा जब असीम होने लगती है, तब जीवन की उष्णता का विस्तार क्षितिज की तरह फैलता ही चला जाता है, दूर-दूर-दूर उससे भी दूर। गोपियों का हृदय इस समय निर्मोही कृष्ण की निष्ठुरता से विक्षुब्ध था, अतः भ्रमर की गुञ्जार में उन्हें पुरुषमात्र की चिरस्थायी परता का ही स्वर सुनायी दिया। उन्होंने सोचा कि जैसे भ्रमर

कली-कली का रस लेकर चलता बनता है, उसी प्रकार पुरुषों का प्रेम भी एकान्ततः स्वार्थमूलक होता है, अतः भ्रमर की आड़ लेकर उन्होंने कृष्ण तथा उद्धव को खरी-खरी सुनायीं । कृष्ण और उद्धव दोनों ही श्याम थे । भ्रमर की श्यामलता से साम्य होने के कारण उन्होंने भ्रमर को कृष्ण तथा उद्धव दोनों ही का प्रतीक मान लिया । उनके प्रणय-विभोर हृदय को कृष्ण का सन्देश तथा उद्धव का निर्गुण-उपदेश भ्रमर की गुञ्जार के समान ही अस्पष्ट सा प्रतीत हुआ ।

उद्धव तथा गोपियों का यह रसप्लुत संवाद प्राणों की चेतना की दीप्ति से समृद्ध है । इस वाद-विवाद में उद्धव ज्ञानवरिष्ठ निर्गुण ब्रह्मोपासकों का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा गोपियाँ ज्ञान-कनिष्ठ साधारण जनता का । भक्तिकालीन कवियों ने इस प्रसङ्ग के आधार पर ज्ञानमार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है । ज्ञानियों का निर्गुण ब्रह्म वस्तुतः ऐसे ही लोगों के लिए उपयोगी हो सकता है, जिनके मस्तिष्क का पूर्ण विकास हो चुका है । जन-साधारण के लिए तो ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा भक्तिमार्ग ही अधिक श्रेयस्कर है । उद्धव और गोपियों के उपर्युक्त संवाद में गोपियों के सहज विनिर्मुक्त भावोद्गार यदि एक ओर प्रणय-व्यथा को विस्पष्ट करते हैं, तो दूसरी ओर भक्ति की आभ्यन्तरीण सुषमा से परिप्लुत है । कृष्ण-काव्य-परम्परा में उद्धव तथा गोपियों का यही संवाद भ्रमरगीत नाम से अभिहित है ।

हिन्दी-काव्य के अन्तर्नयन सूरदास ने 'सूरसागर' में भ्रमर-गीत की योजना करके निर्गुण का खण्डन तथा सगुण का मण्डन करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की । इस मर्मस्पर्शी भ्रमरगीत का प्रभाव भक्तिकालीन कवियों पर ही नहीं, रीतिकाल तथा आधुनिक काल के कवियों पर भी पड़ा । अष्टछाप के कवियों ने पृष्टिमार्ग के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए अपने-अपने ढंग से भ्रमरगीतों की रचना की । इन रचनाओं में सूर के अतिरिक्त नन्ददास का भ्रमरगीत भी पर्याप्त प्रसिद्ध हुआ । अपनी असाधारण विशेषताओं के कारण यह विषय भक्तिकाल में ही इतना अधिक प्रचलित हो गया था कि अनन्य राम-भक्त तुलसी भी कृष्ण गीतावली में इस विषय पर कुछ पद लिखे बिना न रह सके ।

कवि अपने युग की परिस्थितियों के प्रति सदैव जागरूक रहता है । सामन्त-युगीन कवि ने अन्तःपुर की रङ्गीन रँगरेलियों में अनेक स्त्रियों को एक ही पुरुष की भोग्या बने हुए देखा । इस युग की नारी का जैसे कोई स्वतन्त्र अस्तित्व और मूल्य ही नहीं रह गया था । अपने हृदय के उत्साह, आवेग और भावुकता को खोकर, वह विवशता, उत्पीड़न और मूक-व्यथा को अपनाने के लिए विवश थी । उसकी भावनाएँ उमड़-धुमड़कर चुपचाप धरस जाती थीं, किन्तु उपेक्षा इसे मात्र आँसू समझती थी ।

तत्कालीन कवियों को नर-नारी का यह सम्बन्ध घोर स्वार्थपूर्ण दिखायी दिया, अतः स्पष्ट रूप से कुछ अधिक कहने में असमर्थ राज्याश्रित कवि ने भ्रमर को उपालम्भ का लक्ष्य बनाकर नारी-हृदय की मूक वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति की। भक्तिकालीन कवियों के भ्रमरगीतों में गोपियों की विरहव्यञ्जना पुष्टि-साधना की चरमानुभूति के रूप में उपस्थित हुई थी, परन्तु रीतिकालीन कवियों ने गोपी-उद्धव-संवाद को विप्रलम्भ के अन्तर्गत लिया। उनकी रचनाओं में उद्धव तथा कृष्ण के प्रति उपालम्भ विद्यमान होते हुए भी भ्रमरगीत का वस्तुपरक विकास-क्रम दृष्टिगोचर नहीं होता। उनकी रचनाओं में 'ऊधौ' 'भ्रमर' 'मधुकर' अथवा 'मधुप' इत्यादि सम्बोधनों के द्वारा वियोग शृंगार की मार्मिक अभिव्यञ्जना तो मिलती है, परन्तु कृष्ण द्वारा उद्धव को ब्रज में भेजे जाने तथा वहाँ गोपियों के पास एक भ्रमर के आने का उल्लेख नहीं मिलता। रहीम, मतिराम, देव, घनानन्द, सेनापति, दास, पद्माकर, इत्यादि मध्यकालीन सभी प्रमुखकवियों ने गोपी-विरह की अभिव्यञ्जना में भ्रमर को उपालम्भ का विषय चुना है। भ्रमरगीत के इस प्रसङ्ग को अलङ्कारों के उदाहरण स्वरूप भी उपस्थित किया गया और वियोग की मार्मिक अभिव्यञ्जना के लिए भी। रहीम के बरवै नायिका-भेद में तथा रीतिकालीन कवियों के मुक्तक कवित्त-सवैयाँ में भक्तिपरक रसार्द्रता की अपेक्षा प्रेम-विह्वल मानव-हृदय की अतृप्त प्यास ही अधिक है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी की रचनाओं से हिन्दी-साहित्य का आधुनिक चिन्तन-शील युग प्रारम्भ होता है। यह युग रीतिकाल तथा आधुनिक युग का सन्धिकाल है, अतः इस युग में रीतिकालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों की छाया दिखायी देना अस्वाभाविक नहीं है। भारतेन्दुजी के पदों में यदि सूर जैसी-तल्लीनता भी है, तो उनके कवित्त-सवैयाँ में रीतिकालीन कवियों जैसी शृंगारिक उद्भावनाएँ भी विरल नहीं हैं। भारतेन्दुजी ने भी भ्रमरगीत के प्रसङ्ग को अपनाया है। उन्होंने इस विषय पर जो कवित्त-सवैयाँ लिखे, उनमें भक्ति-भावना की अपेक्षा नारी-हृदय की मार्मिक अभिव्यञ्जना ही विस्फीत है।

हरिश्चन्द्रयुग के पश्चात् आधुनिककाल के कवियों ने भी भ्रमरगीत के प्रसङ्ग को अपने-अपने ढंग से अपनाया। भक्तिकाल में कृष्ण ब्रह्मा, तथा गोपियाँ जीवात्माओं की प्रतीक थीं। रीतिकाल के कवियों का उद्देश्य था शृंगार रस का सफल चित्रण; अतः उनके भ्रमर गीतों में कृष्ण सामान्य नायक तथा गोपियाँ सामान्य नायिकाओं के रूप में परिणित हो गयीं। आधुनिक युग में आदर्श की भावना बलवती थी, फलतः कृष्ण न तो परब्रह्मा परमेश्वर ही रह सके और न सामान्य नायक ही। इस युग के कवियों ने उन्हें पुरुषोत्तम-रूप में स्वीकार किया। सत्यनारायण कवि-

रत्न ने अपने भ्रमरगीत में कृष्ण को ही भ्रमर-रूप में उपस्थित करके एक ओर राष्ट्रीय भावनाओं का तथा दूसरी ओर माता की ममता का सजीव चित्र उपस्थित किया। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने कृष्ण के साथ लोक-कल्याण की भावनाओं का सामञ्जस्य किया। 'प्रियप्रवास' में नारी हृदय की वियोग-व्यथा का चित्रण अवश्य हृदयस्पर्शी है, परन्तु इस वेदना और विवशता के साथ कर्तव्य मर्यादा और उपदेश-प्रवण आदर्श भी सम्पृक्त है। मैथिलीशरण गुप्त ने सभी गोपियों की भावनाओं को राधा में केन्द्रित करके कृष्ण तथा विभिन्न गोपियों के प्रेम को परिष्कृत रूप में उपस्थित किया। कृष्ण के विरह में गुप्तजी की राधा का कृष्णमय हो जाना विरह तथा भक्ति दोनों ही का चरमोत्कर्ष है। डा० रसाल ने भी गोपी-उद्धव-संवाद का निरूपण किया है, किन्तु उनकी गोपियाँ भावुक हृदय से नहीं, अपने सबल तर्कों और प्रबल-बुद्धि से उद्धव के सिद्धान्तों का खण्डन करती हैं। उनके भ्रमरगीत-काव्य की आत्मा यही है।

[रत्नाकरजी के 'उद्धवशतक' में भ्रमरगीत-प्रसङ्ग पुनः एक बार उसी रूप में उपस्थित हुआ जिस ढंग से मध्यकालीन कवियों ने उसे निरूपित किया था। उनकी गोपियों की भावुकता यदि सूर के समान है, तो तर्क-प्रणाली नन्ददास की गोपियों जैसी। भक्तिकालीन भावुकता तथा रीतिकालीन कलात्मकता से समन्वित होकर उनका 'उद्धवशतक' अतीव हृदयहारी बन गया है। आधुनिक युग के बुद्धिवाद से भी उन्होंने पूरा लाभ उठाया है। रत्नाकरजी ने मध्यकालीन काव्य को विवेक-बुद्धि से परख कर उसके गुण-दोषों को भली भाँति समझ लिया था, अतः रीतिकाल से प्रभावित होते हुए भी उन्होंने अपने काव्य को ऊहात्मक कल्पनाओं से अस्वाभाविक नहीं होने दिया है। 'उद्धवशतक' में दो-एक स्थल ही ऐसे हैं जहाँ उन्होंने विरह व्यथा का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है,^१ अन्यत्र सर्वत्र उन्होंने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा ही अनुभावों और सञ्चारियों की सुन्दर योजना की है।

'उद्धवशतक' में भावों के अनूठेपन के साथ उक्तिवैचित्र्य और सूक्ति-प्रियता भी सर्वत्र दिखायी देती है। साधारण-से-साधारण बात भी रत्नाकरजी कुछ ऐसे ढंग से कह जाते हैं कि उनकी मनोरम उक्तियाँ पाठक के हृदय पर अनायास ही अधिकार कर लेती हैं। उन्होंने 'उद्धवशतक' में गोपी-उद्धव-संवाद जैसे पुराने विषय को उठाकर भी उसमें अपनी अनूठी सूक्तियों से नवीन आकर्षण भर दिया है। उनके 'उद्धवशतक' का प्रारम्भ नाटकीय शैली से होता है। कृष्ण एक दिन उद्धव के साथ यमुना स्नान

करने जाते हैं। वहाँ वे एक मुरझाये हुए कमल को बहता देखते हैं। जैसे ही वे उसे उठाकर सूँघते हैं, उन्हें राधा का स्मरण हो आता है और वे मूर्छित हो जाते हैं। रत्नाकरजी ने 'उद्धवशतक' का प्रारम्भ इसी मौलिक उद्भावना से किया है :—

“न्हात जमुना में जलजात एक देख्यौ जात ,
जाकौ अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है ।
कहै रत्नाकर उमहि गहि स्याम ताहि ,
बास-बासना सौं नंकु नासिका लगायौ है ॥
त्यौहीं कछू घूमि झूमि बेसुध भए कै हाय ,
पाय परे उखरि अभाय मुख छायौ है ।
पाए घरी द्वैक में जगाइ ल्याए ऊधौ तीर ।
राधा-नाम कीर जब औचक सुनायौ है ॥”^१

इस चित्रण से रत्नाकरजी को कृष्ण-उद्धव-वार्तालाप प्रारम्भ करने के लिए मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि मिल गयी है। कृष्ण अपनी विरह-व्यथा की कहानी अभिन्न हृदय मित्र को सुना देते हैं। उद्धव उन्हें ज्ञानोपदेश द्वारा शान्त करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु कृष्ण उनसे कहते हैं:—

“आवौ एक बार धारि गोकुल-गली की धूरि
तब इहि नीति की प्रतीति धरि लंहै हम ।
मन सौं, करेजै सौं, लवन-सिर-आखिन सौं
ऊधव तिहारी सीख भीख करि लंहै हम ॥”^२

कृष्ण की बात मानकर उद्धव ब्रज-भूमि में जाते हैं तथा ज्ञानोपदेश द्वारा गोपियों की विरह-व्यथा दूर करने का प्रयास करते हैं। इस प्रसङ्ग में दार्शनिक विचारों का समावेश करते हुए रत्नाकरजी ने ज्ञान पर भक्ति की जो विजय दिखायी है, उसका उल्लेख प्रस्तुत प्रबन्ध के छठे अध्याय में किया जा चुका है।

‘उद्धवशतक’ में उद्धव का वार्तालाप गोपियों से ही होता है। कवि ने उन्हें नन्द, यशोदा अथवा राधा से बात-चीत करते कहीं नहीं दिखाया है। जब वे कृष्ण के पास लौटने लगते हैं, केवल तभी नन्द-यशोदा और राधिका द्वारा कृष्ण को उपहार भेजे जाने का यह उल्लेख हुआ है:—

१. उद्धवशतक पृष्ठ १४६। छन्द-संख्या २

२. वही पृष्ठ १५३। छन्द संख्या १९

“पीत पट नंद जमुमति नवनीत नयौ ,
कीरति-कुमारी सुरवारी बई बांसुरी ॥”^१

पिता के गम्भीर प्रेम, माता की ममता और प्रेयसी के हृदय की मूकवेदना को रत्नाकरजी ने यहाँ अतीव भावुकता से व्यक्त किया है। पाठक का हृदय इस मर्मस्पर्शी वर्णन को पढ़ते ही भाव-विह्वल हो जाता है। नन्द अपने प्रिय पुत्र के लिए ‘पीत पट’ भेज रहे हैं जो उसे बड़ा प्रिय था। मां सोचती है कि मेरे पुत्र को वहाँ ऐसा उत्तम नवनीत कौन खिलाता होगा ! और प्रेयसी का व्यथित हृदय सोचता है कि प्रेम-भावना को उद्दीप्त करने वाले मन्मथ के अग्रदूत सङ्गीत के अभाव में ही तो कहीं उसके कृष्ण ऐसे बेसुरे नहीं हो गये हैं ? वंशी कहाँ ! वस्तुतः बजता तो हृदय ही है, किन्तु उसके लिए वंशी का बहाना कितना जरूरी है ! कृष्ण की सुरीली वंशी में कभी रसीली राधिका का नाम मुखर था। पर आज कृष्ण के पास वंशी नहीं है, तभी तो वे उसे भूल गये हैं; अतः वंशीसे श्रेष्ठ वह और कौन सी भेंट भेज सकती थी। जिन का हृदय प्रेम से ऐसा आलोड़ित हो रहा हो उन्हें भला उद्धव क्या समझा सकते थे ! नन्द-यशोदा और राधा में भी इतना धैर्य और साहस कहाँ था कि वे उद्धव की बातें सुन सकते ! इसीलिए रत्नाकरजी ने ‘उद्धव-शतक’ में नन्द, यशोदा और राधा को दूर ही रखा है। गोपियों ने भी उद्धव से यही कहा था कि :—

“हरि-तन-पानिप के भाजन दृगंचल तें ,
उमगि तपन तें तापक करि धावें ना ॥
कहै रतनाकर त्रिलोके-ओक-मंडल में ,
बेगि ब्रह्मद्वय उपद्वय मचावें ना ॥
हर कौं समेत हर-गिरि के गुमान गारि ।
पल में पतालपुर पैठन पठावें ना ।
फँले बरसाने में न रावरी कहानी यह ,
बानी कहूँ राधे आधे कान सुनि पावें ना ॥”^२

‘उद्धवशतक’ में मार्मिक उपालम्भ तो विद्यमान है, परन्तु वह भ्रमर, मधुकर,

१. उद्धवशतक पृष्ठ १८४ । छन्द-संख्या ९८

२. वही पृष्ठ ३७९ । छन्द-संख्या ८५

अथवा मधुप की आड़ लेकर नहीं दिया गया है। केवल एक बार (छन्द ७६) मधुप शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है, शेष सभी स्थलों पर गोपियाँ उद्धव को ही सम्बोधन करके अपने हृदय की वेदना व्यक्त करती हैं। इस दृष्टि से रत्नाकरजी का 'उद्धव-शतक' प्राचीन परिपाटी से कुछ अलग हो गया है। उनकी इस श्रेष्ठ रचना के भाव-पक्ष और कलापक्ष पर आगे चलकर विचार किया जायगा।

रत्नाकर का काव्य-कल्प

अलङ्कार-सौन्दर्य

अलङ्कार काव्य का साध्य चाहे न हों, परन्तु साधन निःसंदेह हैं। जिस प्रकार स्वर्णालङ्कारों से औचित्य पूर्ण शृंगार करके रूपवती किशोरी और भी अधिक शोभा-शालिनी हो जाती है, उसी प्रकार कल्पनाशील कवियों की कविता-कामिनी अलङ्कार धारण करके अधिक आकर्षक बन जाती है। शब्दालङ्कार यदि उसके बाह्य सौन्दर्य के उत्कर्षाधायक हैं, तो अर्थालङ्कार आन्तरिक सौन्दर्य का शृंगार, अतः कवि जब अपनी भाषा को अलङ्कारों से सजाता है, तब उसकी अर्थ-सादृश्य-सम्पुष्ट अलङ्कृत रसात्मक कल्पना सहज ही साकार हो उठती है।¹ तथापि जैसे कुरूपा, मणि-जटित कटक-कुण्डलादि धारण करके भी कुरूपा ही बनी रहती है, उसी प्रकार जिस काव्य में निजी आभ्यन्तरीण सुषमा का अभाव होता है, उसमें मात्र निष्क्रिय अलङ्कारों की चमक-दमक रमणीयता उत्पन्न नहीं कर पाती। जहाँ अलङ्कारों की धुन में कवि भावों

1. "A mental process of this kind is familiar to most people. At an emotional crisis in their lives some part of their material surroundings seems to be involved in their emotion; some material circumstance suddenly appears to be strangely appropriate, appropriate even by its very incongruousness, to their stress of soul; their emotion seems to flow out and crystallize about this circumstance, so that forever after the circumstance has the power of summoning up and recreating the emotion by which it was once touched. It gives to the emotion a preciseness which is never possessed by emotions which did not find their symbol."

The Problem of Style—by J. Middleton Murry p. 97
—Seventh Impression.

की उपेक्षा करने लगता है, वहाँ अलङ्कार निश्चय ही वैरस्याधायक हो जाते हैं । शब्द-निष्ठ काव्य का अर्थनिष्ठ होना एक अनिवार्य प्रतिबन्ध है ।

मानव-भावाम्बु में उद्भूत लहरों के प्रत्यक्षीकरण अथवा अशेष सौन्दर्य-दर्शन की क्षमता साधारण लोगों में नहीं होती । सामान्य पाठक हृदय के इन सूक्ष्म भावों का उतनी स्पष्टता से अनुभव नहीं कर पाते जितनी गहराई से कवि उनका अनुभव कर लेता है । कवि का अलङ्कार-विधान, उसके रूपक, उपमाएँ, सन्देह, उत्प्रेक्षाएँ, सभी वर्ण्य विषय को अधिक इन्द्रिय-ग्राह्य—अधिक संवेदनशील बनाने के लिए ही तो हैं । यही अलङ्कारों का वास्तविक उद्देश्य है, सच्चा उपयोग है । इन्हीं के द्वारा हमारी प्रति-दिन की अनुभूतियाँ परिष्कृत होकर नूतन स्फूर्ति से भर उठती हैं, वर्णित वस्तु का हमारी भावनाओं से प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित होता है, हमारी धारणाएँ, मान्यताएँ, आशाएँ, इच्छाएँ जीवन्त सूत्रों से आबद्ध होती हैं तथा उल्लास और विषाद में प्राणों का स्पन्दन सुनायी देता है ; तभी तो नील परिधान में लिपटे हुए अधखुले सुकुमार मृदुल अंग मेघ-बन-बीच बिजली के विकचित गुलाबी फूलों जैसे दिखायी देने लगते हैं एवं इस प्रकार इन्द्रिय-ग्राह्य मूर्त विधानों से भावों की मसृणता दीप्तिमान् और साकार हो उठती है । यदि अलङ्कारों की सहायता लेशमात्र भी न ली जाय तो हमने जो कुछ अनुभव किया है उसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति हमारी अनुभूति की ओर हलका सा सङ्केत करने, या उसका एक अस्पष्ट सा चित्र उपस्थित करने से अधिक और कुछ न कर सकेगी ; किन्तु अलङ्कारों की सहायता से गृहीत संस्पर्शों का भावों से अथवा भावों का संस्पर्शों से समासंग हो जाता है और यही कारण है कि अनुभूति की प्रभूति से समृद्ध अलङ्कार-बहुला कविता अंतस् को जितनी निकटता से छू लेती है, उतना भाषा का कोई अन्य रूप नहीं छू पाता । कविता की सच्चे अर्थों में व्याख्या इसीलिए नहीं हो सकती । कविता रसास्वादन की वस्तु है, समझाने की चीज नहीं । किसी सच्ची कविता का किसी दूसरी भाषा में अनुवाद करते ही उसकी आधी से अधिक मादकता अनुवाद के प्याले में ढलते-ढलते उड़ जाती है]। समझाने में—व्याख्या या अनुवाद में—कविता में सहज विद्यमान सङ्गीत का वह पुट जो विशिष्ट वातावरण का निर्माण करता है, वह रसलुप्त कलात्मक अर्थसमृद्ध शब्द-योजना जो भावों को रूप-आकार प्रदान करती हुई उन्हें एक निश्चित सन्दर्भ में बाँधती है, अथवा वह आलङ्कारिक अवतारणा जो उक्ति में आवेग-कान्ति की कोमल-सुकुमार-सर्जना करती है, व्याख्या, अनुवाद या स्पष्टीकरण की माथापृच्छी में समाप्त हो जाती है ; मानो सौन्दर्य की पूर्णता को किसी ने खण्ड-खण्ड कर डाला हो । यही कारण है कि प्रायः सभी अलङ्कारवादियों ने काव्य को शब्दनिष्ठ मानते हुए उसमें अर्थनिष्ठता को स्वयं-सिद्ध माना है । चन्द्रालोककार ने तो डंके की

चोट कहा था (कारिका ८) कि जो विद्वान् अलङ्कार शून्य शब्दार्थ में काव्यत्व स्वीकार करते हैं वे अग्नि में अनुष्णता को भी क्यों स्वीकार नहीं कर लेते । जयदेव के इस कथन में निःसंदेह पर्याप्त सत्यता है । अलङ्कारों के चमत्कार का सर्वथा बहिष्कार करके अमूर्त भावों को बोधगम्य बना देना स्वयं अपने में एक चमत्कार है ।

वस्तुतः कवि का तो प्रयत्न ही यह होता है कि वह किसी प्रकार सूक्ष्म भावों का साक्षात्कार पाठकों के लिए सुलभ बना दे । इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर कवि भावों को गोचररूप प्रदान करने में तल्लीन होता है । अमूर्त भावों की अपेक्षा स्थूल-गोचर विधान सरलता से बोधगम्य होते हैं । कवि-हृदय के अमूर्त भाव अलङ्कार-योजना से गोचर होकर प्रमाता के भाव-जगत से सहज ही सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं । इस दृष्टि से अलङ्कारों के सफल प्रयोग का निकष भावों का उत्कर्ष है । कवि यदि अलङ्कारों के प्रयोग से हृद्गत भावों के सर्वतोभद्र उन्मीलन एवं उनके आकर्षक और सजीव चित्रण में सफल हो जाता है तो वह सच्चा कवि है, परन्तु उसने यदि मात्र पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए ही अलङ्कारों की प्रदर्शनी खड़ी की है, तो यही कहना पड़ेगा कि कवि ने आलङ्कारिक मार्ग का अतिक्रम किया है । अलङ्कारों की उपादेयता तो अस्पष्ट अनुभूति को सुस्पष्ट बनाकर सहृदय में तन्मयता उत्पन्न करने में ही है । निश्चय ही ऐसी तन्मयता का उद्रेक स्वतःसंभवी अलङ्कारों से ही शक्य है ।

हमारा प्रस्तुत साध्य रत्नाकरजी के अलङ्कार-विधान का निरीक्षण है । अलङ्कार-योजना की दृष्टि से यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि शब्द-कला के इस विचक्षण कलाकर को अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है । यद्यपि कहीं-कहीं ऐसे स्थल भी हैं, जहाँ केवल चमत्कार-प्रदर्शन ही हो सका है तथा भावाभिव्यञ्जना में कमी रह गयी है, परन्तु वे इतने कम हैं कि उन्हें सरलतापूर्वक उंगलियों पर गिनाया जा सकता है । ऐसे स्थलों पर चमत्कार-प्रदर्शन के व्यामोह ने रत्नाकरजी के कवि-हृदय को अपहृत सा कर लिया है । इस कथन की सत्यता में उनका यह कवित्त उद्धृत किया जा सकता है :—

“आवत निहारे हों गुपाल एक बाल जाकी ,
 लाग्यो उपमा में कवि कोबिद समाज है ।
 तरुन विनेस विषय अरुन अमोल पाय ,
 छीन कटि केहरि औ गति गजराज है ॥
 संभु कुच मुख पदमाकर बिमाक देव ,
 तापे घनआनंद घनेरी कच-साज है ।

छवि की तरंग रतनाकर है अंग मुस—,

कानि रस-खानि बानि आलम निबाज है ॥^१

यहाँ गुपाल, पद्माकर, देव, धनानन्द, रत्नाकर, रसखान, आलम, निबाज इत्यादि कवियों के नामों द्वारा मुद्रालङ्कार का निर्वाह मात्र है, भावाभिव्यञ्जना नहीं। ऐसा चमत्कार-प्रदर्शन दृष्टि-वैचित्र्य मात्र कहा जायेगा। कविता-कामिनी अपने हृदय-रस के कारण सहृदय संवेद्य होती है, अलङ्कार-भार से प्रमाता को वशीभूत नहीं करती। ऐसे स्थलों पर रत्नाकरजी या तो अपने युग की विशिष्ट काव्य-कला से प्रभावित हुए हैं, या फिर रीतिकालीन कवियों से। उनके युग में समस्या-पूर्ति का पर्याप्त प्रचार था। समस्याएँ भी ऐसी विकट होती थीं कि उन पर विशेषतः चमत्कार-प्रदर्शक कविताएँ ही बनायी जा सकती थीं। उदाहरणार्थ 'पावकपुंज में पंकज फूले' जैसी पहेलियों को बुझाने के लिए शब्द-चमत्कार-प्रदर्शन के अतिरिक्त और क्या किया जा सकता है !

गोकुल गाधें में फाग मच्यौ ,
 हुरिहारनि के उर आनंद झूले ।
 मूठ चलावत स्याम चितें ,
 रतनाकर नैन निमेष हैं भूले ॥
 लाल गुलाल की धुंधरि में ,
 ब्रज-बालनि के इमि आनन तूले ।
 काम-कलाकर की मनो मूठ सौं ,
 पद्मपुंज में पंकज फूले ॥^२

यहाँ विरोधाभास की ध्वनि के अतिरिक्त अन्य कोई विशेषता नहीं है। जहाँ रीतिकालीन मनोवृत्ति से अत्यधिक प्रभावित होकर रत्नाकरजी ने कविकर्म अपनाया है, वहाँ भी भावपक्ष दुर्बल तथा चमत्कार पक्ष सबल हो गया है :—

दाबि-दाबि छाती पाती-लिखन लगायौ सब ,
 ध्योंत लिखिबं कौ पे न कोऊ करि जात है ।
 कहै रतनाकर फुरति नाहि बात कछू
 हाथ धरघौ ही-तल थहरि थरि जात है ॥
 ऊधौ के निहोरें फेरि नेंकु धीर जोरें पर
 ऐसौ अंग ताप कौ प्रताप भरि जात है ॥

सूखि जात स्याही लेखिनी कैं नैकु डंक लागें ,
अंक लागें कागद बररि बरि जात है ।^१

विरहजन्य ताप की ऐसी ऊहात्मक अत्युक्तियाँ^२ रीतिकाल में विरल नहीं हैं । दूर की कौड़ी लाने में उस युग के कवि सिद्धहस्त हैं । उनसे अत्यधिक प्रभावित होने के कारण ही कहीं-कहीं रत्नाकरजी ने भी ऐसी उद्भावनाएँ की हैं । परन्तु जहाँ वे इस प्रभाव से मुक्त हैं, वहाँ उनके अलङ्कार भावोत्कर्ष में सहायक ही हुए हैं, बाधक नहीं ।

रत्नाकरजी का अत्यन्त प्रिय अलङ्कार रूपक है । रूपकालङ्कार के भेदों का ऐसा सुन्दर निरूपण हिन्दी के अन्य-किसी कवि ने सम्भवतः नहीं किया है । साङ्गरूपक के तो वे अद्वितीय स्रष्टा हैं :—

सौति-फंद ब्रजचंद लखि चंद-गहन मन मानि ।

देन चहति जिय-दान तिय तुरत न्हाइ अंसुवानि ॥^३

‘उद्धवशतक’ का यह साङ्गरूपक भी प्रसिद्ध है :—

राधा-मुख-मंजुल-सुधारक के ध्यान ही सौं ,

प्रेम-रतनाकर हियें यों उमगत है ।

त्यौहीं बिरहातप प्रचंड सौं उमंडि अति

ऊरध उसास की झकोर यों जगत है ॥

केवट बिचार कौ बिचारौ पचि हारि जात ,

होत गुन-पाल ततकाल नभ-गत है ।

करत गंभीर धीर-लंगर न काज कछू ,

मन कौ जहाज डगि डूबन लगत है ॥”^४

साङ्गरूपक की साङ्गोपाङ्गता में, कवि को यहाँ खींच-तान करने की आवश्यकता नहीं पड़ी है । अलङ्कार का निर्वाह बड़े ही स्वाभाविक ढंग से हुआ है । दोष तो वहाँ

१. उद्धवशतक पृष्ठ १८५ । छन्द-संख्या १००

सूर की गोपियों का विरह भी कहीं-कहीं ऐसा ही है :—

“कागद गरे म्नेघ मसि छूटी, सर दब लागि जरे ।”

सूरसागर दशमस्कन्ध—३३००

२. अत्यक्तिरद्भुतातथ्यशौर्योदार्यादिवर्णनम् ।

जयदेव-चन्द्रालोक-पंचम मयूख का० ११६

३. बोहावली पृष्ठ ५९० । छन्द-संख्या ९

४. उद्धवशतक पृष्ठ १५० । छन्द-संख्या १२

होता है, जहाँ कवि अलङ्कार बैठाने के लिए अनुपयुक्त अथवा भर्ती के शब्द रख कर अनाचार करने लगता है । चन्द्रमा के आकर्षण के कारण समुद्र में ज्वारभाटा आता ही रहता है । इसी सामान्य प्राकृतिक घटना को लेकर कवि ने अपने साङ्ग-रूपक का निर्माण किया है । राधा के मुखरूपी चन्द्रमा से आकर्षित होकर कृष्ण का हृदय रूपी समुद्र प्रेम से उमड़ने लगता है । विरह-ताप से उत्पन्न ऊर्ध्वोच्छ्वास के भीषण झंझावात से घबरा कर विचार रूपी नाविक किर्कटव्यविमूढ़ हो गया है । विवेक रूपी गुण का पाल आकाश में उड़ा जा रहा है । इस समय धैर्य रूपी लङ्गर भी कुछ काम नहीं कर रहा है, अतः मन रूपी जहाज अब डूबना ही चाहता है । श्लेष से पुष्ट इस साङ्गरूपक में कवि का कौशल दर्शनीय है । साङ्गरूपक के प्रयोग में कवि को ऐसी ही सफलता प्रायः सर्वत्र मिली है ।

हेत-खेत माहि खोदि खाई सुद्ध स्वारथ की ,
 प्रेम-तून गोपि राख्यौ तापै गमनौ नहीं ।
 करिनी प्रतीति-काज करनी बनावट की ,
 राखी ताहि हेरि हियें होंसनि सनौ नहीं ॥
 घात में लगे हैं ये बिसासी ब्रजबासी सबे ,
 इनके अनोखे छल छंदनि छनौ नहीं ।
 बारनि कितेक तुम्हें बारन कितेक करे ,
 बारन-उबारन ह्वै बारन बनौ नहीं ॥^१

यहाँ साङ्गरूपक के साथ यमका का निर्वाह भी बड़ा सुन्दर है, परन्तु प्रधान अलङ्कार साङ्गरूपक ही है । कृष्ण को समझाते हुए उद्धव कहते हैं कि, ये विश्वास घाती ब्रजवासी तुम्हारी घात में लगे हुए हैं । तुम्हारे हित रूपी खेत में इन्होंने स्वार्थ की खाई खोद रखी है और उसे प्रेम रूपी घास से ढक दिया है । इसी पर उन्होंने बनावटी हथनी खड़ी कर दी है । आपको उसे देख कर आकर्षित न होना चाहिए, आप तो स्वतः ही गज का उद्धार करने वाले हैं, फिर साधारण हाथी के समान मोहित क्यों हो रहे हैं ? यहाँ साङ्गरूपक और यमक की सहायता से उद्धव का कथन बड़ा ही प्रभावशाली हो गया है । रूपक सादृश्य मूलक अलङ्कार है, अतः एक ओर तो यह उक्ति-वैचित्र्य का सृजन करता है, दूसरी ओर भावों के उत्कर्ष में भी सहायक होता है । साङ्गरूपक के प्रयोग में रत्नाकरजी अद्वितीय हैं, अतः यहाँ उनके इस प्रिय अलङ्कार के कुछ और उदाहरण दे देना अनुपयुक्त न होगा :—

प्रथम भुराइ चाय-नाय पै चढ़ाइ नीकैं ,
 न्यारी करी कान्ह कुल-कूल हितकारी तैं ।
 प्रेम-रतनाकर की तरल तरंग पारि ,
 पलटि पराने पुनि प्रन-पतवारी तैं ॥
 और न प्रकार अब पार लहिबैं कौ कछू ,
 अटकि रही हैं एक आस गुनवारी तैं ।
 सोऊ तुम आइ बात बिषम चलाइ हाय ,
 काटन चहत जोग-कठिन कुठारी तैं ॥^१

हृदय कमठ दृढ़ धारि धर्म-ध्रुव-मंजुल-मंदर ।
 अति अनंत बिस्वास-बासुकी-पास सबिस्तर ॥
 बहु बिधि तर्क-बितर्क-सुरासुर करि सहकारी ।
 आगम-निगम-पुरान-सिंधु मथि सुधा निकारी ॥
 सुभ छंद-प्रबंधनि बाँधि बंध अजर अमर तासों भरघौ ।
 इमि तुलसीदास ललाम यह राम-चरित-मानस करघौ ॥^२

उपमेय तथा उपमान के गुण साम्य से कवि ने उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में उक्ति-वैचित्र्य तथा भावोत्कर्ष का अपूर्व कौशल दिखाया है। लाक्षणिक प्रयोगों से यहाँ वर्णित विषय का साकार चित्र उपस्थित हो गया है। अभिधा द्वारा सीधे-सादे ढंग से यही बात कह देने से वह इतनी प्रभावशालिनी नहीं बन पाती जितनी लक्षणा के प्रयोग से बन गयी है। रूपक-अलङ्कार का तो आधार ही लक्षणा है। उर्दू, फारसी, तथा अंग्रेजी के अध्ययन के कारण रत्नाकरजी लाक्षणिक प्रयोगों में सिद्धहस्त थे। यह भी एक कारण है जिससे उनकी उक्तियों में पूर्ण भावावेश के साथ अलङ्कारों का निर्वाह इतनी स्वाभाविकता से हो सका है। 'तुलसी अष्टक' से उद्धृत कवित्त में यदि समुद्र-मन्थन की पौराणिक कथा का सुन्दर रूपक है तो 'उद्धवशतक' से उद्धृत कवित्त में वियोगजन्य आशा-निराशा का हृदयहारी चित्रण है। भावों को व्यक्त करने के लिए रत्नाकरजी शब्दकोष से भिक्षा मांगते दिखायी नहीं देते। भाषा तो सरस्वती के इस लाड़ले लाल के भावों की स्वतः अनुवर्तिनी है।

१. उद्धवशतक पृष्ठ १७२-१७३ । छन्द-संख्या ६९

२. तुलसी अष्टक पृष्ठ ४५१ । छन्द-संख्या ३

‘गंगावतरण’ के पञ्चम सर्ग में यह दृश्य भी हृदय-द्रावक है। अंशुमान साठ सहस्र सगर-पुत्रों के भस्म हो जाने का आत्ययिक समाचार लेकर आता है। रत्नाकरजी इसी प्रसङ्ग को लेकर साङ्गरूपक का प्रयोग करते हैं। जहाँ यज्ञ हो रहा था, वहीं अब शोक-समुद्र आलोड़ित हो उठा है। वेदना की तीक्ष्ण लहरों से धैर्य रूपी मर्यादा नष्ट हो रही है। यज्ञाग्नि की ज्वाला बड़वाग्नि में विवर्तित है। साथ ही ‘पानी फिर जाना’ जैसे चलते हुए मुहावरे के सफल प्रयोग से साङ्गरूपक और भी खिल उठा है :—

उमड़यो सोक-समुद्र भई बिप्लुत मख-साला ।

बड़वाग्नि सी लगन लगी जज्ञाग्नि-ज्वाला ॥

गयो तुरत फिरि सब उछाह आनंद पर पानी ।

बढ़ी पीर की लहर धीर-मरजाब नसानी ॥^१

अलङ्कार-कौशल से कवि ने यहाँ वर्णित प्रसङ्ग का सजीव चित्र खड़ा कर दिया है। ऐसे भावानुगामी अलङ्कार को देखकर भला कौन सहृदय मुग्ध न होगा।

रीतिकालीन कवियों के समान रत्नाकरजी पहले किसी अलङ्कार विशेष को सोच कर फिर उसके उदाहरण स्वरूप काव्य-सृष्टि नहीं करते। वे तो भाव-लोक के कुशल चित्रकार हैं। वर्ण्य विषय से हृदय का तादात्म्य स्थापित करके वे अपनी प्रतिभा से उसका यथातथ्य चित्रण करने लगते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में अलङ्कारों का प्रयोग इतना सफल हो सका है। कहीं-कहीं तो उनके एक-एक पद्य में अनेकानेक अलङ्कारों का सम्बर्धनीय समावेश है। उदाहरणार्थ ‘उद्धवशतक’ का यह कवित्त उपस्थित है :—

रहति सदाई हरियाई हिय-घायनि में ,

ऊरध उसास सो झकोर पुरवा की है ।

पीव-पीव गोपी पीर-पूरति पुकारति हैं ,

सोई रतनाकर पुकार पपिहा की है ॥

लागी रहै नैननि सौं नीर की झरी औ

उठै चित में चमक सो चमक चपला की है ॥

बिनु घनश्याम धाम-धाम ब्रज-मंडल में

ऊँचो नित बसति बहार बरसा की है ॥^२

यहाँ ‘हरियाई’, ‘चमक’, ‘घनश्याम’ इत्यादि शब्द दिलीप हैं। वर्षाऋतु के

सामान्य व्यापारों पर आवृत यह साङ्गरूपक कल्पना की रङ्गीनी से समृद्ध है । बिना बादलों से ही वर्षा होने से विरोधाभास भी स्पष्ट है । यदि इसी उक्ति को इस दृष्टि से देखा जाय कि यहाँ प्रसिद्ध कारण के अभाव में भी कार्य का होना बताया गया है तो श्लेष-गर्भित उक्त-निमित्ता प्रथम विभावना भी मानी जा सकती है; रहा अनुप्रास सो वह तो उनकी कविता का सर्वत्र ही स्वाभाविक धर्म है ।

हेमन्तऋतु के सामान्य व्यापारों पर आवृत यह साङ्गरूपक भी सुन्दर बन पड़ा है :—

रीते परे सकल निषंग कुसुमायुध के ,
दूर दूरे कान्ह पे न तातें चलें चारौ है ।
कहै रतनाकर बिहाइ बर मानस कौं
लीन्यौ है हुलास-हंस बास दूरिवारौ है ॥
पाला परे आस पे न भावत बतास बारि
जात कुम्हिलात हियौ कर्मल हमारौ है ।
षट ऋतु ह्वैं हैं कहं अनत दिगंतनि में ,
इत तौ हिमंत कौ निरंतर पसारौ है ॥^१

प्रसन्नता रूपी हंस मन रूपी मानसरोवर को छोड़कर अन्यत्र चला गया है । हेमन्त में तुहिन-पात होने से जल, एत्रं वायु से वितृष्णा हो जाती है । शीताधिक्य से कमल कुम्हला जाते हैं । इन सामान्य व्यापारों को देखकर कवि कल्पना करता है कि गोपियों की आशाओं पर भी तुषार-पात हो गया है । वियोग के कारण उन्हें भी हेमन्त का पत्रन अच्छा नहीं लगता । इसीलिए उनका हृदय रूरी कमल कुम्हला गया है । श्लेष और साङ्गरूपक के इस विशिष्ट सङ्कर ने यहाँ विरह भावना को कैसा उत्कर्ष प्रदान किया है !

रूपक के एक अन्य भेद निरङ्ग का चमत्कार इस कवित्त में उपन्यस्त है—

साधन की सिद्धि रिद्धि सगुन अराधन की ,
सुभग समृद्धि-वृद्धि सुकृत-कमाई की ।
कहै रतनाकर सुजस-कल-कामधेनु ,
ललित लुनाई राम-रस-रचिराई की ॥
सब्दनि की बारी चित्रसारी भूरि भायनि की ,
सरबस सार सारदा की निपुनाई की ।

दास तुलसी की नीकी कबिता उदार-चार ,
जीवन अधार औ सिंगार कबिताई की ॥^१

गङ्गा के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हुए निम्नस्थ कवित्त में भी कवि ने निरङ्गरूपक की सहायता ली है ।

बिधि बरदायक की सुकृति-समृद्धि-वृद्धि ,
संभु सुर-नायक की सिद्धि की सुनाका है ।
कहै रतनाकर त्रिलोक-सोक नासन कौं ,
अतुल त्रिविक्रम के बिक्रम की साका है ॥
जम-भय-भारी-तम-तोम निरवारन कौं ,
गंग यह रावरी तरंग तुंग राका है ।
सगर-कुमारनि के तारन की छेनी सुभ ,
भूपति भगीरथ के पुन्य की पताका है ॥^२

यहाँ भी निरवयव उपमानों के आरोप से कवि ने रूपक की सर्जना की है, परन्तु अलङ्कार इतने स्वाभाविक ढंग से आया है कि भाव-व्यञ्जना में कहीं आघात नहीं पहुँचता । जो पाठक अलङ्कार के चमत्कार से परिचित नहीं हैं, वे भी गङ्गा की इस महिमा को पढ़कर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते । इसी प्रकार परम्परित रूपक की सहायता से भी उन्होंने अपनी उक्तियों को सहृदय-श्लाघ्य बनाया है :—

आए हौ सिखावन कौं जोग मथुरा तैं तौपैं ,
ऊधौ ये बियोग के बचन बतरावौ ना ।
कहै रतनाकर दया करि दरस दीन्यौ ,
दुख दरिबं कौं, तौपैं अधिक बढ़ावौ ना ॥
टूक-टूक त्वैं है मन-मुकुर हमारौ हाय ,
चूकि हूँ कठोर-बैन-पाहन चलावौ ना ।
एक मनमोहन तौ बसिकैं उजार्यौ मोहिं ,
हिय में अनेक मनमोहन बसावौ ना ॥^३

दर्पण के खण्ड-खण्ड हो जाने पर प्रत्येक टुकड़े में प्रतिबिम्ब दिखायी देने लगता है, फलतः एक ही बिम्ब के अनेक प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होते हैं । इसी सामान्य बात

१. तुलसी अष्टक पृष्ठ ४५० । छन्द-संख्या १

२. गंगाविष्णुलहरी पृष्ठ ३८१ । छन्द-संख्या १०

३. उद्धवशतक पृष्ठ १६१ छन्द-संख्या ४१

को लेकर रत्नाकरजी ने उपर्युक्त परम्परित रूपक की सर्जना की है। कठोर वचन रूपी पाहन से हृदय रूपी दर्पण के चूर-चूर हो जाने पर गोपियों को अपने भग्न हृदय के खण्ड-खण्ड में मनमोहन का प्रतिबिम्ब दिखायी देन का भय है। वे सोचती हैं कि हृदय में एक मनमोहन ने बस कर तो उनकी यह दशा कर दी, अनेक मनमोहनों का निवास होने पर पता नहीं क्या दशा होगी ? यहाँ प्रथम आरोप दूसरे आरोप का कारण है, अतः परम्परित रूपक स्पष्ट है। यहाँ भी अलङ्कार भावोत्कर्ष में सहायक है, कोरी बात की करामात नहीं। दर्पण यदि मूर्त स्वरूपों के प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है तो मन भावों के प्रतिबिम्ब का ग्राहक है। कठोर वचनों को पत्थर के समान कह कर तो कवि ने और भी स्वाभाविकता ला दी है। गोपियों की व्यथा-व्यक्त करने में यहाँ रूपक बड़ा सहायक हुआ है।

स्मरणालङ्कार का सुन्दर उदाहरण अधोलिखित छन्द में मिलेगा। इस अलङ्कार के सफल प्रयोग से कवि को कृष्ण की मनोदशा व्यक्त करने में अद्भुत सफलता मिली है :—

“न्हात जमुना मैं जलजात एक देख्यौ जात ,
जाकौ अध - ऊरध अधिक मुरझायौ है ।
कहै रतनाकर उमहि गहि स्याम ताहि ,
बास-बासना सौं नेंकु नासिका लगायौ है ॥
त्यौहीं कछु घूमि झूमि बेसुध भए कै हाय ,
पाय परे उखारि अभाय मुख छायौ है ।
पाए घरी द्वेक में जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर ,
राधा - नाम कीर जब औचक सुनायौ है ॥”

मंगलाचरण के पश्चात् उद्भवशतक में यह पहला ही कवित्त है। यहाँ मुरझाये हुए कमल की कल्पना—और वह भी काव्य के आरम्भ में ही—अनाकाङ्क्षित नहीं है। रत्नाकरजी ने जानबूझ कर ही ‘जाकौ अध ऊरध अधिक मुरझायौ है’ कहा है। वस्तुतः यही उक्ति यहाँ स्मरणालङ्कार का प्राण है। मुरझाये हुए कमल को देखकर कृष्ण को कमलवदनी राधिका के मुरझाये हुए मुख-कमल का स्मरण हो आता है। उस कमल की गंध में उन्हें पद्मिनी नायिका राधा के शरीर की स्वाभाविक गंध का साम्य मिश्रता है, इसी कारण कमल अब गदक हो जाता है। रत्नाकरजी का यह कौशल सर्वथा प्रशंसनीय है।

विकल्प का सुन्दर उदाहरण यह है—अभिमन्यु की मृत्यु से कुपित होकर अर्जुन

कहता है :—

“बीर अभिमन्यु मन्यु मन में न हूँयो मानि ,
जानि अब रन कौ बिधान किमि पैहों में ।
पायौ पैठि संगहों न रंग-भूमि हूँ मैं जब ,
जैहै तहाँ को तब जहाँ अब सिधैंहों में ॥
काहि चंद्र-ग्रह पैठिबे के पहिलें हीं तुम्हें ,
हाल रन-भूमि कौ उताल पहुँचैंहों में ।
कैं तौ तब विजय जयद्रथ सुनै है जाय ,
कैं तौ लैं पराजय-प्रलाप आप ऐहों में ॥^१

कवि का अलङ्कार-नैपुण्य यहाँ भी भावोत्कर्ष में सहायक है। स्वर्गीय अभिमन्यु को सम्बोधित करते हुए अर्जुन कहता है कि कल या तो जयद्रथ ही तुम्हें मेरी विजय की सूचना देगा, या मैं स्वयं ही पराजय का प्रलाप लेकर तुम्हारे सामने आ जाऊँगा। बातें दोनों ही सम्भव हैं, परन्तु एकत्र स्थित होने के कारण निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कौन सी घटित होगी। इसी विकल्प द्वारा कवि ने अर्जुन की मनोदशा को सफलतापूर्वक व्यक्त किया है। रत्नाकरजी को अलङ्कारों की सहायता से भावों को उत्कर्ष प्रदान करने में प्रायः सर्वत्र ऐसी ही सफलता मिली है।

‘गंगालहरी’ की निम्नलिखित पंक्तियों में चपलातिशयोक्ति का चमत्कार भी श्लाघनीय है। ब्रह्मा के कमण्डलु उठाते ही गङ्गा-अवसारण-भय से तीनों लोक सम्भ्रमित हो उठे हैं :—

बोधि बुधि बिधि के कमंडल उठावतहीं ,
धाक मुरधुनि की धँसी यों घट-घट में ।
कहै रतनाकर मुरासुर ससंक सबै ,
बिबस बिलोकत लिखे से चित्र - पट में ॥
लोकपाल दौरन दसों दिसि हहरि लागे ,
हरि लागे हेरन सुपात बर बट में ।
खसन गिरीस लागे त्रसन नबीस लागे ,
ईस लागे कसन फनीस कटि-तट में ॥^२

जहाँ कारण उपस्थित हुए बिना केवल उसके ज्ञान से ही कार्य सम्पन्न हो जाता

१. जयद्रथवध वीराटक पृष्ठ ४९८ । छन्द-संख्या ३

२. गंगाबिष्णुलहरी पृष्ठ ३७८-३७९ । छन्द-संख्या ४

है वहाँ चपलातिशयोक्ति अलङ्कार होता है । गङ्गा अभी कमंडलु से निकली भी नहीं हैं, परन्तु ब्रह्मा के कमंडलु उठाते ही गङ्गा के आतङ्क से अखिल ब्रह्मांड संक्षुब्ध हो उठा है । उक्ति का यही चमत्कार यहाँ चपलातिशयोक्ति का आधार है ।

निम्नोक्त छन्द अत्यन्तातिशयोक्ति का सुन्दर उदाहरण है । कारण के प्रथम ही कार्य सम्पन्न होने पर अत्यन्यातिशयोक्ति अलङ्कार होता है । इस उदाहरण में भगवान् के पास गजराज की पुकार पहुँचने के पहले ही वे उसके उद्धार के लिए दौड़ पड़े हैं:—

रमत रमा के संग आनंद-उमंग भरे ,
अंग परे थहरि मतंग अवराधे पै ।
कहै रतनाकर बदन-बुति औरै भई ,
बूँदें छई छलकि दृगनि नेह-नाथे पै ॥
धाए उठि बार न उबारन में लाई रंच ,
चंवला हूँ चकित रही हूँ बेग-साधे पै ।
आवत बितुंड की पुकार मग आधें मिली ,
लौटत मिल्यौ तौ पच्छिराज मग आधे पै ॥^१

विभावना में कवि का कौशल यहाँ उपस्थित है :—

ले अधरानि की माधरी मंजुल ,
ऊष महूष हूँ लाजति ही रहै ।
भावनि के रतनाकर में ,
अलखी लहरें उपराजति ही रहै ॥
माननि में हिय में अंग-अंग में ,
यौं धुनि पै धुनि छाजति ही रहै ।
कानन में तो बजै न बाजै ,
पर काननि बांसुरी बाजति ही रहै ॥^२

बिना कारण के ही कार्य हो जाने पर विभावना अलङ्कार होता है । यहाँ बिना कानन में बांसुरी बजे ही कानों में उसकी मधुर ध्वनि सुनायी दे रही है । 'कानन' तथा 'काननि' में यमक तो है ही, किन्तु भावोत्कर्ष में विशेष सहायता विभावना से ही मिली है ।

रत्नाकरजी को 'व्याजस्तुति' भी विशेष प्रिय है । इस अलङ्कार में या तो प्रशंसा-

१. गजेन्द्र मोक्षष्टक पृष्ठ ४३३ । छन्द-संख्या १

२. प्रकीर्ण पद्यावली पृष्ठ ५७५ । छन्द-संख्या ५६

त्मक प्रतीत होने वाले शब्दों से अभिशंसन अथवा साधारण दृष्टि से निन्दात्मक प्रतीत होने वाले शब्दों में उत्कीर्त्तन निहित रहता है । अर्थात् निन्दा के बहाने स्तुति अथवा स्तुति के बहाने किसी की निन्दा करने से व्याजस्तुति अलङ्कार होता है । निन्दा के उपलक्ष्य से गणेश का यह स्तवन व्याजस्तुति के उपधान से ही हो सका है :—

सुंड सौं लुकाइ औ दबाइ दंत दीरघ सौं ,
 दुरित दुरुह दुख दारिद बिदारे देत ।
 कहै रतनाकर बिपत्ति फटकारै फूँकि ,
 कुमति कुचार पै उछारि छार डारे देत ॥
 करनी बिलोकि चतुरानन गजानन की ,
 अंब सौं बिलखि यों उराहनों पुकारे देत ।
 तुमही बताओ कहाँ बिघन बिचारे जाहि ,
 तीनों लोक माहि ओक उनकों उजारे देत ॥^१

इसी अलङ्कार के आभिचारिक प्रयोग से निम्नोक्त शिव-वन्दना भी आकर्षक हो गयी है । कुबेर के इस उपालम्भ में शिव-महिमा का निःश्रम व्याख्यान है :—

बेर बेर बिलखि बिधाता सौं कुबेर कहै ,
 हम पै तिहारी परै संपत्ति सँभारी ना ।
 कहै रतनाकर लुटाए देत संभु सबै ,
 देखी कहूँ ऐसी मति दान-मतवारी ना ।
 रावरे कुअंकह की टारै मरजाद सबै ,
 वाकी पै निरंकुस कुटैव टारै टारी ना ।
 सब हमही से किए देत अब कोऊ करै ,
 सोन - टोकरी हू दिये नोकरी हमारी ना ॥^२

गङ्गा की निन्दा में छिपी यह प्रशंसा भी व्याजस्तुति पर ही आधृत है :—

पापी तन-तापी में न भेद कछू राखति है ,
 पार भवसागर कं सबहीं उतारे देति ।
 कहै रतनाकर बिरंचि रचना सौं बेगि ,
 पंच-तत्त्व त्यागि सत्त्व सकल निकारे देति ॥

त्रिगुन त्रिलोक के गुननि पर पानी फेरि ,
 एक गुन आपनौ अनूपम बगारे बेति ।
 रंग जमराज कौ रहै न सुरराज ही कौ ,
 दोऊ पुर गंग एक संग ही उजारे बेति ॥^१

व्याजस्तुति का ऐसा ही चमत्कार इस छन्द में भी विद्यमान है :—

जाइ रत्नाकर पै जम यौ दुहाई बेत ,
 अज अखिलेस सेसनाग पै सुवैया की ।
 देखौ जागि जमुना कुभाय के हिलोरे आप ,
 पाप-नाव बोरै मम पुर के जवैया की ।
 बिधि हूँ के रोष की न राखै परवाह रंच ,
 ऐसी भयी सोख पाइ संगति कहैया की ।
 राखी मरजाव पाप पुन्य की सु राखी गनै
 साखी गनै बाप की न भाषी गनै भैया की ॥^२

साङ्गरूपक के समान व्याज-स्तुति भी रत्नाकरजी का प्रिय अलङ्कार है। विभिन्न देवी-देवताओं की महिमा का वर्णन करते समय प्रायः उन्होंने इसी के माध्यम से अपनी भक्ति तथा धार्मिक भावनाओं को व्यक्त किया है। उपर्युक्त कवित्त में 'कहैया' की 'संगति' से यमुना के 'सोख' हो जाने की कल्पना बड़ी मधुर है। अन्त में 'साखी गनै बाप की न भाषी गनै भैया की' कह कर तो रत्नाकरजी ने उद्बुद्ध भाव को चरमोत्कर्ष ही प्रदान कर दिया है। किसी अनृद्धा की चरित्र-हीनता के सम्बन्ध में सम्य भाषा में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है कि वह न बाप की सुनती है न भाई की। परन्तु इन निन्दापरक शब्दों में यमुना के पतितोद्धारक स्वभाव की जो प्रशंसा-सूचक ध्वनि निकल रही है, वह वासनाख्य-संस्कार-युक्त काव्य-मर्मज्ञों से छिरी नहीं रह सकती।

वीप्सा की सहायता से भावोत्कर्ष इन उद्धरणों में मिलेगा :—

भेजे मनभावन के ऊषव के आवन की ,
 सुधि ब्रज - गावनि में पावन जबै लगीं ।
 कहै रत्नाकर गुवालनि की झौरि-झौरि ,
 दौरि-दौरि नंद-पौरि आवन तबै लगीं ॥

१. गंगाविष्णुलहरी पृष्ठ ३९४-३९५ । छन्द-संख्या ४४

२. श्री यमुनाष्टक पृष्ठ ४३९ छन्द-संख्या ६

उमकि-उमकि पद-कंजनि के पंजनि पे ,
 पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगिं ।
 हमकों लिख्यौ है कहा, हमकों लिख्यौ है कहा ,
 हमकों लिख्यौ है कहा कहन सबै लगिं ॥^१

कृष्ण-विरह-संतप्ता-गोपियों के व्याकुल हृदय का निम्नोक्त वर्णन भी बड़ा अनूठा है । इस समय गोपियों की मनोदशा ही ऐसी है कि उनके मुख से पदावृत्ति-मूलक वीप्सापूर्ण उक्ति निःसृत होना सहज स्वाभाविक है । इसी अलङ्कार की सहायता से अन्यत्र भी रत्नाकरजी ने भावों के जीते-जागते चित्र उतारे हैं:—

कहाँह प्रतीति प्रीति नीति हूँ त्रिबाचा बांधि ,
 ऊँचो सांच मन की हिये की अरु जी की हें ।
 वै तो हें हमारे ही हमारे ही हमारे ही औ ,
 हम उनही की उनही की उनही की हें ॥^२

तथा :

सबद न पावत सो भाव उमगावत जो ,
 ताकि-ताकि आनन ठगे से ठहि जात हें ।
 रंचक हमारी सुनौ रंचक हमारी सुनौ
 रंचक हमारी सुनौ कहि रहि जात हें ॥^३

‘उद्धवशतक’ में गोपियों के इस कथन में भ्रान्तापह्लाति^४ का निर्वाह भी बड़ा सुन्दर है:—

अंडे लों टिटैहरी के जैहै जू बिबेक वहि ,
 फेरि लहिबे की ताके तनक न राह है ।
 यह वह सिंधु नाहि सोखि जो अगस्त लियौ ,
 ऊँचो यह गोपिनि के प्रेम कौ प्रबाह है ॥^५

अधोलिखित कवित्त में व्यतिरेक का कौशल दर्शनीय है । उपमेय और उपमान

१. उद्धवशतक पृष्ठ १५६ छन्द-संख्या २७

२. वही पृष्ठ १६९ । छन्द-संख्या ६१

३. वही पृष्ठ १८५ । छन्द-संख्या ९९

४. जहाँ सत्य बात के स्पष्टीकरण से भ्रम का निराकरण होता है । वहाँ भ्रान्तापह्लाति अलङ्कार होता है ।

५. उद्धवशतक पृष्ठ १७२ । छन्द-संख्या ६७

के सादृश्य को छिपाकर उपमान में कोई त्रुटि अथवा उपमेय में कोई विशेषता दिखाने से व्यतिरेक अलङ्कार होता है। यहाँ कृष्ण तथा चन्द्रमा के सौन्दर्य-सादृश्य को छिपाकर कृष्ण के सौन्दर्य की विशेषता व्यक्त की गयी है :—

सो तौ करै कलित प्रकास कला सोरस लौं ,
यामें बास ललित कलानि चौगनी कौ है ।
कहै रतनाकर सुधाकर कहावै वह ,
याहि लखैं लगत सुधा कौ स्वाद फीकौ है ॥
समता सुधारि औ बिसमता बिचारि नीकें ,
ताहि उर धारि जो बिसव ब्रज-टीकौ है ।
चार चाँदनी कौ नीकौ नायक निहारि कहौ ,
चाँदनी कौ नीकौ कैं हमारौ चाँद नीकौ है ॥^१

निम्नलिखित कवित्त में स्वभावोक्ति द्वारा कवि को प्रकृति चित्रण में पूर्ण सफलता मिली है। सूर्यास्त का यह चित्र कवि के सूक्ष्मनिरीक्षण से समृद्ध है:—

छाई छबि स्यामल सुहाई रजनी-मुख की ,
रंच पियराई रही ऊपर मुरेरे के ।
कहै रतनाकर उमगि तर-छाया चली ,
बढ़ि अगवानी हेत आवत अँधेरे के ॥
घर घर साजें सेज अंगना सिंगारि अंग ,
लौटत उमंग भरे बिछुरे सबरे के ।
जोगी जती जंगम जहाँ हीं तहाँ डेरे देत ,
फेरे देत फुवकि बिहंगम बसेरे के ॥^२

सार अलङ्कार का भी एक उदाहरण देख लीजिए। इस अलङ्कार में उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाया जाता है जो स्वरूप, धैर्य, इत्यादि अनेक वस्तुओं का हो सकता है। उत्तरोत्तर अपकर्ष में भी सारही^३ माना जाता है :—

१. शृंगारलहरी पृष्ठ ३१६ । छन्द-संख्या ४

२. संध्याष्टक ४८१ । छन्द-संख्या २

३. सारो नाम पदोत्कर्षः सारताया यथोत्तरम् ।

सारं सारस्वतं तत्र काव्यं तत्र शिवस्तवः ॥]

जयदेव-चन्द्रालोक-पञ्चम मयूख, कारिका ९०

छीर-फेन कैसी फबी अमल अंटारी पर ,
 आई सुकुमारी प्रान - प्यारी नंद-नंद की ।
 मानौ रत्नाकर-तरंग-तुंग-शृंग पर ,
 सुखमा सुहाई लसै कमला सुछंद की ॥
 जैतें दीप-दीपति पै दीप मनि-दीपति है ,
 दीरमनि पै ज्यों वृत्ति दामिनि अमंद की ।
 निखिल नछत्रनि पै चंद की प्रभा है जिमि ,
 चंद की प्रभा पै त्यों प्रभा है मुख चंद की ॥^१

सन्देहालङ्कार के प्रयोग में भी रत्नाकरजी को अपूर्व सफलता मिली है । इस अलङ्कार में उपमेय तथा उपमान में सन्देह की उद्भावना की जाती है, साथ ही उपमेय तथा उपमान के पारस्परिक साम्य का भी पूर्ण उल्लेख होता है । सादृश्य के कारण उ मेय तथा उपमान परस्पर इतने मिल जाते हैं कि साधारणदृष्टि से उनके बीच में व्यावर्तक रेखा खींचना कठिन होता है । इसी सादृश्य के आधार पर कवि अनेक उपमानों की सृष्टि कर, उक्ति को चमत्कारपूर्ण बना देता है । 'गंगावतरण' की पंक्तियाँ हैं :—

कै निज नायक बँध्यौ बिलोकत ब्यल पास तैं ।
 तारनि की सेना उदंड उतरति अकास तैं ॥
 कै सुर-मुनव-समूह आनि सुर-जूह जुहारत ।
 हर हर करि हर-सीस एक संगहि सब डारत ॥^२

कवि ने यहाँ गगन से गिरती हुई गङ्गा की धारा का चित्र सा खींच दिया है । आकाश से उतरती हुई तारों की सेना तथा इस धारा में कैसा अद्भुत साम्य है ! इसी प्रकार व्योम से होने वाली पुष्प-वृष्टि तथा पृथ्वी को ओर उतरती हुई गङ्गा की धारा में भी चमत्कारपूर्ण समानता है । प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का यह मनोरम साम्य सन्देहालङ्कार के द्वारा ही आकर्षक बना है । सन्देह भी रत्नाकरजी का प्रिय अलङ्कार है । उनकी रचनाओं में अनेक स्थलों पर इसका सफल प्रयोग उपलब्ध है । इसी की सहायता से रत्नाकरजी ने अद्भुत रस का यह सजीव चित्र उ स्थापित किया है :—

बोलि उठे चकित सुरासुर जहाँ हीं तहाँ ,
 हा हा यह चीर है कै धीर बसुधा कौ है ।

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३१९ । छन्द-संख्या ११

२. गंगावतरण पृष्ठ २५४ । छन्द-संख्या २५

कहै रतनाकर कै अम्बर दिगंबर को ,
 कैशों परपंच को पसार बिधना को है ॥
 कैशों सेजनाग की असेस कंबुली है यह ,
 कैशों ठंग गंग की अभंग महिमा को है ।
 कैशों द्रौपदी की कहना को बरनालय है ,
 पारावार कंधों यह काहू की कृपा को है ॥^१

अपने अलङ्कार-कौशल में कहीं तो वे भावों की पेशलता को मूर्तिमान कर देते हैं और कहीं वर्णित वस्तु के आकार-प्रकार एवं उसकी सुन्दरता अथवा कुरूपता की तीव्र अभिव्यञ्जना से पाठक का हृदय उद्वेलित कर देते हैं । वस्तुओं के गुणों और क्रियाओं के निरूपण में भी उन्होंने प्रायः अलङ्कारों को ही अपना साधन बनाया है । सन्देह के प्रयोग में अन्यत्र भी उन्हें ऐसी ही सफलता मिली है । इसी अलङ्कार की चाहता से निर्मित ग्रीष्मऋतु की भीषणता के दो-एक चमत्कारपूर्ण चित्र ये हैं :—

कैशों अति दुसह दवागि की दपेट कंधों ,
 बाड़व की विषम झपेट-झर-झार है ।
 कहै रतनाकर वहकि बाह बारन सों ,
 उगिलत आगि कंधों पादक - पहार है ॥
 रुद्र - दूग तीसरे की कंधों बिकराल ज्वाल ,
 फेकत फुलिंग के फनिव फुफुकार है ।
 कंधों ऋतुराज-काज अवनि उसास लेति ,
 कंधों यह ग्रीष्म की भीषम लुआर है ॥^२

निम्नोक्त उद्धरण में भी रतनाकरजी ने निदाव की दाहकता सन्देहालङ्कार से ही व्यक्त की है :—

बहति लुवार मनौ वहति दवारि देह ,
 कैशों फनिपति फुफुकार-झार लायौ है ।
 कोऊ किशों बिकल बियोगिनि धिनै कं फेरि ,
 तीसरी त्रिलोचन को लोचन खुलायौ है ॥^३

क्रिया की तीव्र अनुभूति में सहायक सन्देहालङ्कार का चमत्कार 'हिडोला' काव्य

१. द्रौपदी अष्टक पृष्ठ ४४८ । छन्द-संख्या ८

२. शृंगारलहरी पृष्ठ ३६९ । छन्द-संख्या १४९

३. प्रकीर्ण पद्यावली पृष्ठ ५६६ । छन्द-संख्या ३४

की इन पंक्तियों में समुद्भूत हैं :—

कैथों लाज मदन के मध्य पर्यो मध्या-जिय ,
 कै अभिसार-समै कलकामिनि कौ धरकत हिय ।
 किथों राग कुल कानि बीच अनुरागिनि कौ चित,
 सकै न ठिकु ठहराइ जात आवत नित उत इत ॥^१

छत्रपति शिवाजी की चमकती हुई तलवार के निम्नलिखित वर्णन में भी इसी अलङ्कार का प्रयोग हुआ है । कवि ने यहाँ भयानक उपमानों की सहायता लेकर पाठकों के मानसिक नेत्रों के सम्मुख शिवाजी की तलवार की संहारकारिणी शक्ति एवं भयङ्करता को मूर्तिमान कर दिया है :—

कैथों खल-मंडल उदंड चंड दंडन कौ ,
 उदृत अखंडल कौ अस्त्र दमकत है ।
 कहै रतनाकर कै जमन-प्रलैं कै काज ,
 त्र्यंशक कौ अंशक त्रितीय रमकत है ॥
 कैथों दीह दिल्लि-दल-बन-घन जारन कौ ,
 वपटि दवानल ' स ताप तमकत है ।
 चमकत कैथों सूर-सरजा-दुधारा किथों ,
 सहर सितारा कौ सितारा चमकत है ॥^२

यहाँ अन्तिम पंक्ति में यमक का सुन्दर प्रयोग तो है ही 'सितारा चमकना' जैसे चलते हुए मुहावरे के विदग्ध प्रयोग से उचित-वैचित्र्य भी बढ़ गया है । शब्दों, भावों और अलङ्कारों का यह सामञ्जस्यपूर्ण चयन रत्नाकरजी को रीतिकालीन कवियों से पर्याप्त आगे बढ़ा देता है । चित भ्रमित करने वाले शब्द-जाल के महाअरण्य से दूर रहकर, कलात्मक ढंग से अपनी बात कह जाना ही तो उनकी व्यक्तिगत विशेषता है । उनकी उक्तियाँ प्रायः सर्वत्र ही कल्पना के सम्मुख अवितथ एवं बुद्धि के समक्ष विस्पष्ट हैं ।

भगवान् कृष्ण के नेत्रों के वर्णन में उल्लेख का यह सफल प्रयोग भी उल्लेखनीय है :—

कोऊ कहें कंज हैं कलानिधि-सुधासर के,
 कोऊ कहें खंज सुचि-रस के निखारे हैं ।

१. हिडोला, पृष्ठ ६ । छत्र-संख्या २२

२. बीराष्टक, पृष्ठ ५०८-५०९ । छन्द-संख्या ५

कहै रतनाकर त्यों साधा करि कोऊ कहै,
 राधा-मुख - चंद के चकोर चटकारे हैं ॥
 कोऊ अंग - कानन के कहत कुरंग इन्हें,
 कोऊ कहै मीन ये अनंग-केतु-वारे हैं ।
 हम तौ न जानें उपमानें एक मानें यहै,
 लोचन तिहारे दुख-मोचन हमारे हैं ॥^१

निमित्त भेद के कारण एक ही वस्तु का अनेक व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किये जाने पर उल्लेख-अलङ्कार होता है । यहाँ भगवान् कृष्ण के सुन्दर नेत्रों का वर्णन करते हुए कवि ने अनेक उमानों की झड़ी लगा दी है, फिर भी अस्वाभाविकता कहीं नहीं है । भक्ति के उद्रेक से ये शब्द-रत्न उनके मुख से अनायास ही निकल पड़े हैं ।

प्रत्यनीक का उदाहरण अधोलिखित कवित्त है । इस अलङ्कार के प्रयोग से हेमन्त के सामान्य व्यापारों के चित्रण में उन्हें पूर्ण सफलता मिली है :—

धारि कै हिमंत के सजीले स्वच्छ अम्बर कौ,
 आपने प्रभाव कौ अडार बढ़ाए लेति ।
 कहै रतनाकर दिवाकर-उपासी जानि,
 पाला कंज-पुंजनि पै पारि मुरझाए लेति ।
 दिन के प्रताप औ प्रभा की प्रखराई पर,
 निज सियराई-सँवराई-छबि छाए लेति ।
 तेज-हत-पति-मरजाद-सम ताकौ मान,
 चाव-चढ़ी कामिनी लौं जामिनी बबाए लेति ॥^२

शत्रु के अधिक बलवान होने पर जब शत्रु के स्थान पर उसके किसी सम्बन्धी से प्रतिशोध लिया जाता है, तब प्रत्यनीक अलङ्कार होता है ।^३ यहाँ हेमन्त अपने शत्रु सूर्य से बदला लेने में असमर्थ है । कमल के फूल सूर्य के उपासक हैं, अतः हेमन्त, कमल के फूलों पर पाला डाल कर उन्हें मुरझाये दे रहा है ।

१. श्रीकृष्णाष्टक पृष्ठ ४३० छन्द-संख्या ३

२. हेमन्ताष्टक पृष्ठ ४७० छन्द-संख्या ३

३. प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः ।

जंत्रनेत्रानुगौ कर्णवृत्तलाभ्यामथः कृतौ ॥

रूपकातिशयोक्ति का क्षेत्र संकुचित होने के कारण इस अलङ्कार का प्रयोग श्रमसाध्य है, परन्तु रत्नाकरजी को इसके प्रयोग में भी पूर्ण सफलता मिली है। इसमें उपमेय का स्पष्ट कथन न करके केवल उपमान का ही वर्णन किया जाता है तथा उपमान की सहायता से ही उपमेय की व्यञ्जना की जाती है। अर्थात् उपमान जब उपमेय को अन्तर्भूत कर लेता है तब रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार होता है।^१ इस दृष्टि से यह लाक्षणिक प्रयोग पर निर्भर है। यह अलङ्कार रूपकालङ्कार के बहुत निकट आ जाता है। रूपक में उपमेय तथा उपमान दोनों ही का स्पष्ट कथन होता है, परन्तु रूपकातिशयोक्ति में उपमेय का निगूढ और मात्र उपमान का वर्णन होता है। रूपकातिशयोक्ति में कवि प्रायः अत्यधिक परिवर्तित उपमानों को सामने लाकर उन्हीं के द्वारा उपमेय का बोध कराते हैं, परन्तु रत्नाकरजी ने अपनी प्रतिभा के बल से इस अलङ्कार में भाव नूतन उद्भावनाएँ की हैं। अनङ्ग के इस तुरङ्ग की शक्ति भी कैसी आकर्षक है :—

तंग अँगिया सौ तन्यौ चोटी सौ चमोटी पाइ
हिय हुमसावत सुढंग चल्यौ जात है ॥
कहै रतनाकर त्यों जोवन उमंग भर्यौ
ग्रीवा तानि उन्नत उत्तंग चल्यौ जात है ॥
पायौ मरुभूमि में कहाँ तें इतौ पानिप जो
पूरत तरंग अंग अंग चल्यौ जात है ॥
धूँधट बनाए ठमकत पैड़ पैड़ लखी
ऐँड़त अनंग कौ तुरंग चल्यौ जात है ॥

शृंगारिक वर्णन में नायिका के लिए तुरङ्ग का उपमान और वह भी पुल्लिङ्ग में, साम्प्रत नहीं है; परन्तु अलङ्कार सौष्ठव में यहाँ और कोई कमी नहीं है। प्रभात के निम्नलिखित वर्णन में रत्नाकरजी को इसी अलङ्कार में अधिक सफलता प्राप्त हुई है :—

जाके अरुनच्छद उमंग कौ प्रसंग पाइ,
सुखद सुगंध पौन मंद मंद थरके।
कहै रतनाकर सुमन-गन फूलि उठे,
दिग-बनितानि पै अनूप रूप छरके ॥

१. रूपकातिशयोक्तिश्चेद्वैयं रूपकमध्यगम् ॥ वही—कारिका ४६

२. प्रकीर्ण पद्यावली पृष्ठ ५५७ छन्द-संख्या ६

करत जुहार चारु चहकि उचाइ ग्रीव .
चाय-भरे चपल बिहंग फिरें फरके ।
आयौ देत दिवस बधायौ बर हेम-हंस ,
मोती मंजु चुनत सु जोती-पुसकर के ॥'

यहाँ उपमेय सूर्य का कथन न करके केवल उपमान हेम-हंस का उल्लेख किया गया है। श्लेष भी विस्फीत कलात्मकता से आया है। हंस शब्द जल-पक्षी विशेष का भी परिचायक है और सूर्य का भी, अतः 'हेम-हंस' कहने से बाल अरुण की ध्वनि स्वाभाविक ढंग से व्यक्त हुई है। आकाश रूपी ज्योति-पुष्कर में यह हंस तारे रूपी मोतियों को चुग रहा है। उषा की प्रथम रश्मि जब विस्तीर्ण आकाश में आलोक बिखेर देती है, तब बाल अरुण के उदय होते ही निखिल तारिकावली विलीन हो जाती है। कवि ने इसी सामान्य व्यापार की चमत्कारपूर्ण अभिव्यञ्जना की है। इसी बात को यदि साधारण रूप से इस प्रकार कह दिया जाता कि 'सूरज निकला, तारे अस्त हो गये' तो इस कथन में वह आकर्षण न रह जाता जो कवि के इस आलङ्कारिक वर्णन में दृष्टिगोचर हो रहा है। विस्तीर्ण नोले आकाश से जल-पूर्ण विस्तृत पुष्कर का साम्य भी कवि की अनुपम सूझ का परिचायक है।

भक्ति की अभिव्यक्ति में रत्नाकरजी ने निम्नलिखित पंक्तियों में पर्यायोक्ति का स्वाभाविक प्रयोग किया है। यहाँ भी अलङ्कार भावोत्कर्ष में सहायक हुआ है। इस अलङ्कार में अभीप्सित बात सीधी तरह से न कह कर घुमा-फिरा कर कही जाती है। अर्थात् पर्याय-कथन ही पर्यायोक्ति है।^१ रत्नाकरजी भगवान् से यह कहना चाहते हैं कि आप मुझे अपनी शरण में रख लीजिए परन्तु इसी बात को उन्होंने भक्ति के आवेश में इस प्रकार कहा है :—

जाउं जम-गाउं जौ समेत अपराधनि के ,
तो पै तिहिं ठाउं ना समाउं उबर्यो रहौ ।
कहै रतनाकर पठावौ अघ-नासि जु पै ,
तो पै तहाँ जाइबे की जोगता हर्यो रहौ ॥
सुकृत बिना तो सुर-पुर में प्रबेस नाहि ,
पर तिन तें तौ नित दूर ही टर्यो रहौ ।

१. प्रभाताष्टक, पृष्ठ ४७९, छन्द-संख्या ६

२. "कार्याद्यैः प्रस्तुतैरुक्ते पर्यायोक्ति प्रचक्षते ।"

तातें नयौ जौ लों ना निवास निरमान होइ ,
तौ लों तव द्वार पै अमानत पर्यौ रहौ ॥^१

विषम परिवृत्ति में कवि की सृजनात्मिका शक्ति का उदाहरण निम्नोक्त कवित्त है। परिवृत्ति अलङ्कार में सम, न्यून या अधिक पदार्थों द्वारा आपस में परिवर्तन या विनिमय होता है। अर्थात् एक वस्तु देकर उसके बदले में दूसरी वस्तु ली जाती है। जहाँ उत्तम वस्तु देकर न्यून गुणवाली वस्तु ली जाती है, अथवा हीन गुणवाली वस्तु देकर बदले में उत्तम गुणवाली वस्तु ली जाती है, वहाँ विषम परिवृत्ति माना जाता है :—

संग में सहेलनि के जोबन-उमंग-रली
बाल अलबेली चली जमुना अन्हाइ कै ।
कहै रतनाकर चलाई कान्ह काँकर त्यों
ठठकि सुजान साखियानि सौं पछाई के ॥
बाएँ कर गगरि सँभारि झुकि बाई ओर ,
बाएँ कर-कंज नैकुँ घूँघट उठाइ कै ।
दँ गई हिये में हाय दुसह उदेग दाग
लँ गई लड़ैती मन मुरि मुसुकाइ कै ॥^२

उपर्युक्त छन्द की अन्तिम दो पंक्तियों में विषम परिवृत्ति है। उत्तम वस्तु मन लेकर बदले में 'दुसह उदेग दाग' दिया गया है। यहाँ भी अलङ्कार भावोत्कर्ष में सहायक हुआ है।

द्वितीय विषम का उदाहरण निम्नोक्त कवित्त है। जहाँ कर्ता को क्रिया के अनु-कूल फल मिलना तो दूर रहा उलटे अनर्थ की प्राप्ति हो वहाँ द्वितीय विषम अलङ्कार होता है।^३

आई भुजमूल दिए सुघर सहेलिनी पै,
बाग में अजान जानि प्रान कछू बहरें ।
कहै रतनाकर पै औरहूँ विषाव बढ़यो,
याव परें सुझद सँजोग की दुपहरें ।

१. गंगाविष्णुलहरी, पृष्ठ ३९९, छन्द-संख्या २

२. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३२९, छन्द-संख्या ३८

३. "कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ।"

धीरज जर्पौ औ जिय ज्वाल अधिकानी लखि,
नीजर-निकेत स्वेत-नीर-भरी नहरें ।
दंद-मई दुसह बुचंद भई हीतल कौ,
सीतल सुगंध मंद माखत की लहरें ॥^१

छेकापल्लुति का सुन्दर उदाहरण यह है :—

आइ अठखेलिनि सौं अमित उमंग भरें,
जिनके प्रसंग सौं तरुनि अंग थहरें ।
जीवन जुड़ावें रस-भ्राम रतनाकर कौ,
मानस में जिनसौं तरंग मंजु ढहरें ॥
अंग लागि मेरें बिन बाधक सुखेन सोई,
ऐसी कब भाग-पुंज होहि कुंज डहरें ।
दंद हरें हीतल कौ, कोन नंद-नंद ? नाहि,
सीतल सुगंध मंद माखत की लहरें ॥^२

स्वकथन से अपना गुप्त रहस्य प्रकट हो जाने पर, विरोधी के भय से, उतका गौन करके मिथ्या समाधान किये जाने को छेकापल्लुति कहते हैं^३ यहाँ नायिका का प्रेम प्रकट हो गया है । परन्तु यह पूछे जाने पर कि “क्या तुम नन्द नन्दन के विषय में कह रही हो” नायिका सत्य को छिपा कर यह कह देती है कि “नहीं मैं तो शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन के विषय में बात कर रही हूँ ।”

रत्नाकरजी के अलङ्कार-विधान की सबसे प्रमुख विशेषता स्वाभाविकता है । वैचित्र्यपूर्ण शब्द-योजना से सम्पुष्ट होकर उनकी कल्पना ने ऊँची-से-ऊँची उड़ानें भरी हैं, परन्तु फिर भी उनके कथन में अस्वाभाविकता नहीं आने पायी है । उनकी अलङ्कार-प्रियता ने भावों की दीप्ति को घटाया नहीं, बढ़ाया ही है । देखिए गोपियों की दीन-दशा देखकर ज्ञान के घमण्ड में चूर उड़व कैसे घबरा गये हैं :—

दीन दसा देखि ब्रज-बालनि की ऊधव कौ ,
गरि गौ गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से ।

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३४५, छन्द-संख्या ८४

२. वही, पृष्ठ ३४४, छन्द-संख्या ८२

३. छेकापल्लुतिरन्यस्य शङ्कया तथ्यनित्तवे ।”

कहै रतनाकर न आए मुख बैन नैन ,
 नीर भरि ल्याए भए सकुचि सिहाने से ॥
 सूखे से खमे से सकबके से सके से थके ,
 भूले से भ्रमे से भभरे से भकुवाने से ।
 हौले से हले से हल-हूँसे से हिये में हाय ,
 हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से ॥^१

इस कवित्त का चमत्कार समुच्चय अलङ्कार पर आधृत है । जहाँ गुण, क्रिया, अथवा गुण और क्रिया दोनों का एक ही सम्बन्ध में उल्लेख हो वहाँ द्वितीय समुच्चय होता है ।^२ जयदेव ने एक ही कार्य में अनेक क्रियाओं, गुणों अथवा अनेक कारकों का योग होने पर समुच्चय अलङ्कार माना है ।^३ यह कवित्त क्रिया समुच्चय का उदाहरण है । यहाँ अनेक क्रियाएँ एक साथ घटित होने से मानसिक नेत्रों के सम्मुख उद्भव की घबराहट का चित्र सजीव हो जाता है । अनुप्रास की सङ्गीतात्मकता ने तो इस आलङ्कारिक चमत्कार को और भी तरलता प्रदान कर दी है ।

हिन्दी-साहित्य में 'सेनापति' श्लेषालङ्कार के लिए प्रख्यात हैं । श्लेष का जैसा कलात्मक प्रयोग उन्होंने किया वैसा हिन्दी के अन्य कवियों में कम ही दिखायी देता है, किन्तु रत्नाकरजी का श्लेष-कौशल कम आकर्षक नहीं है :—

रस के प्रयोगनि के सुखद सु जोगनि के
 जेते उपचार चार मंजु सुखदाई हैं ।
 तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन
 वेत ना सुदर्शन हूँ यों सुधि सिराई हैं ॥
 करत उपाय ना सुभाय लखि नारिनि को
 भाय क्यों अनारिनि को भरत कन्हवाई हैं ।
 ह्याँ तो विषमज्वर-बियोग की चढ़ाई यह
 पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं ॥^४

यहाँ रस, सुदर्शन, नारिनि अनारिनि, पाती इत्यादि शब्द श्लिष्ट हैं । इन

१. उद्भवशतक, पृष्ठ १५६—१५७, छन्द-संख्या २९

२. काव्यकल्पद्रुम, पृष्ठ ३०३—३०४

३. "भूयसामेकसम्बन्धभाजां गुम्फः समुच्चयः ।"

जयदेव—चन्द्रालोक-पञ्चम मयूस-कारिका ९७

४. उद्भवशतक, पृष्ठ १५९, छन्द-संख्या ३५ ।

की सहायता से गोपियों का उपालम्भ अतीव चमत्कारपूर्ण हो गया है। उपमेय और उपमान के सादृश्य के साथ ही यहाँ दोनों की विभिन्नता भी नष्ट नहीं हुई है, अतः उपमेय पर उपमान का आरोप होने से रूपक भी उपेत है।

रत्नाकरजी के अनेक छन्दों में एक से अधिक अलङ्कार मिलते हैं। उनका शब्द-सम्प्रयोग ऐसा चमत्कारपूर्ण है कि एक ही छन्द में अनेक अलङ्कारों का समावेश हो जाने पर भी भाव-व्यञ्जना में कहीं व्याघात उपस्थित नहीं होता :—

चलत न चाह्यौ भाँति कोटिनि बिचार्यो तऊ
वाबि दाबि हार्यो पै न टार्यो टसकत है ।
परम गहीली वसुदेव-देवकी की मिली
चाह-चिमटी हूँ सौं न खँचौ खसकत है ॥,
कढ़त न क्यों हूँ हाय बिथके उपाय सबें
धीर-आक-छीर हूँ न धारें धसकत है ।
ऊँचौ ब्रज-बास के बिलासनि कौ ध्यान धर्यौ
निसि - दिन काँटे लौं करेजें कसकत है ॥'

इस कवित्त में प्रधान अलङ्कार साङ्गरूपक है। 'ब्रज-बास के बिलासनि कौ ध्यान' ही यहाँ काँटे के रूप में कसक रहा है जो धैर्य रूपी आक के दूध से पकाने पर भी फूट नहीं निकलता। वसुदेव और देवकी को परम ग्रहणशीला 'चाह-चिमटी' भी इसे निकालने में असमर्थ है। इस छन्द में अनुप्रास तो स्पष्ट ही है, परन्तु आक के दूध जैसे अमोघ कारण के होते हुए भी ध्यान रूपी काँटा नहीं निकल रहा है—यह भाव लेने से विशेषोक्ति भी है। ध्यान और काँटा इन दोनों पक्षों में दो अर्थ लिये जा सकते हैं, अतः यहाँ साङ्गरूपक श्लेषानुप्राणित है। 'दाबि दाबि' में पुनरुक्ति प्रकाश है। 'काँटे लौं' कहने से उमा भी विद्यमान है। ये सभी अलङ्कार नीर-क्षीर-न्याय से मिले हुए हैं, अतः संकर भी है; किन्तु एक ही छन्द में इतने अलङ्कार प्रयुक्त हो जाने पर भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि रत्नाकरजी ने सोच-सोच कर अलङ्कारों की समासक्ति की है। सभी अलङ्कार स्वभाविक ढंग से आकर कृष्ण की विह्वल मनोदशा को सकल अभिव्यक्ति में सहायक हुए हैं।

रत्नाकरजी की उत्प्रेक्षाएँ भी बड़ी आकर्षक हैं। इस अलङ्कार में कल्पना द्वारा उपमेय में बलपूर्वक उपमान की सम्भावना की जाती है। उत्प्रेक्षा में वक्ता को उपमेय और उपमान के पारस्परिक भेद का ज्ञान रहता है, परन्तु वह उपमेय में उपमान का

आहार्य आरोप कर लेता है अर्थात् उपमेय और उपमान में अभेद न होने पर भी उनमें अभेद की कल्पना कर लेता है। इस अलङ्कार के वस्तुत्प्रेक्षा, हेतुत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा, गम्योत्प्रेक्षा इत्यादि भेद होते हैं। रत्नाकरजी का निम्नोक्त कवित्त वस्तुत्प्रेक्षा का सुन्दर उदाहरण है —

आए अवधेस के कुमार सुकुमार चार ,
 मंजु मियिला की दिव्य देखन निकाई हैं ।
 सुनि रमनी-गन रसीली चहुँ ओरनि तें ,
 झौरनि की झौर दोरि दोरि उमगाई हैं ॥
 तिनके अनोखे-अनिमेष-दृग पाँतिनि पै ,
 उपमा तिहूँ पुर की ललकि लुभाई हैं ।
 उन्नत अटारिनि पै खिरकी - दुवारिनि पै ,
 मानौ कंज-पुंजनि की तोरन तनाई हैं ॥^१

जहाँ एक वस्तु की सम्भावना दूसरी वस्तु के रूप में की जाती है वहाँ वस्तु-त्प्रेक्षा होती है।^२ यहाँ देवांगनाओं की 'दृग-पाँति' में कमल की बंदनवारों की सम्भावना की गयी है, अतः वस्तुत्प्रेक्षा स्पष्ट है।

गम्योत्प्रेक्षा का उदाहरण यह है:—

बालपन बिसद बिताइ उदयाचल पै ,
 संबलित कलित कलानि ह्वं उमाहै है ।
 कहै रतनाकर बहुरि तम-तोम जीति ,
 उच्च-पद आसन लै सासन उछाहै है ॥
 पुनि पद सोऊ त्यागि तीसरे बिभाग माहि ,
 न्यून-तेज ह्वं कै सून पास में निबाहै है ॥
 जानि पन चौथो अब भेष कै भगौहौं भानु ,
 अस्ताचल थान में पयान कियो चाहै है ॥^३

यहाँ वृद्धार्क के अस्ताचल में जाने का कारण उसका चौथापन माना गया है, किन्तु सूर्य के अस्त होने का यह वास्तविक कारण नहीं है, अतः उत्प्रेक्षा अलङ्कार है; क्योंकि 'मनु' 'जनु' इत्यादि उत्प्रेक्षा वाचक शब्दों के बिना ही यह उत्प्रेक्षा की गयी

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३१६, छन्द-संख्या २

२. द्रष्टव्य काव्यकल्पद्रुम, पृष्ठ १३४

३. सन्ध्याष्टक, पृष्ठ ४८१, छन्द-संख्या १

है, इसलिए गम्योत्प्रेक्षा है।

रत्नाकरजी ने रस-परिपाटी के अनुसार शृंगार हास्य इत्यादि रसों के रङ्गों पर भी कुछ सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ की हैं। रङ्गों में वस्तुतः अपना-अपना विशिष्ट गुण और स्नायविक आकर्षण होता है। उनका निजी प्रभाव अपनी प्रकृति में इतना सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट होता है कि सङ्गीत के स्वरों की मसृणता के समान उनकी अनुभूति तो शक्य होती है, किन्तु अभिव्यक्ति नहीं। विभिन्न रङ्ग, अतीव सूक्ष्मता से उल्लास-विषाद, आशा-निराशा, सुख-दुख, हर्ष-शोक इत्यादि भावों को स्पन्दित करते हैं। नेत्रेन्द्रिय रङ्गों से जिन स्थूल संपर्शों को ग्रहण करती है, उनके अतिरिक्त भी रङ्गों का एक विशिष्ट अर्थ है। कतिपय अज्ञात कारणों से रङ्ग हमारी दुःख-सुखात्मक अनुभूतियों, भावनाओं स्मृतियों अथवा संवेदनों से एक रङ्ग हो गये हैं; यही कारण है कि एक ओर तो सङ्गीत के सप्त स्वरों को पृथक्-पृथक् रङ्गों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास हुआ, दूसरी ओर साहित्य में मनोभावों का सम्बन्ध रङ्गों के साथ जोड़ा गया। रस-पद्धति में अनुराग का रङ्ग लाल माना जाता है। इसीका अनुसरण करते हुए रत्नाकरजी कहते हैं :—

“इत-उत ललित लखाति चटक-रंग बीरबधूटी,
मनहु अमल अनुराग-राग की उपजों बूटी।”

हिंडोले पर बिछी हुई हरी गोट-युक्त लालमखमल की गद्दी को देखकर कवि उत्प्रेक्षा करता है :—

“मनहु अमल अनुराग-भूमि सोहति मुखवाई,
हरित आस की दूब चारु चहुँ पास लगाई”

यहाँ अनुराग का रङ्ग लाल तथा आशा का रङ्ग हरा प्रकट किया गया है। अस्ता-चलगामी सूर्य की सुनहरी किरणों से सम्पृक्त संध्या की सुषमा में भी कवि को अनुराग की यही लाली दृष्टिगोचर हुई है :—

“कहूँ साँझ की किरनि करति कछु कछु अनाई,
मनु सिंगार की रासि राग-रचि की रचिराई ॥^३

रत्नाकरजी की शृंगारिक उत्प्रेक्षाएँ भी बड़ी मनोरम हैं। इनके भी दो-एक उदाहरण देख लीजिए :—

१. हिंडोला, पृष्ठ २, छन्द-संख्या ३

२. वही, पृष्ठ ८, छन्द-संख्या ३१

३. वही, पृष्ठ ४ छन्द-संख्या १५

साजे हरित दुकूल फूल छाजे बनिता बहु ,
निज-निज नाहें अंक निसंक रहीं भरि मानहु ॥^१

जहँ तहँ सरवर, झील, ताल, सोहत जल-पूरित ,
सलिल सिमिट कहुँ लघु सरिता धारवति धरधूरित ।
अति मलीन दुति-हीन विरह-आधीन छीन-तन ,
मानहु खोजत फिरत जीवनाधार तिया - गन ॥^२

सुमन हिंडोरा लसत एक तेहि मंडल माहीं ,
जाकों बानक बिसद बिलोकि सुमन सकुचाहीं ।
सुख-सागर - तरंग - बीचछा - गुरु राजत मानौ ,
तरुनि तियनि की चल चितौनि कौ सार बखानौ ॥^३

उत्प्रेक्षा के सफल प्रयोगों से रत्नाकरजी को रूप, गुण और क्रिया तीनों ही की अभिव्यञ्जना में पूर्ण सफलता मिली है । 'गंगावतरण' की निम्नोक्त पंक्तियाँ इस कथन के प्रमाण स्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं :

कबहुँ बायु सौं बिचलि बंक-गति लहरति धावै ।
मनहुँ सेस सित-बेस गगन तै उतरत आवै ॥
कबहुँ फेन उफनाइ आइ जल-तल पर राजै ।
मनु मुकतनि की भीर छीर-निधि पर छबि छाजै ॥^४

प्रस्तुत-अप्रस्तुत में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होने के कारण उत्प्रेक्षाएँ यहाँ बड़ी सटीक हैं । इन पंक्तियों को पढ़कर गङ्गा के विस्मयजनक रूप की स्पष्ट अनुभूति होती है । चित्रकला की दृष्टि से कवि ने यहाँ केवल नीले और श्वेत इन दो रंजनों की सहायता से अपने शब्द-चित्र का निर्माण किया है । चित्र-फलक में अशेष नील गगन की पृष्ठभूमि है और इसी पर विराट शेष के समान गङ्गा के ऋजु-कुञ्चित प्रवाह को चित्रित किया गया है । शेषनाग की विशालता तथा गङ्गा की लम्बी धारा में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है । शेषनाग को 'सित बेस' में चित्रित करके कवि ने उसके रङ्ग का

१. हिंडोला, पृष्ठ २, छन्द-संख्या ५
२. वही, पृष्ठ ३, छन्द-संख्या ७
३. वही पृष्ठ, ६, छन्द-संख्या २१
४. गंगावतरण, पृष्ठ २५५, छन्द-संख्या ३१

गङ्गा के रङ्ग से साम्य भी स्थापित कर दिया है। गङ्गा के रूप और रङ्ग के साथ उसके लहराते हुए आने की क्रिया तो बड़ी ही विदग्धता से अङ्कित हुई है। अन्तिम दो पंक्तियों में गङ्गा के विस्तीर्ण 'जल-तल' पर उठन कर आये हुए फेन को देखकर वीचिमालिन् के वक्षस्थल पर शोभायमान मौवितक राशि की कल्पना भी बड़ी सुन्दर है।

अनेक स्थलों पर कवि ने अपने अनुपम शब्द-चातुर्य से, वर्णित विषय के आस पास की ध्वनि भी मुखरित कर दी है। अर्थ-ध्वनन के इस सङ्गीतात्मक कौशल के कारण वर्णित वस्तु की ध्वनि पाठकों को मानो स्पष्ट सुनायी देने लगती है। आकाश से गङ्गा के उतरते समय निखिल ब्रह्मांड में जो घोर ध्वनि व्याप्त हुई, उसका वर्णन करते हुए रत्नाकरजी कहते हैं :

निकसि कमंडल तें उमंडि नभ-मंडल-खंडति ।

धाई धार अपार बेग सौं वायु बिहंडति ॥

भयौ घोर अति सब्द धमक सौं त्रिभुवन तजें ।

महा मेघ मिलि मनहु एक संगहि सब गजें ॥^१

उत्प्रेक्षा के सम्प्रयोग से, यहाँ भी कवि को आश्चर्यजनक सफलता मिली है। आकाश मार्ग में घोर शब्द करते हुए गङ्गा के प्रबल वेग से प्रवाहित होने का जो वर्णन कवि ने प्रारम्भ किया है, वह अन्तिम पंक्ति में प्रयुक्त उत्प्रेक्षा के कारण साकार हो जाता है। ऊपर की पंक्तियों को पढ़ते-पढ़ते जिस समय दृष्टि 'महा मेघ मिलि मनहु एक संगहि सब गजें' इस पंक्ति पर जाती है, तब तो ऐसा प्रतीत होता है मानो गङ्गा की उस भीषण ध्वनि को हम प्रत्यक्ष अपने कानों से ही सुन रहे हों।

रत्नाकरजी की यह विशेषता अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध अलङ्कार (Onomatopoeia) "ऑनोमेटोपोइआ" का स्मरण करा देती है। इस अलङ्कार से ध्वन्यात्मक शब्दों की चमत्कारपूर्ण योजना द्वारा उद्भूत आन्तरिक सङ्गीत का वैभव, वर्णित वस्तु का प्रत्यक्षीकरण करा देता है। 'गङ्गावतरण' की निम्नलिखित पंक्तियों में भी अनुप्रास की छटा के साथ अर्थ-ध्वनन का मनोरम चमत्कार दर्शनीय है :—

छोभ-छलक ह्वै गई प्रेम की पुलक अंग में ।

यहरनि के डरि ढंग परे उछरति तरंग में ॥

भयौ बेग उठेग पेंग छाती पर धरकी ।

हरहरान धुनि बिघटि सुरट उघटी हर-हर की ॥^२

१. गंगावतरण, पृष्ठ २५२, छन्द-संख्या १६

२. वही, पृष्ठ २५६, छन्द-संख्या ३७

यहाँ हरहरान शब्द से यदि गङ्गा के तीव्र प्रवाह की ध्वनि साकार हो उठती है, तो हर हर जैसे शब्दों से उसके धीरे-धीरे प्रवाहित होने की ध्वनि भी कानों में गूँजने लगती है 'ऑनोमेटोपोइआ' के निर्वाह के लिए प्रायः रत्नाकरजी ने विभिन्न शब्दालङ्कारों, विशेषतः यमक वीप्सा और अनुप्रास के चमत्कार को अपनाया है। अनुप्रास कौशल से गृहीत होने के कारण 'ऑनोमेटोपोइआ' उनकी ब्रजभाषा की मार्मिक विशेषता में सहज ही घुल-मिल गया है। पर्वतों को गुञ्जायमान करती हुई घोर ध्वनि-प्रतिध्वनि के साथ प्रवाहित गङ्गा की परिभावना में भी आन्तरिक सङ्गीत का चमत्कार वर्णन को सजीव बनाने में अतीव सहायक हुआ है। अन्तिम पंक्ति में उत्प्रेक्षा भी सुन्दर है।

कहुँ कोउ गह्वर गुहा माँहि घहरति घुसि घूमति ।

प्रबल बेग सौँ धमिक धूसि दसहुँ दिसि दूमति ॥

कड़ति फोरि इक ओर घोर धुनि प्रतिधुनि पूरति ।

मानहु उड़ति सुरंग गूढ़ गिरि-सृंगनि चूरति ॥^१

यहाँ 'धमिक' 'धूसि' जैसे शब्दों से गङ्गा के प्रबल वेग से प्रवाहित होने की ध्वनि का उन्नमित प्रत्यक्षीकरण हुआ है। अन्तिम दो पंक्तियों में तो इस ध्वनि की प्रतिध्वनि भी कानों में गूँज उठती है।

रत्नाकरजी के अलङ्कार-कौशल के कतिपय अन्य प्रवचित उदाहरण ये हैं :—

लाटानुप्रास :— “ब्रज-जीवन-जीवन सो जीवन मोर ।

ब्रज जीवन जीवन सो जीवन मोर ॥”^२

अन्योक्ति :—

“आयसु वै टेरि बलि-पायस खवैएँ खिन ,

निज गुन रूप की हमायस बड़ावै ना ।

कहै रतनाकर त्यों बावरी बियोगिनि कै ,

कंचन मड़ाएँ चंचु चाव चित ल्यावै ना ॥

निज तन धारे इंद्र-नंद मतिमंद जानि ,

मानि दृग-हानि हियँ हौंस हुमसावै ना ॥

हंस कौं दिखावै ना नृसंस गति-गर्व छःक ,

ए रे काक कोकिल कौं काकली सुनावै ना ॥^३

१. गंगावतरण, पृष्ठ २६३, छन्द-संख्या २९

२. प्रकीर्णवद्यावली, बोहावली पृष्ठ ५९१, छन्द-संख्या १२

३. वही, पृष्ठ ५५४ (अन्योक्ति)

श्रान्तिनामः-- “विसद बहार बवार-राका निहारि कूल ,
भूलि गति जमुना-प्रवाह जकि ज्वै रह्यौ ।
कहै रतनाकर त्यों प्रकृति समाजनि की ,
सुखमा अमंद सौं अनंद-रस ज्वै रह्यौ ॥
चंद्र-बदनीनि-संग रास ब्रज-चंद रच्यौ ,
छबि के प्रकास सौं आकास लागि छवै रह्यौ ।
चेत चलिबे की षट मास लौं न आई इमि ,
एते चंद चाहि चंद चकपक ह्वै रह्यौ ॥”^१

सीत-भीत हिय में न भेद यह भान होत ,
भानु की प्रभा है कै प्रभा है सीतभानु की ॥^२

कहै रतनाकर तपाकर कौं चंद जानि ,
मानि सुख चकई-ब्रियोग-ताप म्वै रही ॥^३

कुमुद सरोज अध मुकुलित देखि परं ,
चाय-बोरी चहकि चकोरी चकराति है ।
चलि चलि चकई चपल दुहुँ ओर चाहि ,
चकित कराहि औ उमाहि रहि जाति है ॥^४

दोषक :-- धरि राखौ ज्ञान गुन गौरव गुमान गोइ
गोपिन कौं आवत न भावत भड़ंग है ।
कहै रतनाकर करत टारें-टारें ब्या
सुनत न कोऊ इहां यह मुहचंग है ।
और हूँ उपाय केतै सहज सुउंग ऊधौ
साँस रोकिबैं कौं कहा जोग ही कुउंग है ।

१. रत्नाष्टक, पृष्ठ ४६७, छन्द-संख्या ६

२. वही, पृष्ठ ४७३, छन्द-संख्या १

३. वही, पृष्ठ ४७४, छन्द-संख्या ५

४. वही, पृष्ठ ४८३, छन्द-संख्या ५

कुटिल कटारी है अटारी है उत्तंग अति
जमुना-तरंग है तिहारौ सतसंग है ॥^१

लोकोक्ति अलङ्कार :--

“दिपत दिवाकर कौ दीपक दिखावै कहा
तुमसन जान कहा जानि कहिबौ करें ॥”^२

हम परतच्छ में प्रमान अनुमानें नहि
तुम भ्रम-भौर में भलें हों बहिबौ करौ ।
कहै रतनाकर गुब्बिद-ध्यान धारें हम
तुम मनमानौ ससा-सिंग गहिबौ करौ ॥
देखति सो मानति हैं सूधौ न्याव जानति हैं
ऊधौ ! तुम देखि हूँ अदेख रहिबौ करौ ।
लखि ब्रज-भूप-रूप अलख अरूप ब्रह्म
हम न कहेंगी तुम लाख कहिबौ करौ ॥^३

हाय तात यह भयो घात बिन बात तिहारौ
होम करत कर जर्यो पर्यो बिधि बाम हमारौ ॥
आए बाजी लेन बेचि बाजी इमि सोवत ।
उठत क्यों न पितु लखत बाट उत इत सिसु रोवत ॥^४

देव वनुज थहरात देखि बल तात तिहारौ ।
कहा बापुरी चपल चोर आधे-जियवारौ ॥^५

भीषम कौ प्रेरौ कर्तहूँ की मुख हैरौ हाय ,
सकल सभा की और दीन दृग फेरौ में ।

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १७२, छन्द-संख्या ६८

२. वही, पृष्ठ १५२, छन्द-संख्या १७

३. वही, पृष्ठ संख्या १६३ छन्द-संख्या ४५

४. गंगावतरण, पृष्ठ २१४, छन्द-संख्या १६

५. वही, पृष्ठ २०४, छन्द-संख्या ८

कहै रतनाकर त्यों अंधहूँ के आगें रोइ ,
खोह दोठि चाहति अनीठहूँ निबंरों में ॥^१

प्रतीपः—

अँजन बिनाहूँ मन-रंजन निहारि इन्हें ,
गंजन हूँ खंजन गुमान लटे जात हैं ।
कहै रतनाकर बिलोकि इनकी त्यों नोक ,
पंववान बाननि के पानी घटे जात हैं ॥
स्वच्छ सुखमा की समता की हम तासों लिखे ,
बिबिध सरोजनि सों होज पटे जात हैं ।
रंग है री रंग तेरे नैननि सुरंग देखि ,
भूलि भूलि चौकड़ी कुरंग करे जात हैं ॥^२

अप्रस्तुत प्रशंसा :—

परसत नीर तीर बंजुल निकुंज कहूँ ,
और फल-फूल की न सूल उर ल्यावें हैं ।
कहै रतनाकर पसारे कर गंग ओर ,
सुरपुर-पंथ कहूँ तह बिखरावें हैं ॥
मृग कलहंस बली बरद मयूर सबे ,
पाइ जल ग्रीवहि उचाइ मटकावें हैं ।
चंद, चतुरानन, पंचानन, षडानन के ,
याननि के हेरि हंसि आनन बिरावें हैं ॥^३

परिकराङ्कुर :—

कंस के कहे सौ जदुबंस को बताइ उन्हें ,
तंस हीं प्रसंसि कुबजा पे ललचायो जो ।
कहै रतनाकर न मुष्टिक चनूर आदि ,
मल्लिनी को ध्यान आनि हिय कसकायो जो ॥

१. श्री द्रौपदी अष्टक, पृष्ठ ४४६, छन्द-संख्या ४

अभिधेय-अर्थ के साथ ही यहाँ लाक्षणिक अर्थ भी बड़ा कलात्मक है ।

२. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३२३, छन्द-संख्या २२

३. श्री गंगाविष्णुलहरी, पृष्ठ ३८२, छन्द-संख्या १३

नंद जसुबा की सुखमूरि करि धूरि सब
गोपी ग्वाल गैयनि पै गाज लै गिरायौ जौ
होते कहूँ क्रूर तौ न जानै करते धौँ कहा
एतौ क्रूर करम अक्रूर ह्वै कमायौ जौ ॥^१

असंगित :--

नीर कौ प्रबाह कान्ह-नैननि कं तीर बह्यौ
धीर बह्यौ ऊधौ-उर-अचल-रसाने तं ॥^२

लागत जो कंटक तिहारे पाय प्यारे हाय ,
आइ पहिलें सो हिय बेधत हमारे हैं ॥^३

बिरोध :--

संतत पिय प्यारे बसंत मो हिय दर्पन माहि ।
धंसत जात त्यों-त्यों सखी ज्यों हीं ज्यों बिलगाहि ॥^४

मेरी जान सोई महा चतुर सुजान जाकी ,
सुमति तिहारें गुन-गननि ठगी रहै ।
कहै रतनाकर सुधाकर सौं उज्ज्वल सो ,
जामें सुभ स्यामता तिहारी उमगी रहै ॥
तिहि मन-मन्दिर पतंग दुरभाव नाहि ,
जामें तव ज्योति की जगाजग जगी रहै ।
मगन न होत सो अपार भवसागर में ,
तव गहता की जाहि लगन लगी रहै ॥^५

फेरें तब सेतता सियाही लेख जातक कं ,
स्नातक कं अंग राग-रंग ह्वै जगति है ।

१. उद्धवशातरु, पृष्ठ १७७, छन्द-संख्या ८०

२. वही, पृष्ठ १५०, छन्द-संख्या १३

३. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३६४, छन्द-संख्या १३७

४. प्रकीर्ण पद्यावली, पृष्ठ ५९१, छन्द-संख्या १६

५. गंगाविष्णुलहरी, पृष्ठ ४११, छन्द-संख्या ३१

कहै रत्नाकर तिहारी मधुराई कलि—
 बाँतनि की पाँतिनि खड़ाई ह्वै लगति है ॥
 सीतल सुखारौ जन-हीतल सदाई करे ,
 रावरे प्रताप की अमार गूड़ गति है ।
 सीत सौँ तिहारें ताप-भीत जम-बूत रहें ,
 आप सौँ अनोखी आगि पाप में लगति है ॥^१

रत्नाकरजी के अलङ्कार-सौष्ठव के इस विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि उनके अलङ्कार कभी तो भावों का साकार चित्र उपस्थित कर देते हैं और कभी वर्णित वस्तु के रूप, गुण तथा क्रिया की तीव्र अभिव्यञ्जना में सहायक होते हैं। इन अलङ्कारों के बीच में ही उन्होंने कहीं मुहावरों के प्रयोग से, तो कहीं लोकोक्तियों अथवा लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा अपनी कविता में सहज आत्मीयता भर दी है। इस कौशल से उनकी कविता-कामिनी कुछ अधिक अलङ्कारों को धारण करके भी अलङ्कारभाराक्रान्त प्रतीत नहीं होती। कहीं-कहीं तो कवि ने स्वाभाविकता को ही अलङ्कार के साँचे में ढाल दिया है। सौ बात की एक बात तो यह है कि उनकी कोई बात करामात से खाली होती ही न थी। वस्तुतः अर्थों का निर्माण करने वाली कवि-भाषा अलङ्कारों के सुष्ठु प्रयोग से ही अर्थों के शरीर की रचना करती है। रस-समृद्ध रचना का बाह्य सौन्दर्य बहुतांश में अलङ्कारों पर ही आधृत रहता है। इसी कारण ध्वन्यालोककार ने रस से आक्षिप्त अत्यन्त अलङ्कार-रचना को सर्वथा श्लाघ्य माना है। 'अपृथग्यत्न-निर्वर्त्यत्व' से युक्त होकर अलङ्कार रस का अङ्ग ही बन जाते हैं।^२

मध्यकालीन कवियों से प्रभावित होने के कारण रत्नाकरजी की प्रवृत्ति अलङ्कारोन्मुख अवश्य हो गयी थी, परन्तु उन्होंने क्लिष्ट कल्पनाओं अथवा अतिशय ऊहात्मक भावनाओं को अपनी रचनाओं में प्रायः नहीं आने दिया है। सम्भवतः अपने युग के वे सबसे अधिक अलङ्कारोन्मुख कवि हैं। परिश्रमपूर्वक खोजने पर भी शायद ही उनका कोई छन्द ऐसा मिले जो अलङ्कार शून्य हो। परन्तु मनोवृत्ति अलङ्कारोन्मुख होते हुए भी औचित्य का उन्हें सदैव ध्यान रहा है। कविता शब्द-निष्ठ अवश्य है, किन्तु शब्द मात्र नादात्मक नहीं होते, स्पष्ट रूप से बोलते भी हैं

१. गंगाविष्णुलहरी पृष्ठ ३९२ छन्द-संख्या ३७

२. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।

अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥

ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत, कारिका १६

और इस बोलने का एक निश्चित अर्थ होता है। वस्तु के अभिधेयार्थ को प्रकट करके ही वे चुप नहीं हो जाते, अपितु परिदृश्यमान जगत से गृहीत संस्पर्शों द्वारा उद्बुद्ध अनुभूति की आत्मा का बहुत दूर तक ध्वनन भी करते हैं। इस ध्वनि की कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती। [कवि यदि शब्द की वेदी पर अर्थ की आवेग-कान्ति का बलिदान कर देता है तो निश्चय ही वह कविता के प्राणवान तत्त्व को खो बैठता है। रत्नाकरजी यह नहीं भूले हैं कि अलङ्कार कविता-कामिनी के लिए होते हैं, कविता-कामिनी अलङ्कारों के लिए नहीं होती। उनके अलङ्कार यदि एक ओर चमत्कार की सृष्टि करते हैं, तो दूसरी ओर गोचर विधानों के निर्माण द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की सफल अभिव्यञ्जना भी करते हैं। उनकी अधिकारपूर्ण लेखनी जिस अलङ्कार का निरूपण करती थी, उसी में मानो नवजीवन-सञ्चार कर देती थी]। उनके प्रयुक्त अधिकांश अलङ्कार वे ही हैं जिनमें कतिपय रीतिकालीन कवियों ने शब्द-प्रपञ्च के बाह्यावरण द्वारा अनेक स्थलों पर अनगढ़ और अस्वाभाविक चित्र उतारे हैं, परन्तु इन्हीं अलङ्कारों में रत्नाकरजी ने नवनवोन्मेषशालिनी कल्पनाओं द्वारा जो आकर्षण, मार्दव और स्वाभाविकता भर दी है, उसे देखकर यही कहना पड़ता है कि महाकवि रत्नाकर अपनी कला में अनुपम थे—अद्वितीय थे।

छन्द-संघटन

हृदय जब तीव्र रागात्मक अनुभूति से उद्वेलित होता है, तब भावनाओं की अभिव्यक्ति स्वभावतः लयात्मक हुआ करती है। ऐसी मनःस्थिति में प्रायः गुणगुनाकर हम अपनी हृद्गतभावनाओं को प्रकट करते हैं। भाव-तारल्य के सञ्चरण के लिए लय एक सहज स्वाभाविक प्रवाह है। वैज्ञानिक और दार्शनिक इस तथ्य के अन्वय-व्यतिरेक में सफल हों या न हों, किन्तु है यह सर्वानुभूत शाश्वत नैसर्गिक विधान। कवि भी अपने भावुक मन में समुद्भासित अन्तर्वासना को गुणगुनाता रहता है। उसकी रङ्गीन कल्पनाओं में घुमड़ने वाला यही भाव-समुत्थ स्फुरण कालान्तर में रूप-आकार अथवा निश्चित शब्दार्थ से गर्भित होकर कविता-रूप में फूट पड़ता है, फलतः कविता में लय का प्रवाह स्वतः आ जाता है। यह लय चाहे सङ्गीत-ऐश्वर्य-सम्पन्न छन्दोबद्ध-कविता की लय हो, चाहे स्वच्छन्द छन्द की उन्मुक्त लय, किन्तु कविता में वह किसी-न किसी रूप में विद्यमान अवश्य रहती है, अतः असन्दिग्ध रूप से कविता वाणी का गेय विषय है।

साङ्गीतिक-प्रवाह से ओतप्रोत रमणीय छन्द-संघटन की क्षमता अभ्यास से ही उत्पन्न होती है। प्रतिभा के बल से कवि-हृदय में उदात्त भाव तो उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु भावों को छन्दों की रमणीयता के साथ व्यक्त करने की क्षमता सतत-प्रयत्न-सापेक्ष है, अतः कवि के लिए प्रतिभा के अतिरिक्त शिक्षा तथा अभ्यास की भी अनिवार्य आवश्यकता है। रत्नाकरजी ने बड़े परिश्रम से इस रचना-चातुरी का सम्पादन किया था।

रत्नाकरजी की छन्द-योजना पर विचार करने के पूर्व, पद्यमय काव्य पर उनके दृष्टिकोण को समझ लेना आवश्यक है। सन् १९२२ में उन्होंने कहा था :—

“काव्य दो प्रकार का होता है। गद्यमय और पद्यमय। प्रसाद गुण तो दोनों ही के लिए आवश्यक है, पर पद्यमय काव्य के निमित्त छंदों का शिल्प तथा सुशृंखल होना परम वांछनीय है। गद्य की अपेक्षा पद्य सहज ही अधिक रोचक तथा आकर्षक होता है। इसी कारण यद्यपि काव्य गद्य तथा पद्य दोनों ही में माना जाता है, तथापि संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी इत्यादि सभी भाषाओं में काव्य अधिकतर पद्य में ही लिखे गए और लिखे जाते हैं। इस बात की इतनी विशेषता है कि काव्य शब्द के प्रयोग ही से एकाएक ध्यान पद्य काव्य पर ही जाता है अर्थात् काव्य शब्द एक प्रकार से पद्य काव्य के लिए रूढ़ि सा हो गया है। इसका मुख्य कारण यही है कि छन्द की लय का जो एक अपना आनन्द है वह काव्यानन्द में मिलकर उसको अधिक बढ़ा देता है। लय की रमणीयता

कुछ ऐसी व्यापक बात है कि वे पक्षिगण भी, जिनका गाना सुखद माना जाता है, बंधी हुई लय ही में अपना हृदयोद्गार निकालते हैं। मेरी समझ में छन्दोबद्ध कविता के निमित्त छन्दों का सुशृङ्खल, सुढाल तथा नियम संयुक्त एवं विषयानुकूल होना परम आवश्यक है।”

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि रत्नाकरजी छन्दों के सम्बन्ध में अधोलिखित तीन बातें आवश्यक मानते थे :—

१. छन्दों को नियम-संयुक्त होना चाहिए।
२. उनका चुनाव विषयानुकूल होना चाहिए।
३. छन्दों में लय की रमणीयता होनी चाहिए।

इस विषय पर वस्तुतः विचार भी इन्हीं दृष्टियों से किया जा सकता है। इन्हीं तीन बातों पर छन्दों की रचना-चातुरी निर्भर है। यह ठीक है कि काव्य गद्यमय भी होता है और पद्यमय भी, परन्तु कविता का सच्चा आनन्द उसके छन्दोबद्ध होने में ही है। कविता और सङ्गीत का सम्बन्ध इतना गहरा है कि इसकी उपेक्षा करने से कविता या फिर सङ्गीत से प्राप्त होने वाले आनन्द में थोड़ी-बहुत कमी अवश्य आ जाती है। कविता के सङ्गीत की समीक्षा वस्तुतः सङ्गीत के सङ्गीत की अनुसन्धित्सा है। जिस प्रकार उत्तम कविता से समवेत होकर कुशल सङ्गीतज्ञ का राग खिल उठता है, उसी प्रकार छन्दों के व्याज से सङ्गीत की गति, लय अथवा प्रवाह से निवेशित होकर कविता आभिचारिक हो जाती है। इस दृष्टि से सङ्गीत और कविता का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। वस्तुतः इसी तत्त्व पर छन्दशास्त्र का निर्माण हुआ है।

कविता बहुतांश में कवि के भाव-सिक्त तरल शब्दों का सङ्गीत की लय—छन्द—में मादक प्रवाह है। मानव की शरीरगत सहज लयात्मक चेतना का प्रमाण नियन्त्रित रक्त-परिभ्रमण, श्वास-क्रिया, इत्यादि हैं। इस नैसर्गिक विशेषता का बहिर्जगत की किसी भी वस्तु से तादात्म्य निश्चयात्मक रूप से सहज आनन्द का उद्रेक करता है। कविता के सम्मोहन—उसके जादू—की जो बात प्रायः कही जाती है, शरीर-विज्ञान की दृष्टि से उसका यही रहस्य है। लयात्मक या छन्दात्मक निर्बन्ध से युक्त स्वप्न-द्रष्टा कवि की अभिव्यक्ति चुने हुए कर्णप्रिय शब्दों के माधुर्य से ओत-प्रोत होकर एक विशिष्ट सुकुमार प्रभाव की सर्जना करती है। सङ्गीतात्मक प्रवाह से अनुस्यूत शब्दों की स्वर-

१. देखिए बीसवें अखिल भारतवर्षीय-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति का भाषण पृष्ठ २९, ३०।

लहरी स्पष्टतः यह भान करा देती है कि कला का मनोरम जगत हमारे ही अन्तस् में कहीं विद्यमान है। लय और स्वर के अभिसार में एक गत्यात्मकता है और वयों के सभी क्रियाएँ गति-शील होती हैं, अतः वाणी के आरोहावरोह में लय के साथ धिरकता हुआ हमारा मन भी कविता के अन्तर्तत्त्व को सहज ही स्पर्श करता हुआ कवि के जीवन्त सावयवी स्वप्नों से अक्षुण्ण सम्बन्ध स्थापित कर, छन्द-प्रवाह से अभिन्न होकर बहने लगता है, फलतः कविता का स्पन्दन हमारे हृदय की धड़कन बन जाता है। कवि के उद्देश्य की सिद्धि में अर्थ-समृद्ध शब्दों का आह्वान भी कम सहायक नहीं है, किन्तु शब्द-चयन स्मरणीय और अतीव कौशलयुक्त होने पर भी कविता के गेयत्व—उसके लयात्मक-प्रवाह—में यदि व्यवधान उपस्थित होता है, तो कविता का अव्याकृत सम्प्रयोग उपसर्जित हो जाता है। लय के प्रतिसारण का तो प्रश्न ही क्या, स्वच्छन्द छन्दों में भी उसका सयत्नज विशिष्ट प्रतिष्ठान एकान्ततः अपरिहार्य होता है। इसी सङ्गीतात्मक प्रवाह को नियमित और नियन्त्रित रखने के लिए छन्दों को नियमबद्ध किया जाता है। छन्द-प्रस्तार का यही रहस्य है। यहाँ यह आक्षेप भी किया जा सकता है कि छन्दों के नियमों के कारण भावाभिव्यक्ति में प्रत्यवरोधन होता है, अतः भावाभिव्यञ्जना के लिए छन्द-बन्धन उचित नहीं है। सच पूछिए तो इस मत के कवियों में छन्द-संघटन की शक्ति ही नहीं होती। प्रायः अपनी असमर्थता छिपाने के लिए ही वे पद्यमय काव्य के लिए छन्द-बन्धन को अनुचित बताया करते हैं। छन्दों के नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करते हुए भी भाव का अभाव न होने देना कोई सरल कार्य नहीं है। अभ्यासशील कवि ही इस कार्य में सफल होते हैं।

छन्दों में विद्यमान गति अथवा लय के प्रवाह को अक्षरों के क्रम या मात्राओं की संख्या से नियन्त्रित किया जाता है। भावों के इस सुनियन्त्रित सङ्गीतात्मक प्रवाह से कविता में चम्बक जैसा प्रबल आकर्षण उत्पन्न हो जाता है।^१ जिस प्रकार एक कुशल सङ्गीतज्ञ अपने राग के अनुकूल ताल का प्रयोग करता है, उसी प्रकार एक कुशल कवि अपने काव्य में रसानुकूल छन्दों का चयन करता है। यों तो रत्नाकरजी ने सभी रसों पर सुन्दर कविताएँ लिखी हैं, परन्तु प्रधानतः वे शृंगार एवं वीर रस के ही

1. "And first from the origin of metre. This I would trace to the balance in the mind effected by that spontaneous effort which strives to hold in check the working of passion."

Biographia Literaria-Coleridge—Page 196 (Edition 1939)

कवि हैं। इन दोनों रसों के निरूपण में कवित्त छन्द बड़ा उपयोगी होता है; इसीलिए रत्नाकरजी ने 'उद्धवशतक', 'शृंगारलहरी' और 'वीराष्टको' में अधिकतर इसी का प्रयोग किया है। यह छन्द प्रायः सभी मध्यकालीन कवियों को प्रिय रहा है। अक्षरों की संख्या में परिवर्तन कर देने से कवित्त के कई भेद हो जाते हैं। इस छन्द में, प्रयुक्त शब्दों के वर्णों तथा उन वर्णों के लघु-गुरु-क्रम पर छन्द की सङ्गीतात्मक-लय निर्भर रहती है। इस विशेषता के कारण यह छन्द विभिन्न रूप धारण करके सामान्यतः सभी रसों के अनुकूल बन जाता है। यह भी एक कारण है जिससे प्रायः सभी प्राचीन कवियों ने इस छन्द का इतना अधिक उपयोग किया है। मध्यकालीन कवियों का अधिक अध्ययन करने से रत्नाकरजी भी इस छन्द में सिद्ध-हस्त हो गये थे। शृंगारपरक कविताओं के लिए सदैवा भी बड़ा उपयोगी होता है, अतः रत्नाकरजी ने भी इसका प्रयोग प्रायः शृङ्गाररसात्मक कविताओं में ही किया है।^१

रत्नाकरजी ने मुक्तक भी लिखे तथा प्रबन्ध काव्य भी। मुक्तक रचनाओं में जैसे आग्रह से उन्होंने कवित्त और सदैवा अपनाया, वैसी ही रुचि से प्रबन्ध वाक्यों में रोला ग्रहण किया। 'हरिश्चन्द्र', 'कलकाशी', 'गंगावतरण', 'हिंडोला' सभी में उन्होंने जी भर कर रोला प्रयुक्त किया है। 'समालोचनादर्श' में भी उन्होंने इसी का चयन किया है। जैसी सफलता से रत्नाकरजी ने इस छन्द का साधिष्ठ निर्वाह किया है, वैसी सफलता से उनके युग का अन्य कोई कवि नहीं कर सका। इस छन्द के माध्यम से उन्होंने प्रायः सभी रसों का निरामय निरूपण किया है।

इन तीन छन्दों के अतिरिक्त उनका चौथा प्रिय छन्द दोहा है। 'प्रकीर्ण-पद्यावली' में 'दोहावली' शीर्षक से उनके जो दोहे संगृहीत हैं, वे विहारी के दोहों से टक्कर लेते हैं। इन चारों छन्दों पर रत्नाकरजी के असाधारण अधिकार का पता उन लेखों से भी चलता है जो उन्होंने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर लिखे थे। 'साहित्य-सुधानिधि' में 'दोहा-नियम-रत्नाकर' शीर्षक से उन्होंने जो लेख प्रकाशित किया था, उसके कुछ अंशों को सर जॉर्ज प्रियर्सन जैसे उद्भट विद्वान् ने 'लाल-चन्द्रिका' में बड़े आदर से उद्धृत किया था। 'धनाक्षरी' नियम-रत्नाकर' के पढ़ने से कवित्त छन्द पर

1. "First, that, as the elements of metre owe their existence to a state of increased excitement, so the metre itself should be accompanied by the natural language of excitement."

Biographia Literaria—Coleridge—Page 196 (Edition 1939)

उनके विद्वत्तापूर्ण अधिकार का पता चलता है। घनाक्षरी के विषय में उन्होंने अपने अनुभव से निम्नोक्त पाँच नियम बनाये थे :—

प्रथम नियम

चरण आदि औ चार पर
धरौ शब्द सो नाहि
त, ज, जाके आरम्भ में,
म, य, हू मध्यम आहि ॥^१

प्रथम नियम का प्रतिप्रसव

चार वर्ण कौ शब्द इक
तहं यह नियम न जानि
पै केवल गुरु अन्त में
मध्यम गति मन मानि ॥^२

दूसरा नियम

पाँच वर्ण पर शब्द जो
पूरन तामें आनि
लघु गुरु दीर्ज अन्त में
गुरु गुरु मध्यम मानि ॥^३

तीसरा नियम

पाँच वर्ण पर शब्द जो
एक वर्ण कौ नाहि
तौ लघु सौ आरम्भये
करि विचार मन माहि ॥^४

१. घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर, पृष्ठ १६

२. वही, पृष्ठ १९

३. वही, पृष्ठ २२

४. वही, पृष्ठ २४

चौथा नियम

दोय वर्ण पश्चात् जो
एरे शब्द कोड आनि
ज, त, म, य, ताके आदि में
मध्यम गति जिय जानि ॥^१

पांचवां नियम

तीन वर्ण पर शब्द जो
ताके लघु-गुरु आदि ।^२

पांचवें नियम का प्रतिप्रसव

होत नगण कौ शब्द तो
जात नहीं सो बादि ।^३

घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर में कवित्त का अतीव प्रगल्भ विवेचन है। यह पुस्तक उनके युग में ही अनेक कवियों के लिए पथ-निर्देशिका बन गयी थी। बाबू रामकृष्ण वर्मा ने इसीलिए इसे काशी-कवि-समाज के सदस्यों में वितरित करवाया था। इन्हीं नियमों के अनुसार रत्नाकरजी ने 'उद्धवशतक' की रचना की थी।

वर्णसवैया छन्द पर भी उन्होंने एक पाण्डित्यपूर्ण लेख लिखा था। यह लेख सरस्वती मार्च १९०२ भाग ३ संख्या ३ में प्रकाशित हुआ था। काशी के साहित्य-विद्यालय ने एक बार नागरी प्रचारिणी सभा काशी से पूछा था कि रोला में ग्यारह मात्राओं पर विरति होनी चाहिए अथवा नहीं। सभा ने इस शङ्का के समाधान के लिए रत्नाकरजी को ही चुना। इस सम्बन्ध में उपर्युक्त विद्यालय से जो पत्र प्राप्त हुआ था, उसे सभा ने रत्नाकरजी के पास भेज दिया था। रत्नाकरजी ने रोला की निर्भ्रम विवेचना के साथ जो उत्तर भेजा, उसे सभा ने सर्वसाधारण की जानकारी के लिए नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित करा दिया था।^४

१. घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर, पृष्ठ २६

२. वही, पृष्ठ २८

३. वही, पृष्ठ ३०

४. देखिए नागरी प्रचारिणी पत्रिका पांचवां भाग, संवत् १९८१, पृष्ठ ७५-८१

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि रत्नाकरजी सफल कवि ही नहीं श्रेष्ठ छन्द-शास्त्री भी थे। इन छन्दों के अतिरिक्त उन्होंने छप्पय, उल्लाला, बरवँ इत्यादि में भी कुछ कविताएँ लिखी हैं, परन्तु उनके प्रिय छन्द वे ही हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

रत्नाकरजी की कविता में छन्दोभङ्ग दोष क्वचित् ही दिखायी देता है। यद्यपि उन्होंने डेढ़ सहस्र से भी अधिक पद्य लिखे हैं, किन्तु इतनी बड़ी संख्या में कुछ ही पद्य ऐसे हैं जिनमें छन्दोभङ्ग दोष है। उदाहरणार्थ निम्नोक्त स्थल देखिए:—

“इक टुक कपड़े पर, तेहिं जनि आज छड़ाऔ ॥”

हरिश्चन्द्र, पृष्ठ १०८, छन्द-संख्या ८५, पंक्ति २

“हाट-बाट के ठाट लखि दोउ बालक जो हैं।”

कलकाशी, पृष्ठ ११५, छन्द-संख्या १, पंक्ति ३

“चाहति रूप कौ लाहु लहै पै सहें सुख संपति नित हानी”

प्रकीर्ण पद्यावली, पृष्ठ ५६७, छन्द-संख्या ३६, पंक्ति २

रत्नाकरजी के छन्दों में ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं। केवल कहीं-कहीं प्रमादवश सामान्य त्रुटियाँ रह गयी हैं। उनका छन्द-संघटन तथा उसमें सन्निहित सङ्गीत इतना मोहरा है कि वे केवल इसी क्षमता के बल से श्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में प्रतिष्ठित पद पर अभिषिक्त हो सकते हैं।

भाषा-शैली

काव्य-कला में शब्द-कला का महत्व अंतर्गर्भ है। शब्द-चयन, गुम्फन, सुव्यवस्था, संज्ञीतात्मक प्रवाह इत्यादि की उभे की तो बात ही क्या है, प्रतिभा सम्पन्न कवि भी संप्रयास इन विशेषताओं के अधिकाधिक सम्पादन में प्रयत्नशील रहते हैं। न तो कवि, और न उसके पाठक या श्रोता एक क्षण के लिए यह विस्मृत कर पाते हैं कि काव्य-स्रष्टा और प्रमाता के बीच में भाव-विनिमय का एकमात्र साधन भाषा है और वह भाषा शब्दों से निर्मित, अपनी प्रकृति में स्वतःनिरपेक्ष तथा शब्द-भण्डार और प्रयोग-वैचित्र्य की दृष्टि से एकान्ततः विशिष्ट है, अतः कवि अपने रस-सिद्ध भावोद्गारों को चुन-चुन कर ऐसे शब्दों में अभिव्यक्त करता है, जो सामाजिक के हृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म तारों को झङ्कृत करने की अमोघ क्षमता रखते हैं। शब्द-कला की यही समृद्धि किसी भाषा का वचस्व बनकर प्रद्युतित होती है। शब्दों के ऐसे ही तारतम्य और माधुर्यऐश्वर्य ने ब्रज-भाषा को कभी हिन्दी की एकमात्र काव्य-भाषा के गौरवपूर्ण पद पर आसीन कर दिया था। इसी ब्रज-भाषा के अन्तिम श्रेष्ठ कलाकार रत्नाकरजी थे।

रत्नाकरजी की भाषा प्रेषणीय-शब्द-संघटन से युक्त और यथोचित रूप से अलङ्कृत है। अपनी रचनाओं में उन्होंने भाव तथा भाषा दोनों ही के सौन्दर्य की पूर्ण रक्षा की है, इसीलिए उनकी कविता का शरीर भी सुन्दर है और आत्मा भी। काव्य में अलौकिक आनन्द उत्पन्न करने के लिए वे उत्कृष्ट भावों के साथ उनके प्रकाशन की रीति में रमणीयता का समावेश भी अनिवार्य मानते थे। बीसवें अखिल-भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति-पद से भाषण देते हुए उन्होंने कहा था :—

“काव्य के विषय में यह निर्विवाद मत है कि वह एक ऐसा वाक्य है जिसके सुनने अथवा पढ़ने से सहृदय को एक अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो। उसमें रमणीयता के मुख्य दो कारण होते हैं। एक तो किसी ऐसे विषय या भाव का वर्णन होना जो स्वभावतः ही मनुष्य जाति को अलौकिक आनन्दप्रद है, दूसरे किसी विषय या भाव के व्यक्त करने का कुछ ऐसा ढंग जिससे सुनने वाले का चित्त प्रसन्न हो जाय। जिस काव्य में ये दोनों बातें हों वह परम श्रेष्ठ है, पर जिसमें इन दोनों में से एक भी न हो उसे तो काव्य कहना ही व्यर्थ है” ।^१

पण्डितराज जगन्नाथ से प्रभावित कविवर जगन्नाथदास के ये विचार निभ्रान्ति रूप से इस तथ्य के प्रत्यायक हैं कि वे काव्य-वस्तु और अभिव्यञ्जना—दोनों के महत्व को स्पष्टतः स्वीकार करते थे। उनके लिए उक्ति-वैचित्र्य, अथवा अभिव्यञ्जना-कौशल वरेण्य था, और वे यह भी अच्छी तरह जानते थे कि काव्य-वस्तु के परित्याग से अभिव्यञ्जना की आधार-शिला ही विचलित हो जाती है। काव्य-वस्तु से संस्पर्श ग्रहण करके कवि उनका भावन करता है, अतः काव्य-वस्तु की अनिवार्यता स्वतःसिद्ध है किन्तु कलात्मक अभिव्यञ्जना सहजानुभूति को प्रेषणीय और सम्बर्धनीय बनाती है, अतः उसकी उपेक्षा भी सर्वथा अकल्पनीय है। काव्य-वस्तु की दृष्टि से देखा जाय तो कवि जीवन-मरण, उल्लास-विषाद, आशा-निराशा, यौवन-सौन्दर्य इत्यादि के ही तो गीत गाता है, किन्तु अभिव्यञ्जना-कौशल के बिना उसकी अभिव्यक्ति शाश्वत आवेग-कान्ति से कहाँ दीप्त हो पाती है? न जाने कितने नर-नारियों का मन विरह-मिलन की आँख-मिचौली खेलता रहता है। उनका हृदय-सागर अपने प्रिय के लिये शत-सहस्र भावोर्मियों से आलोड़ित रहता है, किन्तु अनुभूति उनकी मूक ही रहती है। इसी प्रेमावेश को अभिव्यञ्जना-कला द्वारा रस की दीप्तिमयी अवस्थिति तक पहुँचाने के लिए किसी घनानन्द की, वात्सल्य को रस दशा तक पहुँचाने के लिए किसी सूर की, अथवा माधुर्य को अमरत्व प्रदान करने के लिए किसी मीरा की अनिवार्य आवश्यकता होती है और ऐसे कलाकारों की कृतियों द्वारा ही सामान्य जन ठीक-ठीक यह समझ पाते हैं कि उनके हृदय का मन्थन करने वाले मूक-प्रेम, विरह, वात्सल्य, भक्ति प्रभृति का सच्चा स्वरूप क्या है? प्लेटो ने ठीक ही कहा था कि बिना सोचे समझे तो कवि एक शब्द का भी प्रयोग नहीं करता।^१ शब्द-कला में ही उसका

१. (क) द्रष्टव्य J. D. Denniston—Greek Literary Criticism Edition 1924 Pages 42.

(ख) “Essential to all art, in the first place, was said to be the need for taking thought. This it was that distinguished an art like medicine from a sham art like cookery, the later being described as the outcome of mere experiment or rule of thumb. No true artist, added Plato, whether painter, or builder, or poet, selected or applied his material at random; his effort was always directed towards giving definite and effective form to

व्यक्तित्व झटकता है—वैशिष्ट्य निहित रहता है। राम कथा तो वात्सीकि ने भी गायी है, और भवभूति तथा तुलसी ने भी; किन्तु क्या तीनों ही की कला में वैयक्तिक कलात्मक वैशिष्ट्य ही नूतन चमत्कार-उर्जना से हमें चकित नहीं करता ?

रत्नाकरजी के विशिष्ट साहित्यिक दृष्टिकोण ने उनकी भाषा-शैली का प्रयुक्त श्रृंगार कर दिया है। उनकी भाषा प्रौढ़ तथा साहित्यिक ब्रजभाषा है। रीतिकालीन अनेक कवि-प्लवङ्गों ने भाषा के साथ मनमानी करके शब्द-रुखों को पर्याप्त तोड़ा-मरोड़ा है, परन्तु रत्नाकरजी की भाषा में यह दोष नहीं है। उनकी भाषा में सर्वत्र एकरूपता तथा साहित्यिक-सङ्गठन के दर्शन होते हैं।

रत्नाकरजी ने अभ्यास के बल से ब्रजभाषा पर अधिकार प्राप्त किया था। जिन दिनों उन्होंने कवि-कर्म प्रारम्भ ही किया था, उन दिनों हिन्दी-कविता-क्षेत्र में मात्र ब्रजभाषा का बोलबाला था। ब्रजभूमि से बहुत दूर रहने वाले कवि भी ब्रजभाषा में ही कविता रचते थे। इन कवियों के लिए ब्रजभाषा पर अधिकार प्राप्त करने का एक ही साधन था और वह था अपने पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं का सम्यक् अनुशीलन। सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण, देव, सेनापति, मतिराम, रसखान, घनानन्द इत्यादि कवि इस विषय में नवीन कवियों के मार्ग-प्रदर्शक थे। इन्हीं का अध्ययन करके ब्रजभूमि से दूर रहने वाले कवि ब्रजभाषा की प्रकृति तथा उसके शब्द-भाण्डार से परिचित होते थे। रत्नाकरजी ने भी इन्हीं कवियों का अध्ययन करके ब्रजभाषा पर असाधारण अधिकार प्राप्त कर लिया था। अपने अध्ययन के बल से रत्नाकरजी ब्रजभाषा की प्रकृति से इतने अधिक परिचित हो गये थे कि संस्कृत, अरबी, फारसी तथा काशी की बोली के शब्दों को ब्रजभाषा के साँचे में ढालने में उन्हें कहीं कठिनाता नहीं होती थी। उनकी रचनाओं में विभिन्न भाषाओं के शब्द ऐसी खूबी से आये हैं कि उनके कारण ब्रजभाषा की प्रकृति में कहीं अन्तर नहीं पड़ा है। किसी भाषा विशेष की प्रकृति को अक्षुण्ण रखते हुए उसमें अन्य भाषाओं के शब्दों का सफलतापूर्वक समावेश कर देना साधारण बात नहीं है, परन्तु रत्नाकरजी के लिए यह कठिन कार्य भी सरल था। अरबी-फारसी शब्दों को ग्रहण करके भी उनकी भाषा अग्राह्य और क्लिष्ट नहीं बनी

his work ; and with that end in view some knowledge of the technique of art was held to be necessary.”

Atkins—Literary Criticism in Antiquity

Page 53/54 (Volume I)

Methuen & Co. Ltd.

है। मनपूबा, होसला, गरम, जुलम, वजीफा, सफ, नज़र, लतीफा, खंज़र, फौजदार जैसे शब्द उनकी भाषा में आने विदेशीपन को छोड़कर स्वाभाविक रूप से उपेत हैं। उदाहरणार्थ यह कवित्त लिया जा सकता है :—

भारत की भग्य भामिनीनि की कहानी कल ,
मंडित करौं मैं म्लेच्छ-मुखनि वजीफा सी ।
कहै रतनाकर पुकारि नीलदेवी आज ,
करनी करौं जो जगें जग में लतीफा सी ॥
देस-प्रेम-प्रबल-प्रभाव दिव्य देखें सबें ,
करति कहा है एक अबला जईफा सी ।
दारि डारौं देखत हों देखत बिथारि डारौं ,
अबदुस्सरीफ की सराफत सरीफा सी ॥^१

रत्नाकरजी को विदेशी शब्दों को ग्रहण करने में जैसी सफलता मिली है, वैसी ही सफलता काशी की बोली के शब्दों को अपनाने में भी मिली है। चांपना, झमेला, गमकावत, खपाना, गारना, तिताई, लुरियाना जैसे देशी शब्दों का प्रयोग करने में उन्हें कोई सङ्कोच नहीं हुआ है। उनकी भाषा के प्रवाह में इस प्रकार के शब्द ऐसी स्वाभाविकता से विलीन हो गये हैं कि उनकी ओर सामान्यतः ध्यान ही नहीं जाता। इन शब्दों में चांपि, उबरना, चेत, गारना, जैसे कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनका प्रयोग पूर्व तथा पश्चिम में भिन्न-भिन्न अर्थों में होता है। उदाहरणार्थ 'गारना' शब्द का पूर्वी अर्थ 'दबाकर निचोड़ना' है, किन्तु इसी का पश्चिमी अर्थ नष्ट करना है। रत्नाकरजी ने दोनों ही अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया है। पश्चिमी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग इन पंक्तियों में मिलेगा :—

“पच्छिराज-बेग की गुमान गारिबे की गुनि ,
औसर अनौसर पियादे पाय आए हें ॥”^२

इसी शब्द का पूर्वी अर्थ में प्रयोग यह है :—

“कोउ ऊहनि बिच दाबि बसन गीले गहि गारति ॥”^३

ब्रजभाषा को काव्य भाषा का उच्च पद ब्रजभूमि के कवियों की साधना से प्राप्त हुआ था। उवर महाकवि तुलसी, जायसी, तथा रहीम इत्यादि कवियों के हाथों में पड़

१. वीराष्टक, पृष्ठ ५२७, छन्द-संख्या ३

२. रत्नाष्टक, पृष्ठ ४३५, छन्द-संख्या ६

३. गंगावतरण, पृष्ठ २८८, छन्द-संख्या १९

कर अवधी भी पूर्व से पश्चिम तक फैल गयी थी। ब्रज तथा अवधी की कतिपय सामान्य विशेषताओं में साम्य भी है, इ.तीलिए ब्रजभाषा को साहित्यिक शुचिता की ओर बहुत से कवियों का ध्यान प्रायः नहीं रहा है। शनैः-शनैः ब्रजभाषा की कविता में भी अवधी के शब्दों और रूपों का प्रयोग होने लगा। ब्रज से दूर रह कर जो कवि ब्रजभाषा में कविता कर रहे थे, उनकी रचनाओं में प्रान्तीय शब्दों का आ जाना स्वाभाविक ही था। केशव की रचनाएँ भी विशिष्ट बुंदेलखंडी प्रयोगों से विविक्त नहीं हैं। रत्नाकरजी की रचनाओं में भी कहीं-कहीं पूर्वी प्रयोग तथा काशी की बोली के शब्द दृष्टिगोचर होते हैं। उदाहरणार्थ कुछ शब्द ये हैं :—

अंगोजना=सहन करना, शरीर पर झेलना

“इक मरिबे कौ छाड़ि कहा जो नाहि अंगेज्यौ”^१

पंवारि=फेंककर, जल में बहाकर

“बिता-मनि-मँजुल पंवारि धूरि धारनि में”^२

उदबासना=अलग करना, मिटाना, नष्ट करना, दूर करना

“नंद के सुमार सुकुमार कौ बसाइ यामें,

ऊथी अब हाइ कै बिसास उदबासं हम ॥”^३

उधराना=हवा में उड़कर नष्ट हो जाना

“उड़ि उधिरानी किधौ ऊरध उसासनिमें

बहिधौ बिलानी कहूं आंसुनि की धारमें ।”^४

भाषा की अभिव्यञ्जना-शक्ति के उत्कर्ष में लोकोक्तियों और मुहावरों का विदग्ध प्रयोग अतीव सहायक होता है। हिन्दी में मुहावरों और लोकोक्तियों का अकाल नहीं है, परन्तु पता नहीं क्यों हमारे कवियों द्वारा प्रायः उनकी उपेक्षा ही हुई है। उर्दू-कवियों में मुहावरों की वक्रता का जैसा ऐश्वर्य है, वैसा हिन्दी-कवियों में नहीं है। हिन्दी में बिहारी और घनानन्द जैसे दो एक कवि ही ऐसे हैं, जिन्होंने मुहावरों के साधिष्ठ प्रयोग से विस्तीर्ण लाभ उठाया है। रत्नाकरजी उर्दू-फारसी के विद्वान् थे, अतः मुहावरों की ओर उनका ध्यान जाना सहज स्वाभाविक था। ब्रजभाषा की प्रकृति को अक्षुण्ण रखते हुए उन्होंने जी भरकर मुहावरों का प्रयोग किया है। रत्नाकरजी के इस कौशल से ब्रज-

१. हरिश्चन्द्र, पृष्ठ ९८, छन्द-संख्या ३५ पंक्ति २।

२. उद्भवशतक, पृष्ठ १६१, छन्द-संख्या ४० पंक्ति १।

३. वही, पृष्ठ १६८, छन्द-संख्या ५७ पंक्ति ८

४. वही, पृष्ठ १८९, छन्द-संख्या १११ पंक्ति १

भाषा का परिष्कार ही नहीं हुआ, उसमें आकांक्षित वक्रता भी उत्पन्न हुई। अपनी इसी प्रतिभा के बल से वे खड़ी बोली के युग में भी ब्रजभाषा की ओर कविता-प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट कर सके थे।

मुहावरों का चमत्कार प्रायः उनकी लाक्षणिकता में सन्निहित रहता है। किसी बात को सीधे-सादे शब्दों में सुनकर श्रोता विशेष प्रभावित नहीं होता, किन्तु उक्ति की साङ्केतिक वक्रता उसे मुग्ध कर देती है। मुहावरों के समासङ्ग से उक्ति में चमत्कार तथा मार्मिकता दोनों ही का उत्कर्ष होता है। ऐसे लाक्षणिक विन्यास से पाठक अथवा श्रोता स्थूल गोचर विधानों का अवलम्ब ग्रहण करता हुआ सूक्ष्मातिवृक्ष भावों को सरलतारुर्वक हृदयङ्गन करने लगता है। किसी कवि की सफलता अथवा असफलता का प्रमाण भी वस्तुतः यही है कि वह अपनी उक्ति की पेशलता से पाठकों को कहाँ तक प्रभावित कर सका है। यों सामान्य रूप से तो सभी लोग भाषा के माध्यम से ही भावाभिव्यक्ति करते हैं, परन्तु सफल कवि की उक्ति में जो द्रवणशीलता तथा मसृणता होती है, वह सामान्य लोगों को बातों में दिव्यारी नहीं देती। रत्नाकरजी की रचनाओं में उक्ति वैचित्र्य आद्यन्त अनुस्यूत है। ऐसे अनेक मार्मिक स्थलों में से कुछ उदाहरण ये हैं :—

सासु के नैकुं न त्रास गुनं
न सुनं कछु सीख जो देति जिठानी ।
त्यो रतनाकर आन धरै न तो
कान करै सखियानि की बानी ॥
देखन ही की सुघात में डोलति
बोलति बात सबे बिततानी
रोबत रोबत ही अब तो गिरि
बाकी गयो अँखियानि कौ पानी ॥१

‘आँखों का पानी गिरना’—इस मुहावरे के सम्प्रयोग से कवि को भाव-व्यञ्जना में अद्भुत सफलता मिली है। एक ओर तो मुहावरा अभिधेयार्थ को स्पष्ट कर रहा है, दूसरी ओर लक्ष्यार्थ द्वारा भावोत्कर्ष में भी सहायक बना है। यहाँ एक अर्थ तो यह निकलता है कि रोते-रोते नायिका की आँखों का सब पानी बह गया है, इसी कारण मानो अब उसके अश्रु ही समाप्त हो गये हैं, साथ ही दूसरा अर्थ यह भी विवक्षित है कि प्रेमावेश में नायिका स्त्री-मुलभ स्वाभाविक लज्जा से भी हाथ धो बैठी है।

‘जिन्दगी से हाथ धोना’ भी एक लोक-प्रसिद्ध मुहावरा है। रत्नाकरजी ने इस मुहावरे को कुछ विवर्तित कर दिया है, परन्तु विवर्तन से मुहावरे में नवीन निखार आ गया है। अधोलिखित सवैया में यही मुहावरा भाव का उत्कर्षाधायक है।

तिख कीन कौं देति कहा सजनी, हमकों विष-बेलिही बोइबौ है।

रतनाकर त्यों कुलकानि-प्रपंचनि, लैं कलकान न होइबौ है ॥

उर नींदन कैं सो डराहि भलैं, जिनकों सुख नींदनि सोइबौ है।

बरजौ बूया ढारिबे सौं अँसुवा, हमें जीवन सौं कर धोइबौ है ॥^१

यहाँ ‘जिन्दगी’ शब्द के स्थान पर ‘जीवन’ शब्द का प्रयोग करके कवि ने एक ओर तो मूल मुहावरे की रक्षा की है, दूसरी ओर उसे हिन्दी के अधिक अनुकूल बनाते हुए अर्थ में चमत्कार भी उत्पन्न कर दिया है। ‘जीवन’ शब्द से ‘जिन्दगी’ और ‘पानी’ दोनों ही अर्थ विवक्षित हैं। हाथ पानी से ही धोये जाते हैं, अतः ‘जिन्दगी’ के स्थान पर ‘जीवन’ के सम्प्रयोग से मुहावरा और भी चमक उठा है। इस मुहावरे की ऐसी ही कान्ति निम्नस्थ सवैया में भी उपन्यस्त है।

मोहन-रूप लुनाई की खानि में, हौं नखतें सिखलीं इमि सानी।

ह्वै रही लोनमई रतनाकर, सो न मिटै अब कोटि कहानी ॥

सील की बात चलाइ चलाइ, कहा किए डारति हौं हमें पानी।

जानि परं मम जीवन सौं हठि, हाथ ही धोइबे की अब ठानी ॥^२

उपर्युक्त मुहावरा यहाँ भी उसी प्रकार अर्थ-गुण-सम्पन्न है। इसके अतिरिक्त ‘पानी करना’ जैसे साधारण मुहावरे का श्लिष्ट प्रयोग भी चमत्कारपूर्ण है। लुनाई, लोनमई, सील, बात जैसे शब्दों का कवि ने यहाँ प्रविचित प्रयोग किया है। प्रिय के रूप-लावण्य की छटा से मुग्ध होकर नायिका नायक के रङ्ग में रङ्ग उठी है। अब उसे सील के विशेषत्व की शिक्षा देकर पानी-पानी करने से भला क्या इष्ट-सिद्ध हो सकता है। नायिका ‘लोनमयी’ तो पहले से ही हो रही थी, अब सीली बात (वायु) के कारण वह और भी पानी हुई जा रही है। सीली वायु से नमक का पानी हो जाना अनुभूत बात है, अतः ‘जीवन से हाथ धोना’—इस मुहावरे में जान आ गयी है। लुनाई, लोनमयी, बात और सील शब्दों का यह श्लिष्ट प्रयोग रस-चर्वणा में असन्दिग्ध रूप से सहायक है।

| रत्नाकरजी प्रतिभा-सम्पन्न कवि ही नहीं, सच्चे भाषा-मर्मज्ञ भी थे। उन्हें यह

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३५२, छन्द-संख्या १०५

२. वही, पृष्ठ ३४१, छन्द-संख्या ७३

भलीभाँति विदित था कि वाग्वैदग्ध्य द्वारा कवि अपनी रचनाओं में आह्लादजनक रमणीयता उत्पन्न कर सकता है। इसीलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में एक-एक शब्द तोल-तोल-कर रखा है। काव्य में काव्यात्मक सौन्दर्य या रस का प्राधान्य निर्विवाद है, परन्तु कवि की अन्तश्चेतना में पड़ी हुई अनुभूतियों का मार्मिक प्रत्यक्षीकरण बिना भाव और अर्थ-गर्भित सशक्त भाषा के सम्भव नहीं है। सबल भाषा से ही कवि अपनी सृजनात्मिका-शक्ति का चमत्कार दिखाता है; इसीलिए रत्नाकरजी ने कानपुर के प्रथम-अखिल-भारतीय कवि-सम्मेलन में पुरातन आचार्यों का समन्वयात्मक समर्थन करते हुए कहा था कि :

“काव्य वाक्य का उद्देश्य वर्णन-वैदग्ध्य तथा वाक्पटुता के द्वारा श्रोता के हृदय में एक विशेष प्रकार का आनन्दोत्पादन होता है। वह आनन्द वर्णित विषय जनित हर्ष विषाद से कुछ पृथक् ही है। उसको साहित्यकारों ने आलौकिक माना है, अर्थात् वह वर्णित विषय से श्रोता के इष्टानिष्ट सम्बन्ध के कारण नहीं होता। वह सहृदय श्रोताओं के हृदय में कवि के द्वारा किसी विषय को एक विशेष प्रकार से वर्णित करने के कारण उत्पन्न होता है।

इसी अलौकिक आह्लाद जनक ज्ञानगोचरता को श्री पंडितराज जगन्नाथजी ने रमणीयता कहा है। अतः हमारी समझ में काव्य का लक्षण रमणीय वाक्य कहना समीचीन है। रमणीयता लाने के अनेक साधन हो सकते हैं। उनमें से साहित्यकारों ने विशेष कारणों को लक्षित करके अपने अपने ग्रंथों में बतलाया है। किसी ने रीति, किसी ने रस, किसी ने अलंकार, किसी ने वक्रोक्ति तथा किसी ने ध्वनि को काव्यत्व का मुख्य साधन माना है। हमारी समझ में ये सब अलग-अलग अथवा मिलजुल कर रमणीयता उत्पादन की सामग्री मात्र हैं, अतः इनका कथन काव्य के लक्षण में अप्रयोजनीय है। काव्य का मुख्य उद्देश्य जो रमणीयता है, उसी का कथन उसके लक्षण में युक्त है।

कविजन अपनी-अपनी रचनाओं में अपनी-अपनी शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास के अनुसार अनेकानेक साधनों द्वारा रमणीयता लाने का प्रयत्न करते हैं, और उक्त साधनों से जो जितनी ही उत्तमतापूर्वक काम लेने में समर्थ होता है, उसकी कविता उतनी ही मनोहारिणी तथा लोकप्रिय होती है। रमणीयता-सामग्रियों की कोई सम्यक् सूची नहीं बनाई जा सकती, और न निश्चयपूर्वक यही बतलाया जा सकता है कि निर्दिष्ट सामग्रियों में से किस किसके कितने परिमाण में मिलने से किस-किस श्रेणी की रमणीयता काव्य में आ सकती है। जिस प्रकार रमणीयता एक लोकोत्तर पदार्थ है, उसी प्रकार वह अनिर्वचनीय भी है” ॥^१

रत्नाकरजी के इस निर्वचन में आचार्य कुन्तक एवं मम्मट के साथ 'पण्डितराज' का मन्तव्य उपपन्न है। 'रमणीय अर्थ-प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है'—'रसगङ्गाधर' का यह उपपाद्य काव्य-शास्त्र में अतीव प्रसिद्ध है।^१ इसी प्रकार 'जिसके ज्ञान से लोकोत्तर आह्लाद उपलब्ध हो, वह अर्थ रमणीय है—यह उपस्थापना भी 'रसगङ्गाधर'^२ की ही है। पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा को ही काव्य का साधन माना है,^३ परन्तु रत्नाकरजी मम्मटाचार्य के समान शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों को काव्य-हेतु स्वीकार करते हैं।^४ वर्णन-वैदग्ध्य तथा वारूपटुता पर कुन्तक ने बल दिया है,^५ अतः स्पष्ट है कि उन्होंने प्राक्तन आचार्यों का गम्भीर अध्ययन एवं मनन और उन्हीं के काव्यादर्शों का मनोयोग पूर्वक-अनुसरण भी किया था।

उपर्युक्त भाषण में रत्नाकरजी ने जो बातें सामान्य रूप से कही थीं, वे उन्हीं की भाषा और शैली पर ज्यों-की-त्यों घटित हो जाती है। उनके अन्तर्गत का स्वाभाविक उन्मेष सर्वत्र भाषा की पेशलता और काव्य-कौशल की सृजनात्मकता से समृद्ध है। अर्थ-गौरव और पद-लालित्य से उनका काव्य ओत-प्रोत है। सबल भाषा का प्रमाण उसकी अर्थ-शक्ति में ही निहित होता है। रत्नाकरजी की काव्य-साधना में शब्द-संगठन एवं वर्णों का लीलायमानत्व इतना सुव्यवस्थित है कि उनकी किसी भी पंक्ति से एक शब्द भी इधर-उधर नहीं हटाया जा सकता। उनके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द की एक निजी सत्ता है।

रत्नाकरजी ने अपनी भाषा का शृंगार मुहावरों से ही नहीं लोकोक्तियों से भी किया है। कहावतों के प्रयोग में भी उनकी सूझ वैसी ही पैनी है जैसी मुहावरों में परिलक्षित होती है। 'अंधे के आगे रोना और अपने दीदे खोना' इस कहावत का सफल प्रयोग इस कवित्त में मिलेगा :—

१. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।

२. रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता ।

३. तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा ।

४. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवस्थात् ।

काव्यज्ञशिष्याभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

मम्मटः—काव्यप्रकाश-१/३

५. उभावेतादलङ्कायी तयोः पुनरलङ्कृतिः ।

वक्त्रेतिरेव वैदग्ध्यमङ्गी भवितुमर्हते ॥

लोकहितजीवितम्—कारिका-१०

भीषम कौं प्रेरों कनहूँ कौं मुख हेंरों हाय,
सकल सभा की ओर दीन दृग फेरों में ।
कहै रत्नाकर त्यों अंधहूँ के आगें रोइ,
खोइ बीठि चाहति अनीठहि निबैरों में ॥
हारी जवुनाथ जवुनाथ हूं पुकारि नाथ,
हाथ दाबि कइत करेजहि दरेरों में ।
देखी रजपूती की सकल करतूति अब,
एक बार बहुरि गुपाल कहि टेरों में ॥^१

अभिधा और लक्षणा का चमत्कार यहाँ भी दर्शनीय है। धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे, अतः 'अन्ध हूँ के आगें रोइ' कहने से साङ्केतिक अर्थ का बोध तो होता ही है, इसके अतिरिक्त लक्षणा द्वारा यह भाव भी लक्षित हो रहा है कि धृतराष्ट्र की हिये की भी फूट गयीं थीं; तभी तो भरी सभा में द्रौपदी नग्न की जा रही थी, परन्तु उसके कानों पर जूँ न रेंगती थी ।

लोकोक्तियों का प्रसङ्ग उपस्थित ही है तो लगे-हाथों दो-एक अन्य सुन्दर कहावतों का प्रयोग भी देख लीजिए । 'गंगावतरण' में गहड़ द्वारा अंशुमान को सगर के साठ सहस्र पुत्रों के भस्म हो जाने की आत्ययिक सूचना मिलती है। अंशुमान इस दारुण समाचार से आविग्न होकर कह उठता है :—

हाय तात यह भयौ घात बिन बात तिहारी ।
होम करत कर जर्ग्यो पर्यो बिधि बाम हमारी ॥
आए बाजी लेन बेचि बाजी इमि सोवत ।
उठत क्यों न पितु लखत बाट उतइत सिमु रोवत ॥^२

'होम करते हाय जलना' इस कहावत का रत्नाकरजी ने यहाँ विदग्ध प्रयोग किया है। राजा सगर अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे। इस यज्ञ में हाथ जलने की तो बात ही क्या है, उनके साठ सहस्र पुत्र तक राख हो गये थे। 'घोड़ा बेचकर सो रहना' इस कहावत का प्रयोग भी यहाँ बड़ा सटीक है। राजा सगर के पुत्र यज्ञ का घोड़ा ढूँढते हुए आये थे और यों चिर-निद्रा में सो गये थे, अतः 'आए बाजी लेन बेच बाजी इम सोवत' जैसी मार्मिक पंक्ति को पढ़कर पाठकों को अंशुमान के व्यथित हृदय की मार्मिक अनुभूति ही नहीं होती प्रत्युत मानसिक नेत्रों के सम्मुख उन साठ सहस्र मृत पुत्रों की दारुण

१. रत्नाष्टक, पृष्ठ ४४६, छन्द-संख्या ४

२. गंगावतरण, पृष्ठ २१४, छन्द-संख्या १६

दशा का चित्र भी खिंच जाता है । 'बाजी' शब्द में यमकालङ्कार की छटा ने उक्ति को और भी आकर्षक बना दिया है । साथ ही 'बिधि बाम' तथा 'बिन बात' जैसे चमत्कार-पूर्ण वाक्यांश भी उक्तिवैचित्र्य में सहायक हो रहे हैं । रत्नाकरजी की भाषा में उनकी अन्तस्तलस्पर्शनी कल्पना और स्फुरन्मुखी प्रतिभा का चमत्कृत-चातुर्य, आद्यन्तविद्यमान है । सचमुच उनकी कला में वाक्य-विन्यास की जो परिनिष्ठा दिखायी देती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है ।

भाषा का मूल उद्देश्य भावों को मूर्तिमान् करना है । भाषा जब तक भावानुगामिनी नहीं होती, तब तक मनोमोहक नहीं कही जा सकती । प्रतिभा सम्पन्न कवि जब चित्त की द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व वृत्तियों से प्रेरित होकर अपनी रचना में दत्तचित्त होता है, तब भावों की गम्भीरता, चपलता, अथवा व्यापकत्व के अनुसार उसकी भाषा भी परिवर्तित होती चली जाती है । जिस काव्य की भाषा भावानुकूल सङ्गीतात्मकता से ओतप्रोत नहीं होती वह काव्य कदापि उत्तम काव्य नहीं कहला सकता । भावानुकूल भाषा से ही कवि रसोत्कर्ष में समर्थ होता है । इसी दृष्टि से आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट इत्यादि प्राचीन आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती भरत, दण्डी, वामन, भोज आदि काव्य-शास्त्रियों के गुण-विवेचन का मन्थन करके भामह के अनुकरण पर काव्य भाषा में प्रसाद, माधुर्य, तथा ओज—ये तीन गुण माने थे । ये गुण इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि इन्हें भाषा के गुण न कहकर काव्य की आत्मा और शरीर का नित्यधर्म कहना अधिक समीचीन होगा ।

प्रसादगुण-युक्त पदों के सुनते ही उनके अर्थ का सद्यः बोध हो जाता है, अतः यह सर्वरस-साधारण गुण है ।^१ इस प्रकार के काव्य में क्लिष्टत्व दोष नहीं होता । प्रसाद गुण के कारण काव्यगत भावाभिव्यक्ति भावक के हृदय में ऐसे ही व्याप्त हो जाती है, जैसे सूखे काष्ठ में अग्नि या स्वच्छ वस्त्र में जल परिव्याप्त हो जाता है ।^२ प्रसादगुण की उपेक्षा का अवश्यम्भावी दण्ड है कवि का स्वतः उपेक्षित हो जाना, अतः सभी रसों के चित्रण में तथा सभी प्रकार की रचनाओं में प्रसाद गुण अपने

१. भुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।

साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥

मम्मट-कव्यप्रकाश-अष्टम उल्लास

२. शुद्धेत् धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः ॥

व्याप्तोत्यन्यत्रसाशेसौ सर्वत्र बिहितस्थितिः ।

मम्मट-कव्य प्रकाश-अष्टम उल्लास ।

व्यापकत्व के कारण उपयोगी होता है। कवि की भाषा में अनावश्यक दुरुहता से काव्य अरोचक हो जाता है। [रत्नाकरजी की रचनाओं में प्रसादगुण सर्वत्र विहृत है। उन्होंने चलती हुई सरस ब्रजभाषा भी लिखी और संस्कृत-गर्भित ब्रजभाषा भी, परन्तु उनकी भाषा में व्यापकत्व गुण, और भाव का अभाव कहीं नहीं है। रत्नाकरजी की प्रसाद गुण-पूर्ण शुद्ध ब्रजभाषा का एक उदाहरण यह है :—

नैननि के आगें नित नाचता गुपाल रहें
 ह्याल रहें सोई जो अनन्य-रसवारे हें ।
 कहै रतनाकर सो भावना भरीयें रहै
 जाके चाव भाव रचें उर में अखारे हें ॥
 ब्रह्म हूँ भए पै नारि ऐसियं बनी जौ रहें
 तौ तौ सहें सीस सखें बिन जो तिहारे हें ।
 यह अभिमान तौ गवहें ना गए हूँ प्रान
 हम उनकी हें वह प्रीतम हमारे हें ॥^१

संस्कृत-मिश्रित भाषा के उदाहरण 'गंगावतरण' में अधिक मिलते हैं, परन्तु ब्रजभाषा का स्वाभाविक सौकुमार्य और उनके काव्य की प्रमुख विशेषता-प्रसाद गुण वहाँ भी यथावत् है। कहा जाता है कि ब्रजभाषा की प्रकृति और शील को समझने के लिए रत्नाकरजी ने कुछ दिनों तक ब्रज में निवास भी किया था। उन्होंने जिस अधिकारपूर्ण कौशल से संस्कृत के तत्सम शब्दों को ब्रजभाषा के साँचे में ढाला है, उसे देख कर यही कहना पड़ता है कि ब्रजभाषा पर उनका अधिकार असाधारण था। 'गंगावतरण' की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं।

“भयो भूप तिहि नगर सगर इक परम प्रतापी ।
 दिग-छोरनि लों उमगि जासु कल कीरति व्यापी ॥
 रिपु-बल-खल-बल-बलन प्रजा-परिजन-बुख-भंजन ।
 गुनि-जन-जीवन-मूल सुकृति-सज्जन-मन-रंजन ॥

गो-ब्राह्मण-प्रतिपाल ईस-गुरु-भवत अबूषित ।
 बल-बिक्रम-बुधि-रूप-धाम सुभ-गुन-गन-भूषित ॥

नीति-पाल जिहि सचिव बाल की खाल खिचैया ।

सेनप श्यामि-प्रसेद-पात-थल रक्त-सिचैया ॥^१

भावों का अनुसरण करते हुए रत्नाकरजी की भाषा साङ्गीतिक दृष्टि से कहीं कोमल तो कहीं परुष हो गयी है। प्रसङ्गानुसार उनकी भाषा माधुर्य तथा ओज से ओतप्रोत है। माधुर्यगुण काव्य की वह विशेषता है जिसके कारण किसी कवि की रचना पाठकों के हृदय को आर्द्र अथवा द्रवीभूत करने में समर्थ होती है। यह गुण उभयमुखी शृङ्गार, करुण एवं शान्तरस के निरूपण में बड़ा सहायक होता है। माधुर्यगुण-सम्पन्न कविता में मीलित वर्णों, टटर्ग तथा लम्बे-लम्बे समासों का अभाव एवं कोमल-कान्त पदावली युक्त सानुनासिक वर्णों का प्राचुर्य होता है।^२ सुकुमार भावों की व्यञ्जना करते समय रत्नाकरजी की भाषा सर्वत्र ऐसीही हो गयी है। उदाहरणार्थ :—

करति चंद्र-दुति मंद अमल मुखचंद्र-उजारी,
मुनि-मन-मोहि मनोज-मौज उपजावनहारी ।
चंचल चपल चलाक चुलबुली चेटकहाई
चुहुल चोचले चोज चाव के चाक चढ़ाई ॥^३

हाय हमारी लाल लियौ इमि लूटि बिधाता ।
अब काको मुख जोहि मोहि जीवै यह माता ॥
पति त्यागें हैं रहे प्राण तब छोह सहारे ।
सो तुमहें अब हाय बिपति में छाँड़ि सिधारे ॥^४

सुनि सुनि ऊषव की अकह कहानी कान
कोऊ थहरानी, कोऊ थानहि थिरानी हैं ।

१. गंगावतरण, पृष्ठ १९६, छन्द-संख्या ६, ७

२. मूढिर्न वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्ग रणौ लघू ।

अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्यं घटना तथा ॥

मम्मट-काव्यप्रकाश-अष्टम उल्लास ।

३. हिडोला, पृष्ठ १२, छन्द-संख्या ४९

४. हरिश्चन्द्र, पृष्ठ १००, छन्द-संख्या ४४ ।

कहै रतनाकर रिसानी, बररानी कोऊ
कोऊ ब्रिजबानी, बिकला नी, बियकानी हैं ॥^१

देखे देखि देखन की दीठि बई जाहि बई
इहि जग जंगम न कोऊ थिर थावै है ।
कहै रतनाकर नरेस रंक सुथौ बंक
कोऊ कल नैकु एत पलक न पावै है ।
ऐसी कछु चपल चलाचल चली है इहाँ
जीवन तुरी पै अति आतुरी मचावै है ।
किरन-छटा सौं दिन तरनी ततावै रैन
बेगि चलबे कौं चंद चाबुक लगावै है ॥^२

उपर्युक्त उद्धरणों में न तो लम्बे-लम्बे समास हैं और न कर्ण कटु वर्ण । दीर्घ वर्णों का भी आधिक्य नहीं है । संयुक्त वर्णों के उपसर्जन एवं अनुस्वार युक्त (अनुनासिक) वर्णों के बाहुल्य से रत्नाकरजी की भाषा में अद्भुत लोच और सङ्गीतात्मक प्रवाह आ गया है । भावानुगामिनी भाषा के बल से ही रत्नाकरजी यहाँ मृदुल भावों की ऐसी सुन्दर अवतारणा कर सके हैं ।

कोमल भावों के स्पष्टीकरण में यदि माधुर्यगुण सहायक है, तो कठोर भावों की अभिव्यक्ति में ओजगुण उपादेय होता है । जिस काव्य-रचना से सामाजिक का मन तेज अथवा दीप्ति से परिव्याप्त हो जाता है, उस रचना में ओजगुण होता है ।^३ इस गुण से समन्वित होने पर काव्य की भाषा संयुक्त वर्णों एवं दीर्घ समासों के प्राचुर्य से कठोर हो जाती है । टवर्ग के आधिक्य, एवं संयुक्त वर्णों में 'र' के बाहुल्य से भी ओजगुण का उत्कर्ष होता है । रौद्र, वीर, भयानक तथा बीभत्सादि रसों के निरूपण में रत्नाकरजी ने ऐसी ही भाषा का प्रयोग किया है । कुछ उदाहरण ये हैं :—

बक्र भूकुटी कै चक्र ओर चष फेरत हीं,
सक्र भए अक्र उर यामि थहरत हं ।
कहै रतनाकर कलाकर अखंड मंडि,
चंडकर जानि प्रलय खंड ठहरत हं ॥

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १५८, छन्द-संख्या ३४ ।

२. प्रकीर्णपद्यावली, पृष्ठ ५५४ ।

३. दीप्त्यात्मविस्तृतेहंतुरोजो वीररसस्थिति । मम्मट-काव्यप्रकाश-अष्टम उल्लास

कोल कच्छ कुंजर कहलि हलि काढ़ें खीस ,
 फननि फनीस कं फुलिंग फहरत हैं ।
 मुद्रित तृतीय दृग रुद्र मुलकावें मीड़ि ,
 उद्रित समुद्र अद्रि भद्र भहरत हैं ॥^१

भारत की दीन दसा दाखन निबारन कौ ,
 श्रीगुरु गुर्विंद महा जज्ञ-बिधि चीन्ही है ।
 कहै रतनाकर कउंउ-गठनैउ-सेख-
 संयद-मुगल-सेन समिधा सु लीन्ही है ॥
 खड्ग-खुवा सौ मेद-मज्जा-खोन आहृति दै ,
 प्रज्वलित जुद्ध-बिकराल-ज्वाला कीन्ही है ।
 देस-भक्ति-बेदी पै स्वतन्त्रता की मंत्र साधि ,
 पूत पंख पूतनि की पंख बलि दीन्ही है ॥^२

बुगं तें तड़पि तड़िता सी तड़कें हीं कढ़ी ,
 कड़कि न पाए कड़खाहूँ अबें मुरगा ।
 कहै रतनाकर चलावन लगी यों बान ,
 मानौ कर फंले फुफुकारी मारि उरगा ।
 आसा छाँड़ि प्राण की अमान की बुरासा माँड़ि ,
 भागे जात गब्रर अकब्रर के गुरगा ।
 देबी बुरगावती मलेच्छ-इल गेरे देति ,
 मानौ बैत्य - दलनि दरेरे देति बुरगा ॥^३

तात्पर्य यह है कि रत्नाकरजी की भाषा में स्वच्छ दर्पण के समान मनोभावों का प्रतिबिम्ब झलकता हुआ दिखायी देता है । अर्थ गाम्भीर्य, पदविन्यास-चातुर्य, स्वाभाविकता इत्यादि गुण उनकी भाषा में कूट-कूट कर भरे हुए हैं ।

भाषा के बाह्य स्वरूप का सौन्दर्य शब्दालङ्कारों पर निर्भर रहता है; इसी-लिए किसी कवि की भाषा पर विचार करते समय उसके द्वारा प्रयुक्त शब्दालङ्कारों पर

१. भीष्म-प्रतिज्ञा, पृष्ठ ४९१, छन्द-संह्या ६

२. श्री गुरु गोविन्दसिंह, पृष्ठ ५१४, छन्द-संह्या १०

३. श्री महारानी बुरगावती, पृष्ठ ५२०, छन्द-संह्या १

भी ध्यान देना आवश्यक है। रत्नाकरजी की रचनाओं में उपस्थित शब्दालङ्कारों की अन्यत्र विवेचना की जा चुकी है, तथापि उनकी अनुप्रास-प्रियता का यहाँ पुनः उल्लेख कर देना अग्रासङ्गिक न होगा। रत्नाकरजी की भाषा स्वभावतः अनुप्रास-गर्भित है। मध्यकालीन हिन्दी-कवियों का भी अनुप्रास की ओर विशेष आप्रह दृष्टिगोचर होता है, परन्तु रत्नाकरजी ने भावों की रक्षा करते हुए जैसे कौशल से सङ्गीतात्मक अनुप्रास-योजना की है, वैसा चातुर्य अन्यत्र कठिनता से परिलक्षित होगा। उनकी रचनाओं में शायद ही कोई पंक्ति ऐसी होगी जो अनुप्रास के समुपचित माधुर्य से परिप्लुत न हो, परन्तु अनुप्रास-स्थान की ओर प्रबल आप्रह होते हुए भी न तो उनकी भाषा ही कहीं अस्वाभाविक हुई है और न कहीं भावाभिव्यञ्जना में ही व्याघात उपस्थित हुआ है।

द्विवेदीयुग में खड़ी बोली का अधिक प्रचार होने से ब्रजभाषा की उपेक्षा होने लगी थी, अतः तत्कालीन कतिपय विद्वानों का ध्यान ब्रजभाषा के प्रचार की ओर आकृष्ट हुआ। इन विद्वानों में से कुछ लोग ब्रजभाषा को परिष्कृत रूप में ग्रहण करने के पक्ष में थे। आचार्य शुक्ल ने इसी दृष्टि से 'बुद्ध चरित' की रचना की थी। इधर रत्नाकरजी ब्रजभाषा के प्राचीन मधुर स्वरूप को ही अक्षुण्ण बनाए रखने के पक्ष में थे। उन्होंने अपनी रचनाओं में सर्वत्र ब्रजभाषा के प्राचीन किन्तु व्याकरण सम्मत स्वरूप को अपनाया है।

मध्यकालीन कवियों में बिहारी की भाषा उन्हें सर्वाधिक प्रिय थी। 'साहित्यिक ब्रजभाषा तथा उसके व्याकरण की सामग्री' शीर्षक लेख में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि "साहित्यिक ब्रजभाषा के सुशृङ्खल स्वरूप का एक ढाँचा हृदय में स्थिर करके उसी के अनुसार अविचल रूप से अपनी रचना में प्रयोग साम्य के बर्तने का सुयश तथा गौरव महाकवि श्री बिहारीदास ही को प्राप्त हो सका। पर खेद का विषय है कि उन्होंने जो शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा के व्याकरण का ढाँचा अपने लिए स्थिर किया उसका उद्देश्य केवल अपनी कविता में सुन्दर और शुद्ध भाषा लिखने का था। उसको उन्होंने व्याकरण का रूप देकर अन्य कवियों के निमित्त पर-दर्शक नहीं बना दिया। यदि वे ऐसा कर जाते तो उनके पश्चात् के कवियों को शुद्ध भाषा के प्रयोग में बड़ा सहारा मिलता। उनके पीछे के कवियों के लिए यद्यपि उनकी सतसई में शुद्ध भाषा का एक सुन्दर आदर्श विद्यमान था, और जो श्रम बिहारी ने उसके स्वरूप साधन के निमित्त किया था उसकी आवश्यकता न थी तथापि साहित्यिक ब्रजभाषा का रूपा अद्यवस्थित दशा में ही पड़ा रहा। बिहारी के पश्चात् आनन्दघनजी ने अपनी कविता में शुद्ध तथा साम्य-सम्पन्न भाषा के प्रयुक्त करने का प्रयत्न किया और वे बहुत कुछ कृतकार्य भी हुए हमारी समझ में बिहारी तथा आनन्दघन

जी की कविताओं में शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा का एक सुन्दर और उपयोगी व्याकरण तैयार करने के योग्य पर्याप्त सामग्री विद्यमान है ।”

रत्नाकरजी की इस अभिरुचि के कारण उनकी भाषा पर मध्यकालीन कवियों—विशेषतः बिहारी—की भाषा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। सच पूछिए तो जिस प्राचीन कवि की भाषा में उन्हें जो काव्योपयोगी, अर्थगर्भित, उपयुक्त तथा सुन्दर शब्द मिल गया, उसी को उन्होंने अपना लिया है। ‘गंगावतरण’ की भाषा पर तो बिहारी का प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित होता है। कहलाने, दीरघ-दाघ-निदाघ, ठाढ़े-गाढ़े-कुच, नटसाल इत्यादि बिहारी सतसई के प्रसिद्ध शब्द अथवा वाक्यांश ‘गंगावतरण’ में ज्यों-के-त्यों आ गये हैं। ‘गंगावतरण’ की भाषा पर बिहारी सतसई के इस व्यापक प्रभाव का एक कारण यह भी है कि रत्नाकरजी ने जिन दिनों ‘गंगावतरण’ की रचना की थी, उन्हीं दिनों वे बिहारी के अध्ययन एवं ‘बिहारी रत्नाकर’ के प्रणयन में भी तल्लीन थे। सन् १९२१-२२ के लगभग उन्होंने ‘गंगावतरण’ की रचना की है तथा ‘बिहारी रत्नाकर’ की टीका भी इन्हीं दिनों लिखी गयी है, इसीलिए ‘गंगावतरण’ में बिहारी द्वारा प्रयुक्त बहुत से शब्दों का समावेश हो गया है।

व्याकरण की दृष्टि से यदि रत्नाकरजी की भाषा की उनके पूर्ववर्त्ती कवियों की भाषा से तुलना की जाय, तो रत्नाकरजी की भाषा में वाक्य-रचना अधिक सुव्यवस्थित दिखायी देती है। मध्ययुग में यद्यपि ब्रजभाषा का बोलबाला था तथा प्रतिभा-सम्पन्न सैकड़ों कवि इसी भाषा में काव्य-रचना कर रहे थे, तथापि कामकार कवियों के हाथों में पड़ कर ब्रजभाषा उन दिनों नट-भार्या सी हो गयी थी। तत्कालीन अनेक कवियों के प्रयोगों में च्युत-संस्कृति दोष एवं वाक्य-दोष स्थल-स्थल पर दिखायी देते हैं। शब्दों के रूपों को स्थिर करने तथा दृढ़तापूर्वक उन स्थिर रूपों का प्रयोग करने की मनोवृत्ति उनमें दिखायी नहीं देती। उस युग के कवियों को अगत्या ही नहीं इच्छा-नुसार भी शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने में कोई सङ्कोच न होता था। रीतिकालीन कवियों ने ब्रजभाषा में अन्य बोलियों के शब्दों को ही नहीं, प्रत्युत उनके कारक चिह्नों एवं क्रिया-रूपों को भी ग्रहण कर लिया था। इसका प्रभाव परवर्त्ती कवियों पर भी पड़ा। प्राचीन कवियों की भाषा का आदर्श सम्मुख रखकर जो कवि आगे बढ़े, उनकी भाषा में भी वे दोष ज्यों-के-त्यों आ गये, फलतः ब्रजभाषा का रूप स्थिर न हो सका। रत्नाकरजी की पैनी दृष्टि से ब्रजभाषा की यह अस्थिरता छिपी न रह सकी, अतः जिस

प्रकार द्विवेदीजी ने आने प्रयत्न से खड़ीबोली को व्याकरण सम्मत एवं साहित्यिक रूप प्रदान किया, उसी प्रकार रत्नाकरजी ने भी अपनी रचनाओं द्वारा ब्रजभाषा का व्याकरण—सम्मत, शुद्ध तथा साहित्यिक रूप हिन्दी-संसार के सम्मुख उपस्थित किया। इस विषय में तत्कालीन मनीषा को आकर्षित करने के लिए ही उन्होंने 'साहित्यिक ब्रजभाषा तथा उसके व्याकरण की सामग्री' शीर्षक लेख लिखा था। इस लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि रत्नाकरजी ने ब्रजभाषा का स्वरूप स्थिर करने के लिए कुछ नियम बना लिये थे। संक्षेपतः वे नियम ये हैं :—

१. प्रयोग-बाहुल्य-ग्रहण—जहाँ किसी पद के दो रूप प्रचलित हों, वहाँ जो रूप बहुसंख्यक कवियों द्वारा प्रयुक्त हो उसे ग्रहण कर लेना चाहिए तथा अल्प प्रयुक्त रूप का परित्याग कर देना चाहिए।

२. शिष्ट-प्रयोग-ग्रहण—जहाँ किसी पद के दो रूप दृष्टिगोचर हों, वहाँ जो रूप श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं में दिखायी दे वह ग्राह्य और जो सामान्य कवियों की रचनाओं में परिलक्षित हो वह त्याज्य होना चाहिए।

३. लोकव्यवहार-ग्रहण—प्रयोग-बाहुल्य के कारण यदि किसी पद के दो रूपों में ग्राम्य रूप और साहित्यिक रूप के निर्णय में कठिनता हो तो लोक-व्यवहार का अनुसरण समीचीन होगा। कभी-कभी तो प्रयोग-बाहुल्य और शिष्ट प्रयोग की उपेक्षा करके भी लोक-व्यवहार-अनुसरण सङ्गत होता है।

४. पूर्व रूप—कभी-कभी किसी पद के ग्राह्यरूप के लिए भाषा वैज्ञानिक विकास-क्रम के अनुसार निर्दिष्ट भाषा के पूर्व की भाषा में उसी पद की स्वरूप-परीक्षा उचित होती है और इस परीक्षा के परिणाम स्वरूप ही उसके रूप का ग्रहण युक्तियुक्त होता है।

५. आपत्प्रयोग-परित्याग—किसी पद के प्रचलित दो रूपों में यदि एक रूप कवियों द्वारा सामान्यतः प्रयुक्त दिखायी दे और दूसरा रूप छन्द, अनुप्रास इत्यादि की अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति के हेतु गृहीत हो तो ऐसे रूपों में आपत्प्रयुक्त रूप अग्राह्य है।

६. आपत्प्रयोगानुकरण-परित्याग—पूर्ववर्ती कवियों के आपत्प्रयुक्त रूपों की देखा-देखी, बिना अनिवार्य आवश्यकता के उनका प्रयोग युक्तियुक्त नहीं है।

७. संदिग्ध प्रयोग-परित्याग—किसी शब्द के दो रूपों में से यदि एक रूप उसके अन्य प्रतिपदक के किसी रूप से मिलता हो और दूसरा भिन्न हो तो जो रूप भिन्न होता है, वही ग्राह्य होता है।

८. सांसारिक पद का परित्याग—किसी पद के दो रूपों में जो रूप निर्दिष्ट भाषा के प्रयोक्ताओं द्वारा स्वभावतः प्रयुक्त होता है वह ग्राह्य और जो विदेशियों के

संसर्ग के कारण प्रयुक्त होने लगता है वह प्रायः त्याज्य होता है ।

६. लेख-लाघव प्रयोग--किजी पद के दो रूपों में से जो रूप उच्चारण के अनुसार शुद्ध लिखा जाता है वह ग्राह्य होता है और लेखक की असावधानी के कारण जिन रूपों में अंत्य इकार उकार इत्यादि रह जाते हैं वे हातव्य होते हैं । उनका अनुकरण नहीं करना चाहिए ।

इन नियमों का उन्होंने सर्वत्र पालन किया है; इसीलिए उनकी भाषा में विन्यस्त साहित्यिक एकरूपता उपपन्न है । बहुत ढूंढने पर ही उनकी रचनाओं में दो-चार ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ व्याकरण सम्बन्धी कुछ सामान्य भूलें रह गयी हैं, अन्यथा उनकी भाषा सर्वत्र प्रौढ़, परिमार्जित एवं व्याकरण-सम्मत है । उदाहरणार्थ च्युत-संस्कृति दोष का एक प्रमाण यह है :—

“फिर यह आनन कहाँ कहाँ यह नैन अभागी”

यों कहि झिलखि निहारि नृपति-रख रोवन लागी ॥^१

यहाँ ‘नैन’ शब्द पुल्लिङ्ग है, परन्तु विशेषण ‘अभागी’ स्त्रीलिङ्ग में आया है । ‘नैन अभागी’ के स्थान में ‘नैन अभागे’ होना चाहिए था । सम्भवतः अन्त्यानुप्रास की रक्षा के लिए ही उन्होंने ऐसा किया है, परन्तु यह प्रयोग न तो व्याकरण सम्मत है, और न आपत्प्रयोग की दृष्टि से रत्नाकर जैसे कवि के लिए क्षम्य । एक और उदाहरण लीजिए :—

फिरयो अस्व चहुँ ओर छोर छिति की सब छानी ।

पै मनसायी नैकु नाहिँ कोउ प्रतिभट मानी ॥^२

यहाँ छोर शब्द पुल्लिङ्ग है, परन्तु क्रिया ‘छानी’ स्त्री लिङ्ग है, अतः यह प्रयोग भी व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है । उनकी रचनाओं में इस प्रकार की भूलें क्वचित् ही दिखायी देती हैं ।^३ भाषा की दृष्टि से रत्नाकरजी अपने युग के कवियों से ही नहीं प्रत्युत अपने पूर्ववर्त्ती कवियों से भी आगे बढ़े हुए दिखायी देते हैं । ब्रज-भाषा साहित्य में केवल घनातन्द ही ऐसे हैं जो ब्रजभाषा के माधुर्य-ऐश्वर्य में कहीं-कहीं रत्नाकरजी से बाजी मार ले जाते हैं; अन्य कोई कवि इस क्षेत्र में उनकी समता नहीं कर सकता ।

१. हरिश्चन्द्र, पृष्ठ ८४, सर्ग ३, छन्द-संख्या २७ ।

२. गंगावतरण, पृष्ठ १९९, सर्ग १, छन्द-संख्या २३ ।

३. To be good only, is to be

A God or else a Pharisee.

Blake—The Everlasting Gospel

नवम-अध्याय

रत्नाकर का भाव-वैभव

रस-योजना

संयोगशृङ्गार

रत्नाकरजी रसिक कवि थे। उनका भावुक हृदय शृङ्गार-निरूपण में ही अधिक रमा है। स्थूल रूप से, रति-भावना के अन्तर्गत भक्ति, स्नेह, प्रेम, वात्सल्य सभी का समाहार हो जाता है।^१ शृङ्गार के विस्तृत क्षेत्र में प्राणि मात्र का समावेश है, किन्तु निर्विकल्प नैतिकतावादी इसे असलील तथा गहिर्त बता कर बहिष्कृत कर देना उचित समझते हैं।

काव्य ही नहीं कला मात्रमें शृङ्गारिकताके औचित्य को लेकर शताब्दियोंसे विद्वानों में मत-भेद चला आ रहा है। 'प्लेटो' ने भी एक दिन काव्य को वासनाओं का उद्दीपक और अनैतिकता का प्रचारक घोषित करते हुए एथेन्स नगर से कवियों के निष्कासन का मन्तव्य दिया था, किन्तु उसी के शिष्य अरस्तू ने यह स्वीकार करते हुए भी कि काव्य भावनाओं का उद्दीपक है तथा भावनाएँ प्रकृत्यः थोड़ी बहुत अनैतिकता की ओर उन्मुख हैं, अत्यन्त सबल शब्दों में यह तर्क उपस्थित किया था कि भावनाओं को अत्यधिक-उभार कर काव्य उनका रेचन कर देता है, फलतः वे शान्त हो जाती हैं और इस प्रकार विकार-प्रसित अस्वस्थ मन को काव्य स्वस्थ बना देता है।^२ इस दृष्टिकोण से भारतीय दृष्टिकोण एक कदम और आगे बढ़ा हुआ है, क्योंकि यूनानी विद्वानों के मतानुसार काव्य यदि अस्वस्थ मन को स्वस्थ बनाता है, तो भारतीय दृष्टिकोण से वह स्वस्थ मन

१. "रतिर्मनोनुकूलैर्ये मनसः प्रवगायितम्"

विद्वत्पात्र-साहित्यदर्पण-३/ १७६

2. (Plato had objected to poetry because it excites the emotions. "So it does," answers Aristotle, "but by exciting them it releases them, and so its ultimate effect is to make men less emotional.") Greek Literary Criticism by J. D. Denniston—Page xvii Edition 1924

वाले सहृदय को निर्वृति प्रदान करता है, अतः काव्य में शृङ्गार की उपस्थिति अग्राह्य नहीं है। 'भरत' ने तो लोक में जो कुछ पवित्र और दर्शनीय है उसे शृङ्गार के ही अन्तर्गत ग्रहण कर लिया है।^१

वस्तुतः शृङ्गार का बहिष्कार न तो पहले ही कभी हो सका और न अब अथवा भविष्य में ही होना सम्भव है। द्विवेशी युगीन पाषाणी जड़ता भी अभिराम प्रणय स्पर्श-बिना जीवन की उष्णता का अनुभव न कर सकी थी। छायावाद के आश्लेष ने ही उसके प्राणों की बीन पर बसन्त छेड़ दिया था। विश्व-साहित्य का तीन चौथाई भाग शृङ्गारिक भावनाओं से ओत-प्रोत है। किसी भी भाषा के साहित्य से यदि शृङ्गार-रसात्मक कृतियों का बहिष्कार कर दिया जाय, तो अवशिष्ट ही क्या रहेगा? अश्चर्य तो तब होता है जब संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू तथा फारसी-साहित्य की शृङ्गार परक अभिव्यक्तियों को भूरिशः संवर्धन करने वाले हिन्दी में शृङ्गारिक भावनाओं को देख कर नाक-भों सिकोड़ते हुए 'शान्तं पापम्' पुकार उठते हैं।

शृङ्गार तथा लौकिक अश्लीलता को पर्यायवाची समझना भूल है। शृङ्गार का भौतिक रूपा कतिपय परिस्थितियों में त्याज्य है, परन्तु काव्यगत रसानुभूति सत्त्व प्रधान होने के कारण किसी भी प्रकार गृहीत नहीं है। सत्त्व जब तक रजस् और तमस् से आवृत्त रहता है तब तक अन्तःकरण विक्षुब्ध एवं रसानुभूति में असमर्थ रहता है। ऐसी दशा में वासना, लालसा, अमर्ष, भय, घृणा इत्यादि के विक्षोभ से उत्पीड़ित हृदय रसास्वादन में उही प्रकार असमर्थ रहता है, जिस प्रकार माया-वेष्टित जीव ब्रह्मानन्द की अनुभूति में अक्षम रहता है; किन्तु रजस् और तमस् के सङ्कोच तथा सत्त्व के विस्तार से हृदय उस आर्जव को सहज ही प्राप्त कर लेता है, जिसकी स्थिति रसानुभूति के लिए अनिवार्यतः आवश्यक है।^२ शृङ्गार रस का स्थायी भाव रति है, परन्तु शृङ्गार

१. "यत्किञ्चित्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते"

—नाट्य शास्त्र अध्याय ६ चोखम्बा सीरीज

२. (क) आनन्दो ह्ययं न लौकिकमुखान्तरसाधारणः, अन्तःकरण-वृत्तिरूपत्वात्।

रसगङ्गाधर-रसप्रकरणम्

(ख) चर्चणा चास्य विदग्धावरणभङ्ग एव प्रागुक्ता, तदाकाराज्ज-
—करणवृत्तिर्वा।

रसगङ्गाधर-रस प्रकरणम्।

रस का अर्थ रति की प्रत्यक्षानुभूति नहीं है ।^१ शृङ्गार, कष्ट, हास्य इत्यादि रसों में तन्मयता होने पर लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति होती है, परन्तु उनके मूल में स्थित भावों की प्रत्यक्षानुभूति नहीं होती । रसानुभूति तो रति इत्यादि भावों से उपद्रुत वह चित्त-वृत्ति विशेष है जिसका कारण साहित्यिक संवेदना है । इस प्रकार की अनुभूति सहृदय ही कर सकते हैं; यही कारण है कि मनीषियों ने रस को सहृदय-संवेद्य कहा है । इन्द्रियों द्वारा जो आनन्दानुभूति होती है, उससे रसात्मक आह्लाद सर्वथा भिन्न है । इसी कारण रस चर्चणा से प्राप्त आनन्द अतीन्द्रिय अथवा लोकोत्तर माना जाता है । जीव-धर्म के तिरोधान एवं आत्म-धर्म के स्फुरण से भावकत्व का जो व्यापार घटित होता है, उसमें लौकिक-अमाधारण-धर्म बहिष्कृत होकर साधारणीकृत हो जाते हैं, फलतः रति, उत्साह इत्यादि चित्तवृत्तियाँ आत्म-भास्य होकर अलौकिक आनन्द का उद्रेक करती हैं ।

रति मानव हृदय की वह वृत्ति है जो विरकाल से उसके विभिन्न क्रियाकलापों का सञ्चालन करती आयी है । हृदय में यदि किसी अच्छे अथवा बुरे कार्य के लिए प्रेरणा उत्पन्न न हो, तो मनुष्य किसी कार्य के लिए प्रयत्नशील भी नहीं हो सकता और इसमें सन्देह नहीं कि मानव की प्रेरक शक्तियों में सहज-काम-प्रवृत्ति (libido) का स्थान अतीव महत्वपूर्ण है ।^२

1. And we may say here, what we shall emphasize at a later stage, that the aim of poetry is never to create emotion; its aim is to convey an imaginative idea or object. It may be that that conveyance is accompanied by the occurrence of emotion but such emotion is incidental to the main end of poetry, which is the expression and communication of an object or objects as they are present to the imagination of the poet. Indeed, we may go so far as to say that, so far as its intention goes, poetic language is no more 'emotive' than scientific language.

D.G. James—Scepticism And Poetry.

Page 30 (Edition 1937)

२. (क) "All thoughts, all passions, all delights,
Whatever stirs this mortal frame

काम-वृत्ति जीवन को सज्जीतमय बनाने वाली है। इसी कारण प्रतिभाशाली अनेक महान कवियों ने शृङ्गार को आनाया और उसका विशद चित्रण किया। कुछ आलोचकों के मतानुसार तो जीवन में शृङ्गार ही प्रधान है।^१ रति जीवन का प्रधान अङ्ग है, और काव्य है जीवन की व्याख्या, इसीलिए काव्य में शृङ्गार रस का प्राधान्य है।

शृङ्गार में कठोर मर्यादा पालन की जो बात उठायी जाती है वह एक प्रकार से उसे अस्वाभाविक बनाने वाली है। यथार्थ जीवन पर ही विचार करें तो रति में नैतिकता कितनी रहती है? प्रत्यक्षानुभूति से काव्यानुभूति पृथक् वस्तु है। प्रत्यक्षानुभूति में दृश्यमान जगत् से गृहीत संस्पर्श दुःख-सुखात्मक होते हैं, परन्तु काव्यानुभूति में प्रत्यक्षानुभूति की छाया होते हुए भी व्यावहारिक सुख-दुःख के भेद का तिरोधान हो जाता है।^२ आवेगों के प्रत्यक्ष आवेश में कवि की सृजनात्मिकाशक्ति अवसादित हो जाती है, अतः ऐसी स्थिति में कलाकार कला-सर्जना में असमर्थ रहता है, किन्तु आवेग के क्षण व्यतीत हो जाने पर, कवि की स्मृति उनका भावन अथवा मानसिक पुनरावर्त्तन

All are but ministers of Love,

And feed his sacred flame."

—Coleridge : Ode to Love.

(ख) "काम मंगल से मंडित श्रेय

सर्ग, इच्छा का है परिणाम;

तिरस्कृत कर उसको तुम भूल,

बनाते हो असफल भवधाम।"

प्रसाद-‘कामायनी’—अध्या पृष्ठ ६१

१. शृङ्गाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात् सर्वरसेभ्यः

कमनीयतया प्रधानभूतः।

—ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत-कारिका २९ (व्याख्या)

२. The ‘luminous apprehension of the present’—to use Joyce’s words—is seen by Yeats as the artist’s cross:

The nobleness of the Arts is in the mingling of Contraries, the extremity of sorrow, the extremity of joy, perfection of personality, the perfection of its surrender, overflowing turbulent energy, and marmorean stillness; and its red rose opens at the meeting of the

कर लेती है। यही वह काव्यानुभूति है जो प्रत्यक्षानुभूति की छाया से युक्त होते हुए भी मात्र आनन्दमय, रमणीय अथवा सरस होती है तथा साधारणीकृत होकर प्रमाता के आस्वादानुभव, चर्वणा, या रसानुभूति में प्रतिभासित होती है। यही कारण है कि संसार के सभी शृङ्गारी कवियों ने शृङ्गार के निरूपण में मर्यादा की विशेष चिन्ता नहीं की है। सूर जैसे महाकवि ने भी शृङ्गार के निरूपण में नैतिकता का अतिक्रमण किया है। इस दृष्टि से तुलसी ही ऐसे कवि हैं जिनका शृङ्गार मर्यादित कहा जा सकता है, परन्तु इसी के साथ यह भी निर्विवाद है कि हिन्दी-साहित्य में शृङ्गार का रस-राजत्व केवल 'सूर' ही दिखा सके हैं।^१ निश्चय ही वात्सल्य और शृङ्गार के क्षेत्र में 'तुलसी' सूर की समता करने में असमर्थ हैं।

शृङ्गार का विरोध नैतिक दृष्टि से ही हो सकता है, किन्तु जीवन की व्याख्या करने वाला कलाकार जीवन की इस प्रधान उमङ्ग को कभी छोड़ नहीं सकता। कलाकार तो एक ऐसे भाव-लोक का निर्माण करता है जिसमें नायक-नायिका का यौवनावेश तथा उमङ्गें तो विद्यमान रहती हैं, परन्तु स्थूल शरीर उपस्थित नहीं रहता। भाव-लोक के इन प्राणियों को देखने-सुनने-समझने की शक्ति सामान्य व्यक्तियों में नहीं होती। कलामर्मज्ञ सहृदय को छोड़कर इतर व्यक्ति केवल स्थूल दृष्टि से इन चित्रों को देखते हैं, अतः उन्हें कला-वृत्तियों में अनैतिकता दृष्टिगोचर हो सकती है; परन्तु कलाकार के नेत्र, भावलोक के प्राणियों को लौकिक लालसा से नहीं सौन्दर्य एवं भावाभिव्यञ्जन के साफ्त्य की दृष्टि से देखते हैं। कलाकार स्थूल जगत का उपासक न होकर भावों के सूक्ष्मतरंग संसार का पुजारी होता है। इसी कारण राजशेखर ने काव्यमीमांसा के छठे अध्याय में यजुर्वेद और ऋग्वेद से उदाहरण उपस्थित करते हुए कहा है कि प्रसङ्गवश अश्लील अर्थों का वर्णन काव्यों में ही नहीं वेदों और शास्त्रों में भी किया गया है।

कलाकार यदि यही सोच ले कि उसकी कला नैतिकता का अतिक्रम करती है, तो वह कला की पूर्ण साधना कदापि नहीं कर सकता। वह तो अनैतिकता के समुद्र में भी भाव-रत्न खोज लेता है। हित-अहित की शक्ति वस्तु में नहीं उसके उपयोग

two beams of the cross, and at the trysting-place of mortal and immortal, time and eternity.

George Whalley—Poetic Process

Page 23 (Edition 1953)

में निहित है। सब कुछ भस्म कर देने वाला स्वाहाप्रिय ही भोजन भी पकाता है, जल में डूबकर मनुष्य यदि प्राण खो बैठता है, तो जल जीवन भी है, विष यदि घातक है तो वह औषधि भी है। कलाकार भी शृङ्गार के उसी विशेषत्व को ग्रहण करता है जो जीवन को सङ्गीतमय बनाता है।

भारतेन्दु-युग के जिन कवियों के सम्पर्क तथा मध्ययुग के जिन कवियों के अनुशीलन ने रत्नाकरजी की कला को अङ्कुरित, पलरुवित, पुष्पित तथा फलित किया था, उन कवियों ने भी शृङ्गार को कभी गंहित नहीं समझा था। संयोग पक्ष की विभिन्न क्रीड़ाओं के विस्पष्ट चित्रण में स्वयं भारतेन्दुजी को भी कोई सङ्कोच नहीं हुआ है। प्रत्यय हेतु उनका यह कवित्त द्रष्टव्य है :—

“साजि सेज रंग के महल में उमंग भरी
पिय गर लागि काम-कसक मिटाएँ लेत ।
ठानि बिपरीत पूरी मन के मसूसन सों
सुरत समर जयपत्रहि लिखाएँ लेत
'हरीचन्द' उक्तकि उक्तकि रति गाढ़ी करि
जोम भरि पियहि झकोरन हराएँ लेत
याद करि पी की सब निरवय घातें आज
प्रथम समागम कौ बदलौ चुकाएँ लेत ॥^१

इसी भाव पर रत्नाकरजी का कवित्त यह है :—

“प्यारे परबीन कौ बनायौ नवला नबीन ,
नायक प्रबीन बनि आप उर लाए लेति ।
छल कं छत्रीलौ ज्यों ज्यों भरन न देत अंक ,
त्यौहीं त्यौ निसंक भुज भरि लपटाए लेति ॥
झूमि झूमि लेति सुख चूमि चूमि लेति मुख ,
झूमि झूमि ऊरनि तैं उर तैं बबाए लेति ।
पूरन प्रभाव बिपरीति कौ प्रकासि प्यारी ,
प्रथम समागम कौ बदलौ चुकाए लेति ॥^२

भारतेन्दु युग की इस मनोवृत्ति से रत्नाकरजी का प्रभावित होना सर्वथा स्वाभाविक था। वस्तुतः आधुनिक युग में वे अपरिच्छिन्न रूप से रीतिकालीन प्रवृत्तियों के

१. भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृष्ठ १६९

२. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३३७। ३३८, छन्द-संज्ञा ६३

अन्यतम प्रतिनिधि थे । स्वयं धनवान होने, तथा अयोध्या के राज-घराने से सम्बन्ध होने के कारण भी राजसी विलास और अमोद-प्रमोद से वे भली भाँति परिचित थे । उर्दू-फारसी के श्रेष्ठ विद्वान् होने के कारण उनकी शृङ्गारिक प्रवृत्ति और भी उद्दीप्त हो गयी थी, अतः आधुनिक काल के कवि होते हुए भी उन्होंने रीतिकालीन कवियों के समान संयोग शृङ्गार के रङ्गीन चित्र उपस्थित किये । निम्नस्थ उदाहरण से भी यही प्रकट होता है कि संयोगशृङ्गार के वर्णन में उनका दृष्टिकोण शुद्ध साहित्यिक था, नैतिक नहीं :—

मान कियौ मोहन मनीसी मन मौज मानि ,
पानि जोरि हारों जब सखियाँ मग्यौ नहीं ।
तब बरजोरी करि नवल किसोरी भेस ,
ल्याई केलि-भौन नकुं टेकहि गग्यौ नहीं ॥
प्यारी बनि प्रीतम भुजनि भरि लीग्यौ उन ,
कल छल कीग्यौ बडु जात सु भग्यौ नहीं ।
प्रयम समागम सौ सबही बग्यौ पै एक ,
अंक तैं छटक छूटि भाजत बग्यौ नहीं ॥^१

रत्नाकरजी ने संयोगशृङ्गार के ऐसे चित्र अधिक नहीं उतारे हैं । उनके मुक्तकों में ही इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं । वस्तुतः मुक्तक रचनाओं के लिए ही ये उपयुक्त भी हैं; उनके प्रबन्ध काव्यों में प्रायः इनका अभाव ही है । नैतिक दृष्टि से ऐसी अवतारणा भले ही अव्याजनीय हो, परन्तु मात्र इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी रचनाएँ कविता नहीं हैं, अथवा रत्नाकरजी कवि नहीं हैं । जिन रीतिकालीन कवियों का अनुसरण करते हुए रत्नाकरजी ने इस प्रकार के चित्र उपस्थित किये हैं उन्हीं कवियों की कलात्मक विशेषताओं का मूल्याङ्कन करने पर पं० रामचन्द्र शुक्ल जैसे सतर्क आलोचक को भी कदर्यना नहीं सम्मर्धना ही करनी पड़ी है ।^२

कविवर रत्नाकरजी सतृणाभ्यवहारी नहीं हैं । उनकी दृष्टि रीतिकालीन कवियों से कहीं अधिक पैनी है । स्वाभाविक मनोवेगों की उन्होंने कहीं भी उपेक्षा नहीं की है । शृङ्गार शब्द का तो अर्थ ही कामोद्रेक की प्राप्ति है,^३ अतः विपरीत रति इत्यादि के

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३३३, छन्द-संख्या ४९

२. द्रष्टव्य, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २६३—संस्करण संवत् १९९९

३. शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।

उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इव्यते ।

साहित्यवर्षण—तृतीयः परिच्छेदः—का० १८३

वर्णनों में उन्होंने परम्परा का अनुसरण मात्र किया है।^१ जहाँ पुरानी लीक का परित्याग करके उन्होंने स्वतन्त्र शृंगारिक चित्रों का निर्माण किया है, वहाँ तो उनके वर्णन निश्चय ही भावपूर्ण तथा कलात्मक बन पड़े हैं।

कला सौन्दर्य का सुव्यवस्थित व्यक्तीकरण है; ^२ कला के अन्तर्गत बाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही प्रकार के सौन्दर्य की अभिव्यञ्जना आ जाती है। इस दृष्टि से काव्य भी एक कला है, क्योंकि कवि बाह्य सौन्दर्य-निर्माण के साथ आन्तरिक सौन्दर्य-सर्जना में भी दत्तचित्त होता है। सौन्दर्य-वर्णन की यह सुविधा शृंगार रस में जितनी अधिक है, उतनी इतर रसों में नहीं। संयोग में भुक्त और वियोग में अभुक्त रति ही इस का स्थायी भाव है। नायक एवं नायिका आलम्बन विभाव; सङ्गीत, षट्श्रुतु, केलिकुञ्ज, एकान्तस्थान, पवन, भ्रमर, कोयल, सखी, दूती, चाँदनी रात, परिहास इत्यादि उद्दीपन विभाव और कटाक्ष, भ्रूभङ्ग, हाव-भाव, मृदुहास्य प्रभृति इस रस के अनुभाव हैं। कायिक, मानसिक, आहार्य तथा सात्विक ये इन अनुभावों के चार भेद हैं। पुरुषों में विशेष परिस्थितियों में ही 'हाव' दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु स्त्रियों में ये स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहते हैं। तैत्तिरीय सञ्चारी भावों में से जुगुप्सा, आलस्य, मरण तथा उग्रता को छोड़ कर शेष सभी शृङ्गार रस में दृष्टिगत होते हैं, अतः इसमें सञ्चारी भावों की संख्या अन्य सब रसों से अधिक है। शृंगार रस के दो पक्ष हैं, अर्थात् संयोग शृङ्गार और वियोग या विप्रलम्भ शृङ्गार। संयोग शृङ्गार में नायक-नायिका के प्रेमावेश, मिलन, दर्शन, स्पर्श, संलाप इत्यादि तथा दस हावों का वर्णन

१. साहित्यदर्पण की एक कारिका यह भी है:—

“सुरतारम्भगोष्ठ्यादावलीलत्वं तथा पुनः (गुणो भवेत्)”

साहित्यदर्पण—कारिका १७—सप्तम परिच्छेद।

२. “It is beauty he (Plato) asserts, that sends the soul on its quest for the vision of the ideal; and the quest ends with a sudden apprehension of truth in all its beauty, with insight into reality. And like to this, he implies, is the working of poetic “inspiration.”

J.W.H. Atkins—Literary Criticism in antiquity—

होता है ।^१ संयोग-समय में स्त्रियों की स्वाभाविक चेष्टाओं को ही हाव कहा जाता है ।

रत्नाकरजी के संयोगशृङ्गार के आलम्बन राधा-कृष्ण हैं । सूर, नन्ददास इत्यादि भक्त कवियों ने भी राधा-कृष्ण को ही आलम्बन मानकर अपनी भक्ति-भावना प्रकट की है, परन्तु कृष्णभक्ति शाखा के कवियों से रत्नाकरजी के राधा-कृष्ण अनेक स्थलों पर भिन्न हो जाते हैं । रति में आश्रय तथा आलम्बन दोनों ही पार्थिव होते हैं, परन्तु भक्ति में आलम्बन अपार्थिव होता है । भक्त की वासना अमूर्त आलम्बन से सूक्ष्म रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेती है; किन्तु रत्नाकरजी ने कृष्ण-भक्ति-शाखा के भजनानन्दी कवियों के समान राधा-कृष्ण का चित्रण नहीं किया है । उनके राधा-कृष्ण रीतिकालीन कवियों के ही राधा-कृष्ण हैं । यही कारण है कि राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला में उनकी भक्ति-भावना के दर्शन यदा-कदा ही होते हैं । 'शृङ्गारलहरी' तथा 'उद्धवशतक' के सम्मिलित रूप में उनके कृष्ण-काव्य का जो स्वरूप निर्मित होता है, उसमें भक्त कवियों की तल्लीनता के स्थान पर रीतिकालीन कवियों जैसी शृङ्गारप्रियता ही अधिक मुखर है, अतः रत्नाकरजी मूलतः भक्त नहीं, शृंगारी कवि है ।

उनके राधा-कृष्ण रीतिकालीन कवियों के राधाकृष्ण की भाँति प्रणय-व्यापार में प्रवीण हैं । कृष्ण प्रधानतः दक्षिण नायक हैं और राधा हैं उनकी मुख्य प्रेयसी । रत्नाकरजी की रचनाओं में प्रायः परकीयानिष्ठ प्रेम का ही निरूपण हुआ है । उनकी कुछ शृङ्गारिक रचनाएँ अनुभूति-रोषित हैं, तो कुछ ऐसी भी हैं जिनमें रीतिकालीन नायिका-भेद की प्राचीन परिपाटी का अन्वादेश मात्र है; तथापि नायिकाभेद-प्रणाली पर उन्होंने किसी स्वतन्त्र-ग्रन्थ की रचना नहीं की है । हाँ, रीतिकालीन कवियों के अध्ययन के कारण वे नायिका-भेद से परिचित अवश्य थे और इसी ज्ञान तथा व्यक्तिगत अनुभव से उन्होंने जो चित्र उतारे हैं, वे आकर्षक भी हैं तथा कलात्मक भी । अस्तु, स्वकीया तथा परकीया का अलग-अलग वर्णन करके नायिकाओं के विभिन्न भेदों को उन्होंने भले ही न गिनाया हो, परन्तु रीतिकालीन मुक्तक काव्यों के प्रेमी-प्रेमिकाओं की अभिलाषा, उत्कण्ठा और कुलमर्यादा-भङ्ग कर देने वाले उन्मत्त प्रेम का उन्होंने आकर्षक वर्णन अवश्य किया है । 'शृङ्गारलहरी' के कृष्ण का शृंगार-वर्णन बहुत कुछ इसी उन्मुक्त शैली का प्रेम है । 'उद्धवशतक' के कृष्ण 'शृंगारलहरी' के कृष्ण से अपेक्षाकृत अधिक प्रेम-विह्वल हैं । 'हिंडोला' काव्य के राधा-कृष्ण का संयोग शृङ्गार तो असन्दिग्ध रूप

१. बस हाव ये हैं :—

लीला, विलास, विच्छित्त, ललित, बिम्बोक, किलकिचित्, विह्वत, बिभ्रम, मोहयत, कुटुमित ।

से मांसल मादकता से आसन्न है । उदाहरणार्थ ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य है :—

एक बेर निज ओर पैंग की हेत ऊँचाई ,
सम्हरि न सकी सयानि सरकि प्रीतम-उर आई ।
लियौ लल भरि अंक रंक संपति जनु पाई ,
भौवक सी ह्व रही कही मुख बात न आई ॥

सावधान ह्व छूटि भुजनि सौं पुनि बिलगाई ,
भ्रकुटी-कुटिल-कमान डिडाई जानि चढ़ाई ।
करि गंभीर रचना चतुराई सौं बैननि में ,
छमा कराई छैल छबीली सौं सैननि में ॥

पुनि मन में कछु गुनि गोपाल मंद मुसुकाने ,
निरखि नबेली-ओर कटाच्छनि सौं ललचाने ।
अति अद्भुत उत्तर ताकी तब दियौ रसीली ,
ओठ हलाइ ग्रीव मटकाइ रही गरबीली ॥

अधर दबाइ हलाइ ग्रीव मुसबयाइ मंद अति ,
भलौ भलौ कहि कान्ह ठानि मन अचगरि की मति ।
मिस करि जानि बूझि बरबसहि सरकि इत आए ,
चकचकाइ चट प्यारी सौं गाढ़ लपटाए ॥

औवक अमल करोल झूमि चउ पुनि झिलगाने ,
ललिताविक-दिसि देखि दबाइ दृगनि इडलाने ।
लाड़नि लोचन किये लाड़िली कछु अनखींहुं ,
पै लखि लाल अधीर धीर धरि किये हँसोंहुं ॥^१

यहाँ कटाक्ष, भ्रूविक्षेप, मुसकान इत्यादि अनुभावों का चित्रण अतीव सजीव है । मनोवेगों का ऐसा स्वाभाविक वर्णन कवि के सूक्ष्म निरीक्षण की नितात अनेका रक्षता है । रत्नाकरजी के 'हिंडोला' काव्य में आदि से अन्त तक संयोग शृंगार का प्रायः ऐसा ही वर्णन है । इधर 'शृंगारलहरी' के राधा कृष्ण की प्रणय-रीति भी रीतिकालीन

राधा-कृष्ण जैसी ही है। उन्मुक्त प्रेम से उन्मद होकर नायिका यहाँ 'कुलकानि' तक के बन्धन तोड़कर प्रिय-दर्शन के लिए लालायित हो उठी है। औत्सुक्य तथा चपलता इन दो सञ्चारी भावों से युक्त हृदय की-आतुरता का यह वर्णन प्राणों की चेतना से दीप्त है :—

अब न हमारौ मन मानत मनाए नैकुं ,
टेक करि बापुरौ बिबेक नखि लेन देहु ।
कहै रतनाकर सुधाकर-सुधा कौं धाइ ,
तृषित चकोरनि अघाइ चखि लेन देहु ॥
संक गुः लोगनि के बंक तकबे की तजि ,
अंक भरि सिगरी कलंक सखि लेन देहु ।
लाज कुल-कानि के समाज पर गाज गेरि ,
आज बजर्राज की लुताई लखि लेन देहु ॥^१

कहीं-कहीं स्वाभाविक व्यापारों के उपधान से ही कवि ने कल्पना का मनोरम चमत्कार उपस्थित कर दिया है। राधा-कृष्ण की इस अचानक भेंट का यह कलात्मक चित्र ऐसा ही है :—

औचक अकेले मिले कुंज रस पुंज दोऊ ,
भोवक भए औ सुधि बुधि सब खवै गई ॥
कहै रतनाकर त्यों बानक बिचित्र बग्यौ ,
चित्र की सी पलकें सुभौंहनि में पवै गई ॥
नैननि में नैननि के बिब प्रतिबिंबनि सौं ,
दोऊ ओर नैननि की पाँति बँधि द्वै गई ।
दोउनि कौं दोउनि के रूप लखिबैं कौं मनौ ,
चार आँख होत हौं हजार आँख हवै गई ॥^२

रतनाकरजी का हृदय प्रेम की विविध उमङ्गों का अक्षय भाण्डार है। स्वाभाविकता में कलात्मकता के समावेश ने उनकी रचनाओं में सोना और सुगन्ध की कहावत चरितार्थ कर दी है। छद्मवेशधारी कृष्ण की राधा से यह भेंट भी बड़ी अनौखी है :—

१. भृंगारलहरी, पृष्ठ ३१६, छन्द—संख्या ३

२. वही, पृष्ठ ३२७, छन्द—संख्या ३३

चंचल चार सलोनी तिया इक, राधिका कं ढिग आइ अजानी ।

बं कर कागद एक कह्यो बस, रीझिबो मोल है याकौ सयानी ॥

चित्र तें बीठि चितेरिनि ओर, चितेरिनि तें पुनि चित्र पै आनी ।

चित्र समेत चितेरिनि मोल लै, आपु चितेरिनि-हाथ बिकानी ॥^१

रत्नाकरजी ने निम्नोक्त वर्णन भी रीतिकालीन कवियों की शैली में ही उपस्थित किया है । नायिका यहाँ रूपगविता तो है ही, श्लिष्ट शब्दों से प्रिय को सङ्केत देने के कारण वचन-विदग्धा भी है :—

बीठि तुम्हें छुवें छली पलट्यो रंग ,

बीसत सांवरी साज सबै है ॥

कहै रतनाकर रावरे अंगनि ,

चेटक पेखि प्रतच्छ परं है ॥

देति हें गोरस ठाढ़े रहौ उत ,

रार करं कछु हाथ न ऐहें ।

सांवरे छेल छुवौगे जो मोहि तो ।

गातनि मेरे गुराई न रैहै ॥^२

यह सवैया सम्भवतः 'महाकवि' के अधोलिखित सवैया से प्रेरणा प्राप्त करके लिखा गया है :—

राधिका माधव एक ही सेज पे धाइ लं सोई सुभाय सलोने ।

पारं "महाकवि" कान्ह के मध्य में राधे कहै यह बात न होने ॥

सांवरे सों मिलि ह्वं है न सांवरी, बावरी बात सिखाई है कौने ,

सोने को रंग कसौटी लगं पै कसौटी को रंग लगं नहि सोने ॥^३

इस सवैया की अन्तिम दो पंक्तियों के भाव को कुछ परिवर्तित रूप में ग्रहण करके कवि ने अपने सवैया के भावों को पल्लवित किया है; परन्तु इतनी सी बात लेकर उसने अपनी रचना में जो अभिनव आकर्षण और कलात्मकता समाविष्ट कर दी है, वह कवि की विवेचनशीलता पर ही आधृत है । शब्दों के इस अद्भुत ऐंद्रजालिक और भावलोक के अनुपम चित्रकार के हाथों में पड़कर, किसी भी कवि की उक्ति द्विगुणित आवेश-युक्त नूतनता से भर उठती है । रत्नाकरजी ने जहाँ कहीं भी

१. भृंगारलहरी, पृष्ठ ३१७, छन्द—संख्या ६

२. वही, पृष्ठ ३३४, छन्द—संख्या ५२

३. कविताकौमुदी, प्रथम भाग, पृष्ठ ५५७ (प्रथम संस्करण)

किसी कवि के भाव को ग्रहण किया है, वहाँ उसे उत्कर्ष ही प्रदान किया है। 'महाकवि' के सँघे से एक भाव लेकर रत्नाकरजी ने बिब्वोक की जो सुन्दर उद्भावना की है, वह अर्थगुण-कान्ति में अत्यन्त समृद्ध है।

शृङ्गार-निरूपण में रत्नाकरजी का उद्देश्य उदात्त भावों के विविध रूपों का स्पष्टीकरण रहा है। लज्जा, उल्लास, सङ्कोच, विलास इत्यादि अमूर्त भावों के मार्मिक अभिव्यञ्जन में उन्हें पूर्ण सफलता मिली है। आन्तरिक हर्ष, किन्तु बाह्य कृत्रिम झुंझलाहट का यह भावपूर्ण चित्र द्रष्टव्य है :—

गूँथन गुपाल बंठे बेनी बनिता की आप,
हरित लतानि कुंज माहिं सुख पाइ कै।
कहै रतनाकर सँवारि निरवारि बार,
बार-बार बिबस बिलोकत बिकाइ कै॥
लाइ उर लेत कबौं फेरि गहि छोर लखें,
ऐसे रही ख्यालनि में लालन लुभाइ कै।
कान्ह-गति जानि कै सुजान मन मोद मानि,
करत कहा हौ कह्यो मुरि मुसुकाइ कै॥^१

इन पंक्तियों में कवि की सुन्दर कल्पना श्लाघनीय है। 'करत कहा हौ' में स्त्री-सुलभ कुटुमित अनुभाव की स्वाभाविकता अद्भुत है।

प्रेम-लोक की रीति ही निराली है। यहाँ बड़ी से बड़ी सावधानी रखने पर भी पलक झपकते चोरी हो जाती है। कुछ दिनों से राधा यशोदा के घर आने लगी है। कृष्ण सतर्क हैं कि कहीं वह उनके खिलौने न चुरा ले जाय, पर कृष्ण के देखते-देखते खिलौनों की जगह राधा कुछ और ही चुरा ले जाती है :—

आवन लगी है दिन द्वंक तैं हमारें धाम
रहै बिनु काम जाम जाम अरसाई है।
कहै रतनाकर खिलौननि सम्हारि राखि
बार-बार जननी चितावत कन्हाई है॥
देखीं सुनो ग्वारिनि कितेक ब्रज बारिनि पै
राधा सी न और अभिहारिनि लखाई है।

हेरत हीं हेरत हरघो तो है हमारी कछू
काह धौं हिरानौ पै न परत जनाई है ॥^१

हृदय की चोरी के निम्नोक्त उपालम्भ में चोरी और सीनाजोरी की कहावत सोलहों आने चरितार्थ हो रही है :—

लं लियो चुम्बन तौऽब कहा अधरा तौ रह्यौ तुम पास तुम्हारी ।
एते ही पै इतनौ करि रोस कियो इमि तेवर तानि करारौ ॥
पै अपनौ तौ कियो नहि देखति लेखति ताहि तौ खेल पसारौ ।
देखौ हियें धरि हाथ अहो तन में न रह्यौ मन हाय हमारी ॥^२

विश्रंभ में प्रेमियों का परस्पर रूठना और मनाना भी विलक्षण ही होता है । प्रेमियों की भाषा में 'ना' का अर्थ 'हाँ' है; जरा इस झगड़े को भी देख लीजिए :—

लं लियो चुम्बन खेलत में कहूँ तापें कहा इतनौ सतरानी ।
होँठनि हीं में कछू करि सौँहें बूथा भरि भौंह कमान हैं तानी ॥
लीजिये फेरि सबेर अबैं अबहीं तौ मिठासहुँ नाहि सिरानी ।
यों कहि सौँहें कियो अधरा इन वे तिरछोहें चितें मुत्तकानी ॥^३

रत्नाकरजी की शृङ्गार रसात्मक मुक्तक रचनाओं में यौवनविलासोन्मद स्वच्छन्द प्रेमी-प्रेमिका के हृदयग्राही वर्णनों का प्राचुर्य है । संसार की चिन्ता छोड़कर, समाज की उपेक्षा करके, इन उन्मत्त नायक-नायिकाओं का कहीं एकान्त में अपना निराला ही संसार बस जाता है । यमुना के निर्जन तट का यह मादक दृश्य उपस्थित है :—

संग में सहेलिनि के जोवन-उमंग-रली,
बाल अलबेली चली जमुना अन्हाइ कै ।

१. प्रकीर्णरखावली, पृष्ठ ५८०, छन्द-संख्या ६९

२. वही, पृष्ठ ५६०, छन्द-संख्या १६

३. वही, पृष्ठ ५५७, छन्द-संख्या ४

अमरशतक का यह श्लोक भी ऐसा ही है :—

“कोपस्त्वया हृक्कृतो यदि पङ्कजाक्षि
सोऽस्तु प्रियस्तव किमत्र विधे यमन्यत् ।
आश्लेषमर्पय मरुपितपूर्वमुच्चं—
मह्यं समर्पय मरुपितवृम्भनं च ॥

कहै रतनाकर चलाई कांह कांकर त्यौं ,
ठठकि मुजान सखियानि सौं पछाइ कै ॥
बाएँ कर गायरि सँभारि झुकि बाईं ओर ,
बाएँ कर-कंज भँकुं घूँघट उठाइ कै ।
बँ गई हिये भँ हाय दुसह उदेग बाग ,
लँ गई लडैती मन मुरि मुमुकाइ कै ॥^१

सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओं से रहित, यमुना का एकान्त तट ऐसे स्वर-विहार, और उच्छृंखल यौवन की उद्विक्त आकांक्षाओं से युक्त निर्बाध विलास के लिए बहुत ही उपयुक्त स्थान है, अतः इन नायक-नायिकाओं के अनेक क्रियाकलाप यमुना-तट पर ही सम्पन्न होते हैं। सब स्नाता नायिका से नायक की भेंट होने पर उसकी लज्जाका यह स्वाभाविक चित्र भी यमुना-तट पर ही उतारा गया है :—

नागरी नबेली अरबिंद-मुखी चोप-च्छड़ी ,
कढ़ी जमुना सौं जल बाहिर अन्हाइ कै ।
झीनो नीर-भीनो चीर लपट्यौ सरीर माहिँ ,
परत न पेखि तन-पानिप समाइ कै ॥
लाल ललबैहें तहां सौंहें आनि ठाड़े भर ,
हेरत हँसैहें अंग अंगनि लुभाइ कै ।
कर उर ऊरनि बँ झुकि सकुवाइ फेरि ।
घाइ जमुना मैं धंसी मुरि मुमुकाइ कै ॥^२

यह कवित्त सञ्चारी भाव व्रीड़ा का साधिष्ठ उदाहरण है। अन्तिम दो पंक्तियों में तो स्त्री सुलभ स्वाभाविक लज्जा की बड़ी ही यथार्थ व्यञ्जना हुई है। शब्द-तूलिका से अन्तश्चित्रों के अङ्कन की रत्नाकरजी में अनुगम क्षमता है।

यमुना के विजन तट की तो बात ही क्या है ये नायक—नायिकाएँ तो मांग-चलते भी एक दूसरे से छेड़-छाड़ करने में प्रगल्भ हैं। आँख मिलते ही उनका मनो-निग्रह भङ्ग हो जाता है :—

न चली कछू लालची लोचन सौं, हठ-मोचन कै चहनोंई पर्यौ ।
रतनाकर बँक-बिलोकन-बान, सहाए बिना सहनेई पर्यौ ॥

१. भृंगारलहरी, पृष्ठ ३२९, छन्द-संख्या ३८

२. वही, पृष्ठ ३२९, छन्द-संख्या ३९

उततें वह गात छुवाइ चले, तब तौ प्रन कौं कहनोई पर्यौ ।

भरि आह कराह 'सुनौ जू सुनौ', नंदलाल सौं यों कहनोई पर्यौ ॥^१

उपरिनिर्दिष्ट उद्धरण में चपलता सञ्चारी का औत्सुक्य एवं हर्ष में कलात्मक पर्यवसान है। जड़ता सञ्चारी का अकैतव उदाहरण निम्नस्थ कवित्त में समुपन्यस्त है। यह भी यमुना ही के विविक्त तट का दृश्य है :—

ज्यों भरि कं जल तीर धरी निरख्यौ त्यों अधीर ह्वै न्हात कन्हाई ।

जानें नहीं तिहिं ताकनि में रतनाकर कीनी कहा दुनहाई ॥

छाई कछू हरवाई सरीर कं नीर में आई कछू भरवाई ।

नागरी की नित की जो सधी सोई गागरी आजु उठै न उठाई ॥^२

रत्नाकरजी ने जहाँ संयोग-पक्ष में षट्-ऋतुओं के उद्दीपनकारी प्रभाव का वर्णन किया है, वहाँ भी उनकी निरावृत्त भावुकता बन्धन-मुक्त हो गयी है। फाग और षट्ऋतुओं के वर्णनों में तो मानो वे रीतिकाल के ही कवि हो गये हैं। ऐसे प्रसङ्गों में बिहारी, पद्माकर इत्यादि का उन पर स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। पद्माकर के समान उन्होंने भी फाग का आकर्षक वर्णन किया है। संयोग-शृङ्गार-वर्णन में तो होली के रङ्गीन त्यौहार ने उनकी रंजित कल्पना को और भी रङ्गीन बना दिया है :—

खेलन में मिस कं गुलाल मूठि मेलन की

नैनन अनूठी मूठि चेटक की बै गयी ।

कहै रतनाकर सुरंग रंग पारि अंग

स्याम निज रंग हियें रुचिर रचै गयी ॥

करि कं बहानी मनमानौ फाग भेंटन की

बीज अनुराग की सु रोमनि में बै गयी ।

जानी पहिलें तौ हाय होली की ठठोली पर

चोली की टटोली में मरोरि मन लै गयी ॥^३

फाग के ऐसे ही वर्णनों में रत्नाकरजी का मन विशेष रूप से रमा है। उनके फाग-वर्णनों में अद्भुत चित्रोपमता है। इसी कारण उनके चित्र सहज ही प्रत्यक्ष हो उठते हैं। राधा-कृष्ण की होली का एक और दृश्य यह है :—

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३२८, छन्द-संख्या ३५

२. प्रकीर्णपद्यावली, पृष्ठ ५५६, छन्द-संख्या ३

३. वही, पृष्ठ ५६९। ५७० ॥ छन्द-संख्या ४३

लाल पे गुलाल की चलाई राधिका जो मूठि
मूठि हूँ परी सो कर-कंपन तें खोटी है ।
कहै रतनाकर सम्हारि पिचकारी उन
प्यारी कुच-कोर कौं निहारि उत जोटी है ॥
नँकु नैन सौहें तें टरें न इनके सोभाइ
मुरि मुसुकाइ जो पिछौहें चोट ओटी है ।
चोटी लहरी जो लुरि पीठि पे सुहागिनि की
नागिनि हूँ कान्ह के करेजें वह लोटी है ॥^१

यहाँ सात्विक भाव स्तम्भ तथा जड़ता सञ्चारी का साधिष्ठ निरूपण है । अन्तिम दो पंक्तियों में जो स्वाभाविक भाव-व्यञ्जना हुई है वह तो और भी चित्ताकर्षक और कलापूर्ण है । निम्नोक्त कवित्त में कृष्ण के शृंगक का आभिचारिक दुहैरा रङ्ग भी दर्शनीय है :—

होरी खेलिबे कौं कड़ी केसरि कमोरी घोरि ,
उमगति आनंद की तरल तरंग में ।
कहै रतनाकर महर को लड़ैतौ छेल ,
रोकी गैल आनि हुरिहारनि के संग में ॥
मो तम निहारि धारि पिचकी-अधार अंक ,
मारी मुसुकाइ धाइ उरज उतंग में ।
सोई पिचकारी रेंगी सारी लाल रंग माहि ,
सोई रेंगीं अँखियाँ हमारी स्याम-रंग में ॥^२

होली खेलने का उत्साह कृष्ण में तो है ही, राधिका भी पीछे नहीं है । कभी-कभी तो राधिका के प्रगल्भ उत्साह को देखकर कृष्ण को भी चकित रह जाना पड़ता है :—

लाल की ललक रंग रेलन की रुलि गई ,
भूलि गई हिम्मत हुमक लखि बाल की ।
बाल की मिसाल हूँ न हाय इत उत हल्यो ,
पिचकी उबी की उबी रहिगी रसाल की ॥
साल की न नैननि की नँकु हूँ सँभाल भई ,
लागी टफटकी वसा हूँ गई बिहाल की ।

१. प्रकीर्णपद्यावली, पृष्ठ ५६७। ५६८ छन्द-संख्या ३८

२. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३३०, छन्द-संख्या ४१

हाल की कहे को ज३ आवे पल पेखि राखे ,
मुठि सी चलाई मूठी भरि कं गुलाल की ।^१

ऋतु के उद्दीप्तकारी प्रभाव की सहायता से भी रत्नाकरजी ने संयोग शृङ्गार का आवेगपूर्ण वर्णन किया है। यद्यपि ऐसे वर्णनों में रीतिकालीन त्रिलासिता विशिष्ट है, फिर भी उनकी स्फुरन्मुखी प्रतिभा ने पुरातन भावों को नूतन रूप प्रदान करके ही ग्रहण किया है। अन्तस्तलस्पर्शनी प्रज्ञा और काव्य-कला नैपुण्य से उन्होंने सर्वत्र अनावश्यक उपकरणों का बहिष्कार करके, अपनी कल्पना के माधुर्य-ऐश्वर्य द्वारा पुराने भावों को स्वाभाविक, सजीव और नया रूप प्रदान कर दिया है। पद्याकर ने राजसी वैभव के गीत गाकर शीत के कसाले के लिए मसाले प्रस्तुत किये थे, इधर रत्नाकरजी स्वतः सम्पन्न व्यक्ति थे। राज-वैभव का उन्हें भी पूर्ण अनुभव था, अतः ग्रीष्म की भीषणता को दूर करने के लिए उन्होंने ये सुख-साधन एकत्रिा किये हैं :—

टटकी उसीरनि की टाटी चहुँ ओर लगीं ,
सराबोर सुखद सुगंध बहसोल में ।
कहे रतनाकर त्यों फहरें गुलाब-वारे ,
फबत फुडारे मनि-हीजनि अमोल में ॥
घसि घनसार चारु चंदन की पंक तासों ,
घेरि राखिने की सीत समर-कलोल में ।
प्यारी रचै प्यारी के उरोज माहि मक्क-बूह ,
बक्क-बूह प्यारी रचै प्यारे के कोल में ॥^२

ग्रीष्मऋतु में जब यह सुविधा है, तो अन्य ऋतुओं का तो कहना ही क्या ! संयोग पक्ष में वर्षा का यह मनोरम दृश्य उल्लिखित है :—

भूजत हिंडेरें वृहँ बोरे रस रंग जिन्हें ,
जोहत अतंग-रति-सोभा कटि कटि जाति ।
मंतु मबकी सौं उचकत कुय-कोरनि पै ,
ललपि लुभाइ रसिया की डीठि डटि जाति ॥
बेलत बनै ही कछु कहत बनै न नैकु ,
बाल अलबेजी जब लाज सौं सिमटि जाति ।

१. शृंगारसहरी, पृष्ठ ३६७ । ३६८, छन्द-संख्या १४६

२. ग्रीष्माष्टक, पृष्ठ ४५९ छन्द-संख्या ७

हटि जात घूंघट लटकि लांबी लट जाति,
फटि जाति कंचुकी लचकि लोनी कटि जाति ॥^१

रत्नाकरजी के 'गंगावतरण' में वह स्थल भी बड़ा आकर्षक है जहाँ बङ्गलोक से उतरती हुई गङ्गा भगवान् शङ्कर पर मोहित हो जाती हैं। प्रथम दर्शन में प्रेमोद्रेक का यह वर्णन अद्भुत है :—

इहि बिधि धावति धँसति ढरति ढरकति सुख-देनी ।
मनहु सत्रारति सुभ सुर-पुर की सुगम निसेनी ॥
बिपुज बेग बल बिक्रम कं ओजनि उमगाई ।
हरहराति हरषाति संभु-सनमुख जब आई ॥

भई थकित छबि छकित हेरि हर-रूप मनोहर ।
ह्वं आनहि के प्रान रहे तन धरे धरोहर ॥
भयो कोप की लोप चोप औरं उमगाई ।
चित चिकनाई चढ़ी कड़ी सब रोष दखाई ॥

छोभ-छलक ह्वं गई प्रेम की पुलक अंग में ।
थहरन के ढरि ढंग परे उछरति तरंग में ॥
भयो बेग उद्वेग पेंग छाती पर धरकी ।
हरहरान धुनि बिघटि सुरट उघड़ी हर-हर की ॥

भयो हुगौ भू-भंग-भाव जो भव-निबरन को ।
तामें पलटि प्रभाव पर्यो हिय हेरि हरन को ॥
प्रगटत सोइ अनुभाव भाव औरं सुखकारी ।
ह्वं थाई उतसाह भयो रति को संचारी ॥

कृपानिधान सुजान संभु हिय की गति जानी ।
दियौ सीस पर ठाम बाम करि कं मन मानी ॥
सकुवति ऐवति अंग गंग सुख-संग लजानी ।
जटा-जूट-हिम-कूट सवन बन तिमिटि समानी ॥

पाइ ईस की सीस-परस आनंद अधिकायी ।
 सोइ सुभ सुखद निवास बास करिबौ मन ठायौ ॥
 सीत सरस संपर्क लहत संकरहु लुभाने ।
 करि राखी निज अंग गंग क रंग भुलाने ॥

बिवरन लागी गंग जटा-गह्वर-बन-बीथिनि ।
 लहति संभु-सामीप्य-परम-सुख दिननि निसीयिनि ॥
 इहि बिधि आनंद में अनेक बीते संबत्सर ।
 छोड़त छुटत न बनत ठनत नव नेह परस्पर ॥^१

शृङ्गार का यह कलात्मक वर्णन अपनी स्वाभाविकता के कारण ही इतना हृदयहारी हो सका है :—

“सकुचति ऐंचति अंग गंग सुख-संग लजानी ।

जटा-जूट-हिम-कूट सघन बन तिमिति समानी ॥^२

जैसी पंक्तियों में उन्होंने कुलशीला नववधू का यथार्थस्वरूप अङ्कित कर दिया है। कहीं-कहीं रत्नाकरजी दो-चार साधारण रेखाओं से ही चित्र को उभार कर फिर उसे अधूरा छोड़ देते हैं, परन्तु ऐसा वे जान-बूझ कर ही करते हैं। उनकी काव्यकला की मार्मिक विशेषता ही यह है कि कहीं वे अत्यन्त संक्षेप में तो कहीं अत्यन्त विस्तार के साथ वर्ण्य विषय के शब्द-चित्र खींचते चले जाते हैं, परन्तु दोनों ही परिस्थितियों में उनके चित्र समान रूप से आकर्षक, सजीव तथा स्वाभाविक होते हैं। गङ्गा का यह प्रेम, प्रथम-दर्शन का ही प्रेम था, अतः यहाँ संयोग शृङ्गार का चटकीला चित्र उपस्थित करने का अवसर न था; परन्तु “दियो सीस पर ठाम बाम करि कै मन मानी” कह कर कवि ने परिस्थिति को शृङ्गारिक वातावरण के सर्वथा अनुकूल बना दिया है। कवि का यह कथन कि भगवान् शङ्कर तथा भगवती गङ्गा को इस प्रकार आनन्द-भोगते अनेक संवत्सर व्यतीत हो गये, पाठकों को एक मधुर कल्पना में तल्लीन कर देता है। अनुकूल परिस्थिति उपस्थित होने पर भी कवि यहाँ जानबूझ कर स्फीत शृङ्गारिक वर्णन को बचा गया है। साथ ही उसने पाठकों को ऐसी भावभूमि में भी लाकर स्थित कर दिया है, जहाँ से उनकी कल्पनाएँ अपनी-अपनी मनोवृत्ति के अनुसार स्वतन्त्र रूप से बहुत दूर तक सञ्चरण कर सकती हैं। ‘हूँ थाई उतसाह भयौ रति

१. गंगावतरण, पृष्ठ २५६ । २५७, छन्द-संख्या ३५-४१

२. वही, पृष्ठ २५६ सर्ग ७, छन्द-संख्या ३९

कौ सञ्चारी" जैसी पंक्ति शुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से चाहे सम्बर्धनीय न हो, परन्तु ऐसी कल्पना कोई कला मर्मज्ञ ही कर सकता है। रत्नाकरजी जैसे 'क्लासिक' कवि की यह कल्पना क्लिष्ट-कल्पना मात्र नहीं है। यह ठीक है कि जो लोग रस-तत्त्व से परिचित नहीं हैं, वे इस पंक्ति की कलात्मक विशेषता को न समझ सकेंगे, परन्तु यों तो जो पाठक अलङ्कारों से परिचित नहीं, वे कवि के अलङ्कार-कौशल का आनन्द भी नहीं उठा सकते और जो लोग भाषा की विशेषताओं को नहीं समझते वे कवि के भाषा-सौष्ठव से भी अनभिज्ञ ही रहते हैं। यदि काव्य की सफलता और उत्तमता की कसौटी यही है कि उसकी प्रत्येक पंक्ति की सम्पूर्ण विशेषताएँ साधारण से साधारण पाठक की समझ में भली-भाँति आ जानी चाहिए, तो रत्नाकर जैसे 'क्लासिक' कवि से इतने साधारण स्तर की आशा न करनी चाहिए। कला सहृदय-संवेद्य होती है, किन्तु जो पाठक काव्य की विशेषताओं से अनभिज्ञ हैं, वे एक सीमा तक ही सहृदय कहे जा सकते हैं।

शृङ्गार रस-निरूपण में स्थूल नख-शिख-सौन्दर्य का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। रति-भावना सौन्दर्य की ओर सहज ही आकृष्ट होती है। इसी कारण साहित्याचार्यों ने नायक-नायिकाओं में हृदयहारी रूप-ऐश्वर्य आवश्यक माना है। नायिका केवल वही स्त्री कही जा सकती है जिसके सौन्दर्य से मन अनायास ही आकर्षित हो जाता है।^१ अनुपम सुन्दरी राधिका का अभिराम व्यक्तित्व ऐसा ही है।

जगर मगर ज्योति जागति जवाहिर की,
पाइ प्रतिबिम्ब-ओष आनन-उजारी की।

छबि रतनाकर की तरल तरंगनि पं,
मानो जगाजोति होति स्वच्छ सुधाधारी की॥

संग में सखी-गन के जोबन-उमंग-भरी।

निरखति सोभा हाट बाट की तयारी की।

जित जित जाति बृषभानु की बुलारी फड़ी,
तित तित जाति दबी दीपति बिबारी की॥^२

यह सौन्दर्य-वर्णन रत्नाकरजी की मौलिक उद्भावना है। परम्परागत शैली

१. (क) रस-सिंघार की भाव उर उपजत जाहि निहारि।

ताही कों कवि नाइका, बरनत विविध विचारि॥—जगद्विनोद

(ख) उपजत जाहि विलोकि कं, चित्त बीच रस-भाव।

ताहि बखानत नाइका जे प्रवीनकविराज॥ रसराज

२. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३२०, छन्द-संख्या १३

का सौन्दर्य-निरूपण यह है :—

बाल बल-केलि लाल देखन चलौ जू दीरि ,
 औरे और ना तौ मुख-जांक लुन लेत हैं ।
 कहै रतनाकर रविर-रस-रंग देखि ,
 भृंग भाँवरे वै भूरि भाग गुने लेत हैं ॥
 भूलि भूलि कलित कुलंग जुरि वंग भए ,
 बानी-यीन बिसव कुरंग सुने लेत हैं ।
 लन-जल-बिंद मुख-वंद की अमंड पेखि ,
 लेखि सुधा-सीकर चकोर छुने लेत हैं ॥^१

और यह मध्यकालीन कवियों की शैली पर वय-सन्धि का चित्र है :—

सरसन लाग्यौ रस रंग अंग-अंगनि में ,
 पानिय तरंगनि में बाल बिलसति है ।
 कहै रतनाकर अनंग की प्रसंग पौन ,
 पाइ कंठि जाइ कांति वूनी बरसति है ।
 रति-रस लंपट मल्लिख मन भावन कं ,
 उर अभिलाष लाख भांति की बसति है ।
 परम पुनीत बैस-तंधि की प्रभात पाइ ,
 अवन उदै की कंज कली सी लसति है ॥^२

सौन्दर्य-निरूपण में रतनाकरजी ने साहित्याचार्यों को गिनी गिनायी बातों को दिखाने की चेष्टा नहीं की है । व्यक्तिगत अनुभूति तथा अपने सूक्ष्म निरीक्षण से उन्होंने विभिन्न सात्विक भावों तथा अनुभावों के जो सजीव वर्णन उपस्थित किए हैं, वे किसी भी रीतिकालीन कवि के वैसे ही वर्णनों का तुलना में विश्वास के साथ रखे जा सकते निम्नोद्धृत पंक्तियों में ब्रीड़ा और मौग्ध्य की सहृदय-श्लाघ्य व्यञ्जना है :—

देखि रयाम सुंदर, कौ देखत लगाए दीठि ,
 पीठि फेरि प्रथम कछुक अनखाति है ।
 कहै रतनाकर बहुरि मुरि चाहि बंक ,
 संकित मृगी लौं चकि छरकि छपाति है ॥

१. भृंगारलहरी, पृष्ठ ३२६, छन्द-संख्या ३०

२. बही, पृष्ठ ३२२, छन्द-संख्या २०

बूझति न रंच पंचसर के प्रपंच बाल,
लाल की ललक लखिबे कौ लुरियाति है।
इत उत बाव देखिबे कौ हिरकीयै रहै,
आनि खिरकी लौ फिरकी लौ फिरि जाति है ॥१

यौवनावेश के कारण स्त्रियों में भावाभिव्यञ्जक चेष्टाएँ स्वाभावतः होती हैं। इन्हीं को साहित्याचार्यों ने अञ्जज अलङ्कार कहा है। ऐसी भाव-भङ्गिमा के निरूपण में रत्नाकरजी सिद्धहस्त हैं। उदाहरणार्थ यह सवैया लिया जा सकता है :—

ऐड़त औ इठलात फिरो करि, फेर कछू मग बेर लगावत।
चारिहूँ ओर चितै रतनाकर, बेनु बजावत सैन बुझावत ॥
मोहिनी यों मनमोहन सों, इठलाइ कहै लखि नैन नवावत।
बात कछू हमहूँ तौ सुनै इत कौं, नित कौन कौं देखन आवत ॥२

अन्तिम पंक्ति में जो मिठास है, उसकी अनुभूति चाहे सरल हो किन्तु अभिव्यक्ति निश्चय ही कठिन है। रत्नाकरजी की भावुकता ने अनेक स्थलों पर ऐसी ही सजीव उद्भावनाएँ की हैं।

संयोग शृङ्गार के अन्तर्गत उन्होंने मान के भी आकर्षक चित्र उतारे हैं। प्रेमियों का हृदय भावों की क्रीड़ास्थली होता है। संयोगावस्था में भी कभी-कभी वे व्यर्थ ही एक दूसरे से झगड़ने को तैयार हो जाते हैं। जानबूझ कर रूठने और मनाने में उन्हें बड़ा आमन्द आता है। इसी का अनुभव करने के लिए नायिका लालायित है। वह चाहती है कि वह भी अपने प्रिय से रूठे और प्रियतम उसे मनाने। इसी कामना से वह कहीं एकान्त में बैठ कर मान करने का अभ्यास कर रही है; परन्तु उसका प्रेम इस इच्छा पर पानी फेर देता है। हार कर वह अपनी सखी से कह उठती है :—

नाक कैं चढ़ावत पिनाक भौंह ढीली परें,
चढ़त पिनाक भौंह नाक मुसकाइ दें।
कहै रतनाकर त्यों प्रीबहूँ नवाइ लिएँ,
मुख तैं टरें न नैन गौरव गवाइ दें ॥
अनख बढ़ावत अनंग की तरंग बढ़ें,
धीरज धरा तैं प्रन-पायहि उठाइ दें।

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३३०। ३३१, छन्द-संख्या ४२

२. वही, पृष्ठ ३३१, छन्द-संख्या ४५

रहति हियें ही हौंस हिय की हमारे हाय ,
पैयाँ परौ नैंक मान करिबौ सिखाइ दे ॥”^१

उपर्युक्त मान वस्तुतः कृत्रिम मान है,^२ परन्तु इसकी मिठास भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। संयोग शृङ्गार को आकर्षक रूप प्रदान करने वाले प्रणय-मान के रत्नाकरजी ने एक-से-एक सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं :—

“मान ठानि बैठ्यौ इत परम सुजान कान्ह ,
भौहें तानि बानक बनाइ गरबीली कौ ।
कहै रतनाकर बिसद उत बाँकी बन्यौ ,
बिपिन-बिहारी-बेष बानक लड़ीली कौ ॥
लखि सखि आज की अनूप सुखमा कौ रूप ,
रौपै रस रुचिर मिठास लौन सीली कौ ।
ललकि लचैबौ लोल लोचन लला कौ इत ,
मचलि मनैबौ उत राधिका रसीली कौ ॥”^३

१. शृङ्गारलहरी, पृष्ठ ३३६, छन्द-संख्या ५८

२. (क) जहाँ मान अनुनय तक स्थिर नहीं रहता वहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार न मानकर ‘सम्भोग सञ्चारी’ ही मानना चाहिए ।

“अनुनय पर्यन्तासहत्वे त्वस्य न विप्रलम्भ भेदता,
किंतु सम्भोगसंचार्याख्यभावत्वम्”

ब्रह्मव्य-साहित्य दर्पण -कारिका—१९८ की वृत्ति (तृतीय परिच्छेद)

(ख) “भ्रूभङ्गे रवितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्बोधते
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दधाननं जायते ।
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनू रोमाञ्चमालम्बते
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिञ्जने ॥”

अमरशतक—२४

(ग) “सतर भौह रुखे वचन, करत कछिन मन नीठि ।
कहा कहौ ह्वं जाति हरि, हेरि हंसौही दीठि ॥
दहैं निगोड़े नैन ये, गहैं न चेत अचेत ।
हौं कतिक रिसको करौं, ये निरखें हौंसि बेत ॥

—बिहारी

३. शृङ्गारलहरी पृष्ठ ३३१-३३२ छन्द-संख्या ४६

रत्नाकरजी की राग-रसिकता ने संयोग श्रृङ्गार का स्फीत वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उनके नायक-नायिकाएँ पूर्ण स्वतन्त्र हैं; उन्हें सब प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हैं, तथा एक दूसरे से वे जब चाहें—जहाँ चाहें, बड़ी सरलता से मिल सकते हैं। सामाजिक बन्धनों की भी उन्हें लेशमात्र चिन्ता नहीं है। प्रेमियों के इस साहस का कवि ने इन शब्दों में उत्कीर्तन किया है :—

बौरे बंद बोंदत कहा धौं इहि रोग माहि
सारे जोग जतन अजोग-जोगवारे हैं ।
कहै रत्नाकर गुनत गाइडी तू कहा
यामें जंत्र मंत्र तंत्र निपट नकारे हैं ॥
हाय हितचित्तक चित्तवत कहा तू चिति
चाव चित इतकें अचित-गति वारे हैं ।
ऐरे गुनी गनक गुनत तू कहा धौं बंठि
प्रेमिनि के नभ में न ग्रह हैं न तारे हैं ॥^१

यह ठीक है कि इस प्रकार सिर का सौदा करने वाले ही सच्चे प्रेमी होते हैं तथा इसमें भी सन्देह नहीं कि रत्नाकरजी की भावनाएँ अनुभूति-पोषित होने के कारण सर्वथा स्वाभाविक हैं, परन्तु संयोग श्रृङ्गार के अनुकूल जिन परिस्थितियों का उन्होंने निर्माण किया है, वे उनके युग की परिस्थितियाँ नहीं हैं। पनघट अथवा यमुना के एकान्त तट पर मिलने की सुविधा किंवा वेश बदल कर प्रेमी-प्रेमिकाओं का इस प्रकार मिलना, रीतिकालीन युग के ही अधिक अनुकूल है।^२ निश्चय ही अपनी रुचि और मनोवृत्ति की दृष्टि से रत्नाकरजी रीतिकाल के ही कवि थे; साथ ही इस बात को स्वीकार करने में भी सम्भवतः किसी को आपत्ति न होगी कि उनकी प्रखर प्रतिभा, सूक्ष्म निरोक्षण, तथा अतुल्य रीतिकालीन कवियों से अधिक तीक्ष्ण थी। आधुनिक युग की बौद्धिकता ने उनकी काव्य-कला में स्वाभाविकता का रङ्ग पर्याप्त गहरा कर दिया था।

१. प्रकीर्णपद्यावली, पृष्ठ ५६५, छन्द-संख्या ३१

2. The intelligible forms of ancient poets.

The fair humanities of old religion.....

They live no longer in the faith of reason :

But still the heart doth need a language, still.

Doth the old instinct bring back the old names.

Coleridge, Piccolomini.

वियोग शृङ्गार

जैसा सजीव रत्नाकरजी का संयोग शृङ्गार है, वैसा ही विप्रलम्भ शृङ्गार भी है। 'उद्धवशतक' में तो उनका कवि-हृदय सब कुछ भूलकर विप्रलम्भ की दुःख-सरिता में आकण्ठ निमज्जित हो गया है। वियोग की विशेषता भी यही है। जिस प्रकार रबड़ की गेंद जितनी जोर से दीवाल में मारी जाती है, उतनी ही शक्ति से वह वापस भी लौटती है, उसी प्रकार संयोग पक्ष में मन जितनी गहराई से सुख की अनुभूति करता है, उसी अनुपात से वह वियोग-ग्रस्त वेदना का भी अनुभव करता है। संयोग शृङ्गार के समान रत्नाकरजी का वियोग शृङ्गार भी अनुभूति-पोषित और मर्मस्पर्शी है। भावुक कलाकार की अन्तश्चेतना जब अपनी समृद्धामुभूति को कल्पना के ऐश्वर्य से उद्गीरित, अथवा रचनात्मक-जीवन-चेतना को अमृत के हास-रुदन से अलङ्कृत कर, अपने सौन्दर्य की मादकता में स्वयं ही झूम उठती है, तब उसके लास्य से निखिल विश्व चकित हो उठता है।^१

1. What is a poet ? A poet is an unhappy being whose heart is torn by secret sufferings, but whose lips are so strangely, formed that when the sighs and cries escape them; they sound like beautiful music. His fate is like that of the unfortunate victims whom the tyrant Phalaris imprisoned in a brazen bull and slowly tortured over a steady fire; their cries could not reach the tyrant's ears so as to strike terror into his heart; when they reached his ears they sounded like sweet music. And men crowd about the poet and say to him : 'Sing for us soon again'; and that is as much as to say : 'May new sufferings torment your soul, but may your lips formed as before; for the cries would only frighten us, but the music is delicious'. And the critics come too, and say : 'Quite correct, and so it ought to be according to the rules of aesthetics'. Now it is understood that a critic resembles a poet to a hair he only lacks the suffering in his heart and the music upon his lips. Lo,

शास्त्रीय दृष्टि से विप्रलम्भ शृङ्गार के अधोलिखित पाँच भेद होते हैं।^१ ये भेद कारण के आधार पर हैं।

१. अभिलाषा-हेतुक
२. ईर्ष्या-हेतुक
३. विरह हेतुक
४. प्रवास-हेतुक
५. शाप-हेतुक

यद्यपि रत्नाकरजी ने शास्त्रीय भेदों का ध्यान रख कर उनके उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये हैं; तथापि उनका काव्य प्रधानतः शृङ्गार परक वृत्त-काव्य ही है, अतः सुविधा के लिए उनका विप्रलम्भ शृङ्गार उपर्युक्त भेदों में से प्रथम चार में वर्गीकृत हो सकता है। प्रसङ्ग उपस्थित न होने से उनके काव्य में शाप-हेतुक वियोग उत्सृष्ट है। विप्रलम्भ-शृङ्गार में अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, उद्वेग, गुणकथन, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, तथा मरण इन दस दशाओं का वर्णन होता है। मद, रत्नानि, चिन्ता, प्रबोध, असूया, औत्सुक्य, शङ्का इत्यादि इसके सञ्चारी भाव हैं।

उत्कट अनुराग होते हुए भी जब नायक-नायिका का वैयधिकरण्य रहता है तब वियोग शृङ्गार माना जाता है; अर्थात् वियोग या विप्रलम्भ शृङ्गार उस परिस्थिति विशेष की चित्तवृत्ति है, जब प्रबल प्रेमावेग के होते हुए भी प्रियसमागम सम्भव नहीं होता। अवस्था भेद से इसके चार प्रकार माने जाते हैं।

१. पूर्वानुराग,
२. मान,
३. प्रवास, तथा

therefore, I would rather be a swineherd from Amagar, and be understood by the swine, than be a poet and be misunderstood by men—Kierkegaard.

As quoted by George Whalley—in Poetic Process—on page 11 (Edition 1953)

१. (क) रसमंजरी (काव्यकल्पद्रुम) पृष्ठ १९१

(ख) अपरस्तु अभिलाष-विरहे-र्ष्या-प्रवास-शापहेतुक इति पञ्चविधः

सम्मट-काव्यप्रकाश-चतुर्थ उल्लास-पृष्ठ ८५

विद्या भवन संस्कृत ग्रन्थमाला १५

४. करुणात्मक ।^१

प्रत्यक्ष दर्शन, चित्र-दर्शन, श्रवण अथवा स्वप्न-दर्शन से पूर्वानुराग होता है। यही पूर्वानुराग अभिलाषा-हेतुक विप्रलम्भशृङ्गार है। ईर्ष्या-हेतुक-वियोग में मान का समावेश किया जा सकता है। विरह-हेतुक-वियोग तब माना जाता है, जब गुरुजनों की लज्जा के कारण नायक-नायिका का सामानाधिकरण्य नहीं हो पाता। नायक अथवा नायिका के विदेश में होने पर प्रवास-हेतुक-वियोग माना जाता है। करुण विप्रलम्भ का वर्णन वचन ही होता है। करुण-वियोग में नायक अथवा नायिका की मृत्यु घटित तो होती है, परन्तु यह क्षीण आशा फिर भी विद्यमान रहती है कि आपाततः मृत व्यक्ति जी उठेगा। यदि यह आशा न हो तो करुण-वियोग नहीं, करुण-रस ही मानना पड़ेगा।

वियोग अथवा विरह एक टीस है, परन्तु इस कसक की मिठास कोई हृदय-वाला ही समझ सकता है। अनेक विघ्न-बाधाओं के कारण जब प्रिय के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं, तभी उसके वास्तविक महत्त्व की अनुभूति भी होती है। इस दशा में प्रेमी और प्रेमिका की कल्पना शक्ति अत्यन्त प्रखर हो जाती है, फलतः उन दोनों का निरतिशय आकर्षण और भी बढ़ जाता है। संयोग की अपेक्षा वियोग के चित्र इसी कारण अधिक मार्मिक होते हैं। विरह बन्धन में आबद्ध प्रेमी-प्रेमिका की कातरता में वीणा की मीढ़-जैसी विह्वलता होती है। जिन्होंने कभी सच्चा प्रेम किया है, वे ही इस दुर्लभ आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। कृत्रिम प्रेमी-प्रेमिकाओं में इस अग्नि को सहन करने की शक्ति ही कहाँ होती है; जरा सी आँच से ही घबरा कर वे पथ-विचलित हो जाते हैं। विरह की तीक्ष्ण अग्नि को सहन करके भी जो प्रेम विचलित नहीं होता, वही प्रेम अग्निपरीक्षा में खरा उतरता है। सुअवसर प्राप्त होने पर ऐसे वियोगियों का जब पुनर्मिलन होता है, तब उनका सुख सर्वथा अनिवर्चनीय होता है। यह सुख केवल अनुभवगम्य है। बिना वियोग के संयोग का सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। सच्चे प्रेमी को तो वियोग में भी विलक्षण आनन्द मिलता है। नेत्र मूंदने पर भी हृदय-मन्दिर में जिसे निरन्तर प्रिय-दर्शन होते रहते हैं, जो पलकें भी इसीलिए नहीं खोलता कि कहीं उस मूर्ति की दिव्य छटा हृदय से तिरोहित न हो जाय, उसके स्वप्न क्या कभी झूठे हो सकते हैं? रत्नाकरजी की नायिका ने भी अपने चित्तचोर को नेत्र-कारा में बन्द कर रखा है :—

“खेलौ हंसौ जाइ कं सहेली तुम कुंजनि में ,
 हांसी खेल खोइ भौन-कौन अभिलाष्यौ है ।
 कहै रतनाकर रुचै सौ कहौ जाइ उतै ।
 प्रेम कौ पियालौ माष राख करि चाष्यौ है ॥
 जानति नहीं हौ उर आनति नहीं हौ पीर ,
 मानति नहीं हौ बीर लाख बार भाष्यौ है ।
 बात-बल सौ ना जाइ ध्यान-पट टटि हाय ,
 सोर ना करौ री चित-चोर मूँवि राष्यौ है ॥”^१

अतृप्ति में आकर्षण तथा तृप्ति में विकर्षण एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। इसी-लिए जब प्रेमी और प्रेमिका के समागम में कारणवश व्याघात उपस्थित होता है, तब उनका पारस्परिक आकर्षण और भी बढ़ जाता है। प्रेम की प्राथमिक अवस्था में लोकापवाद, समाज अथवा गुरुजनों का भय, दो अभिन्न हृदयों के मिलन में बाधा उत्पन्न करना है। यह अवरोध केवल शारीरिक मिलन-दर्शन को ही रोक सकता है; अन्तस्तल को झकझोर देने वाले बवण्डर को तो वह छू भी नहीं सकता। इस व्यवधान की प्रतिक्रिया स्वरूप भावुक हृदय और भी अवहित चित्त से हृदय-धन का चिरन्तन ध्यान करने लगता है। प्रत्यक्षदर्शन-जन्य अभिलाषा हेतुक-वियोग की इसी मनोदशा को रत्नाकरजी ने मुग्ध-मुग्धा के इस चित्र में उपस्थित किया है:—

“करति विचार नाहिं घाम छाहिं हूँ को कछू
 चाहन-उमाह सौ अथाहनि भरी रहै ।
 कहै रतनाकर सु रोकत रुकै न रंव
 टोकत सखीनि हूँ कं बिलखि लरी रहै ॥
 लटक मुरेरे सौं करेरे कुच टेकि नकुं
 कान दिये आहट पे थानहिं थरी रहै ।
 जब तैं निहारी लाल रावरी छटा री बाल
 तब तैं अटारी आनि अटक अरी रहै ॥”^२

नारी-हृदय की उत्सुकता तथा व्याकुलता का इतना सजीव वर्णन सर्वत्र-सुलभ नहीं होता। सब कुछ भूल कर, अपने हृदय-मन्दिर में स्थापित हृष्येश्वर की मूर्ति के ध्यान में सुनहले स्वप्न देखने वाली प्रेमिका का यह चित्र कितना स्वाभाविक है !

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३४३-३४४, छन्द-संख्या ८० ।

२. प्रकीर्णपद्यावली, पृष्ठ ५६७, छन्द-संख्या ३७

निर्मल हृदय की चित्र-व्यञ्जना में जो कवि जितना कुशल होता है, वह उतना ही श्रेष्ठ कलाकार है। विह्वल मनोदशा की ऐसी ही मार्मिक अभिव्यञ्जनाओं में कवि-वर रत्नाकर के हृदय की वीणा मुखरित है।

वियोग-जन्य संताप, विरही अथवा विरहणी को जी भर कर रुलाता है। रस-शास्त्रियों ने इस दशा को व्याधि कहा है। इसमें ताप, कंप, इत्यादि का अनुभव होता है। एक दूसरे के वियोग में दोनों ही छिप कर रो लेते हैं। प्रेम के संसार में मुस्करा-हट की अपेक्षा इन आँसुओं का मूल्य कहीं अधिक है। स्नेह कदाचित् बना ही जलने के लिए है, किन्तु नेह और तिल-तेल में आकाश-पाताल का अन्तराल है:—

‘पीर सौं धीर घरात न बीर, कटाच्छ हूं कुंतल सेल नहीं है।

ज्वाल न याकी मिटै रतनाकर, नेह कछू तिल-तेल नहीं है ॥

जानत अंग जो झेलत है यह, रंग गुलाल की झेल नहीं है।

थाम्हें थमैं न बहैं अंसुवा यह, रोहबौ है हंसी खेल नहीं है ॥^१

प्रिय को देखे बिना नेत्रों को चैन नहीं ! किसी की याद में आँसू बहाते रहना ही इनका एकमात्र काम है। प्रिय को निरन्तर देखते रहने की इन्हें असाध्य व्याधि जो हो गयी है :—

‘कीजिये हाय उपाय कहा

अपने सियराहबे कौं हमें दाहति ।

रूप सुधा रतनाकर की सु—

चखावन काज निरन्तर नाहति ॥

और रहीं कितहूं की नहीं

अंखियां बुखियां उतहीं कौं उमाहति ।

ऐसी भई दिखसाध असाध कै

देख्यो अब पुनि देखिबौ चाहति ॥^२

यह वह व्याधि है जिसकी ज्वालामयी जलन आँसुओं के अजस्र प्रवाह से भी दूर नहीं होती। घड़ी भर को चैन नहीं—नेत्रों के यदि पंख होते तब तो वे उड़कर कभी के प्रिय के पास पहुँच गये होते; किन्तु पक्ष-विहीन होने के कारण अगत्या वे पैरों पर अभ्रप्रवाह कर, उनसे प्रियतम के पास ले चलने की प्रार्थना कर रहे हैं। इस मार्मिक कल्पना की श्रेष्ठता का प्रमाण सहृदय विद्वानों की चर्चणा है।

१. भृंगारलहरी, पृष्ठ ३४२, छन्द-संह्या ७४

२. प्रकीर्णपद्यावली, पृष्ठ ५७०, छन्द-संह्या ४४

“देखिबै कौं अकुलानी रहें नित
पीर सौं रंचक धीर न धारति ।
त्यों रतनाकर रैन-दिना कल्पें
पल पै पल नैकु न पारति ॥
ये अंखियां पंखियां बिनु हाय
सहाय कौ और न ब्यौत बिचारति ।
धाइबै कौं उत ध्याइ मनाइ कै
पाइनि पै जल-अंजलि ढारति ॥”^१

आँसू स्वाभाविक रीति से लुढ़क कर पैरों पर ही गिरते हैं, परन्तु इसी सामान्य व्यापार से रत्नाकरजी ने भाव को अद्भुत मनोवैज्ञानिक प्राञ्जलता प्रदान कर दी है। रत्नाकरजी अपने सूक्ष्म निरीक्षण, विलक्षण प्रतिभा और कल्पनाओं के अलौकिक स्फुरण से भावों के जिन मनोरम चित्रों का निर्माण करते हैं, उनमें प्राण-प्रतिष्ठान भी निश्चय ही कर देते हैं। उनका वियोग शृङ्गार अकर्मण्य अपत्रपों की कृत्रिम कातरता नहीं है। उनकी अधिकांश उक्तियों में हृदय की विह्वलता का सहज उच्छलन है।

प्रत्यक्ष-दर्शन-जन्य अभिलाषा हेतुक वियोग का उदाहरण यह कवित्त है :—

“जब तैं बिलोक्यौ बाल लाल बन-कुंजनि में ,
तब तैं अंग की तरंग उमगति है ।
कहै रतनाकर न जागति न सोवति है ,
जागत औ सोवत में सोवति जगति है ।
डूबी दिन रैन रहै कान्ह-ध्यान-बारिधि में ,
तौहं विरहाग्नि की दाह सौं दगति है ।
धूरि परी एरी इहिं नेह दईमारे पर ,
जाकी लाग पाइ आग पानी में लगति है ॥”^२

पूर्वानुराग का उद्रेक प्रत्यक्ष दर्शन से ही नहीं, गुण-श्रवण से भी शक्य है।

गुण-श्रवण से उद्भूत अभिलाषा हेतुक वियोग का उदाहरण यह है —

“जस-रस मधुर लुनाई रतनाकर कौ ,
काननि में बरसि घटा लौं ननदी चली ।

१. प्रकीर्णपद्यावली, पृष्ठ, ५७० छन्द-संख्या ४५

२. भृंगारलहरी, पृष्ठ ३४०, छन्द-संख्या ७०.

बहि तूत पात लों सकल कुलकानि गई ,
 गुड़ गिरि रोक-टोक हूँ जिमि रदी चली ।
 लाख अभिलाष-भौर अमन गंभीर लगौं ,
 उमगि उमंग-बाढ़ करति बदी चली ।
 धीरज-करार फोरि लज्जा-द्रुम तोरि बोरि ,
 नोकदार नैननि तें निकसि नदी चली ॥^१

वियोग-व्यथा से पीड़ित मन को कुछ अच्छा नहीं लगता । हृदय की इस वेदना को किसी के सामने कहा भी तो नहीं जा सकता; जो सुनेगा वही हँस कर रह जायगा, या फिर दो-चार उपदेश सुना देगा; परन्तु जिसकी, भूख, प्यास, नींद, हंसी, खुशी, सभी किसी निर्मोही की याद में उड़ जाती हैं, उसकी कातर मनोवेदना को सच्चे प्रेमी के अतिरिक्त भला और कौन समझा सकता है ? अतनु के पञ्चशर से बिद्ध विरही हृदय की व्याकुलता कुछ ऐसी ही होती है :—

“हाय हाय करत बिहाइ दिन रंनि जात ,
 कटिबो सुहात सवा सैननि सिरोही सौं ।
 कहै रतनाकर उदासी मुख छाइ जाति ,
 हंसी बिनसाइ जाति आनन बिछोही सौं ॥
 भूख, प्यास बूझति मंवात महरात गात ,
 छार हूँ बिलात सुख-साज सब रोही सौं ।
 हाय अति औपड़ी उदेग-आगि जागि जाति ,
 जब मन लागि जात काहू निरमोही सौं ॥^२

चित्र-दर्शन और स्वप्न-दर्शन के द्वारा जो पूर्वानुराग उत्पन्न होता है, वह भी अभिलाषा हेतुक-वियोग के ही अन्तर्गत माना जाता है । प्रिय का चित्र भी तो सच्चे प्रेमी को प्रिय के समान ही प्यारा होता है । एक दृष्टि से तो वह प्रिय से भी अधिक मधुर है, क्योंकि उस चित्र से मन नाना प्रकार के संलाप करता हुआ अपनी कल्पना में ही प्रिय समागम का सुख लूटा करता है । मन जब अपनी अभिलषित वस्तु को प्रत्यक्ष रूप में प्राप्त नहीं कर पाता तब स्वप्न-जगत में ही उसे प्राप्त करके अपने आपको बहलाने लगता है । निम्नस्थ कवित्त स्वप्न-दर्शन के इसी दैन्य का सुन्दर उदाहरण :—

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ, ३२७ छन्द-संख्या ३२

२. वही, पृष्ठ ३५१, छन्द-संख्या ९९

“जिनके चरित्र तें बखानि रसखानि आनि ,
चित्रहूँ दिखायौ जैसी और चित्रकारी ना ।
कहै रतनाकर लख्यौ सो सपने में सखी ,
वैसी कहूँ सांच ही स्वरूप रुचिकारी ना ॥
लागी उर लागन ललाइ त्योंहीं जागी हाय ,
लागी तबही तें पल पलक हमारी ना ।
ऐसे समै घात कै सिधारी जो नकारी नाँव ,
तातैं दईमारी फेरि पलट सिधारी ना ॥”^१

नायिका यदि प्रिय को देखने का अवसर भी पाती है, तो सङ्कोचवश देख नहीं पाती और बिना देखे उसे चैन नहीं पड़ता । यह भी एक विकट समस्या है । वे ही आँखें जो प्रिय के सामने आने पर लज्जा के कारण ऊपर नहीं उठतीं, स्वप्न में प्रिय-दर्शन होने पर अचानक खुल जाती हैं, परिणामतः नायिका स्वप्न में भी प्रिय-मिलन में असमर्थ हो जाती है ।

“देखन न पैयत अघाइ ब्रज-भूप-रूप ,
मन की मसूसें मन ही में रुलि जाति हैं ।
कहै रतनाकर मिलैं जौ कहूँ औसर हूँ ,
तौ पै ये अनौसर अनीत तुलि जाति हैं ॥
ठानति जिती हों ठान भरि दृग देखन की ,
सौहैं होत ते सब डगरि डुलि जाति हैं ।
डुलि-डुलि जाति हैं संकोचनि प्रतच्छ पेखि ,
देखैं सपने में ये निमेषं खुलि जाति हैं ॥”^२

सच्चे प्रेमियों के हृदय में जो मूर्ति बस जाती है वह फिर हटाये नहीं हटती । चाहे जो हो, फिर उनकी अनन्यता में कहीं व्यवच्छेद नहीं होता । अग्ने प्रेम-विह्वल हृदय को देखकर दोनों ही यह सोचने लगते हैं कि सम्भवतः पूर्वज म के संस्कारों के कारण ही वे एक दूसरे से इतना घुल-मिल गये हैं, या फिर हृदय रूपी दर्पण की ही यह विशेषता है कि उसमें एक बार जो प्रतिबिम्ब पड़ जाता है, वह चिर-स्थायी हो जाता है :—

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३५४, छन्द-संख्या १६२ ।

२. वही, पृष्ठ ३७३ । ३७४, छन्द-संख्या १६१

“कैतों उहि रूप में अनूपम प्रभा है कछू,
 पावत प्रबेस लेसहू जौ निकरै नहीं।
 कहै रतनाकर कै मुकुरहि ऐसी यह,
 जामें पर्यौ पुनि प्रतिबिंब उबरै नहीं।
 बोउनि कै जोग कै सँजोग यह आनि बन्धौ,
 पूरब को भोग कै निबेरें निबरै नहीं।
 नैकु समुहाइ पैठि जाइ उर में पै फेरि,
 मूरति टरै हूँ स्याम सूरति टरै नहीं॥”^१

भारतीय प्रेम-पद्धति का आदर्श तुल्यानुराग है। प्रेमिका जिस आवेग से अपने प्रिय के लिए व्याकुल और बैवेन रहती है, उसी प्रकार प्रिय भी अपनी प्रेमिका के लिए उद्विग्न रहता है। उर्दू-साहित्य में रति का आलम्बन अस्वाभाविक होने के कारण प्रेम का वैसा सहज स्वाभाविक उत्कर्ष दृष्टिगत नहीं होता जैसा हिन्दी-साहित्य में परिलक्षित होता है। अस्वाभाविक आलम्बन के कारण उर्दू-साहित्य में प्रेमी की व्याकुलता, उसका रोना-कराहना, तथा प्रार्थनाएँ, प्रिय पात्र के द्वारा सुनी-अनसुनी हो जाती ह, परन्तु भारतीय प्रेम-पद्धति में स्त्री-पुरुष का एक दूसरे की ओर आकर्षण पूर्णतः नैसर्गिक होने के कारण प्रेम-व्यवहार का आधार अधिक मनोवैज्ञानिक है। रत्नाकरजी उर्दू-फारसी के भी कवि थे, अतः इतस्ततः उनकी कविता में कृत्रिम तथा अस्वाभाविक विरह का आ जाना असम्भव न था, परन्तु उन्होंने अपनी कविता में इस प्रकार की अस्वाभाविकता को प्रायः आने नहीं दिया है। तुल्यानुराग के आदर्श का अनुसरण करने के कारण रत्नाकरजी की कल्पनाओं का ऐश्वर्य अनुभूति की विभूति से समृद्ध है :—

“जाहि लपटाइ ताहि लेति लपटाइ जोई,
 जाइ लपटाइ सोई जानै गति याकी है।
 नैकुँ मुरझाइ नाहि नित उरझाइ सुर-
 झाइ पिय बिन ऐसी छाती कहौ काकी है॥
 उजालनि की जारी तऊ पैयै हरियारी ऐसी,
 प्रेम रस-बारी मतवारी ममता की है।
 काम की लगाई अनुराग की जगाई बीर,
 खेल मति जानी यह बेल बिरहा की है॥”^२

वियोग की एक दशा मरण भी है परन्तु कर्षण से विप्रलम्भ की पार्थक्यकारी विशेषता को असंस्पृष्ट रखने की आशंसा से मरण-दशा न दिखा कर कवि ऐसी दशा का चित्रण कर देता है जो मृत्यु के समान ही कर्षण होती है। विरह के कारण नायिका ठंडी पड़ गयी है। मृत्यु के निकट पहुँचे हुए व्यक्ति के भी हाथ-पैर ठंडे पड़ जाते हैं। नायिका की इस कर्षण दशा को देखकर भला किसके हृदय में संवेदना उत्पन्न न होगी :-

लागत न नैकुं हाय औषध उपाय कोऊ ,
झूठी झार फूँकहू फकीरी परी जाति है ।
कहै रतनाकर न बैरी हू बिलोकि सकैं ,
ऐसी बसा माँहि सो अहीरी परी जाति है ।
रावरो हू नाम लिऐं नैननि उघारं नाहि ।
आह औ कराह सब धीरी परी जाति है
पीरी परी जाति है बियोग-आगि हू तो अब ,
बिकल बिहाल बाल सीरी परी जाति है ॥^१

कविवर रत्नाकर ने मानव भावाम्बु में गहरी डुबकी लगाकर ही अमूल्य भाव-रत्न अपने पाठकों को भेंट किये हैं। प्रेम-व्यापार की कोई बात उनसे छिपी नहीं है। विनिक्त प्रेम की एक विशेषता यह भी है कि प्रेमी अथवा प्रेमिका के आगे यदि उन दोनों में से किसी एक का नाम लेकर कोई बात कही जाती है, तो हृदय का प्रेम एक विचित्र सङ्कोच के साथ उनके मुख पर झलक उठता है। जो लोग चतुर होते हैं वे इस सङ्कोच और सम्भ्रम को देखकर उभयनिष्ठ अव्याकृत प्रेम का बहुत कुछ अनुमान भी लगा लेते हैं। इन्हीं मनोवैज्ञानिक क्षणों का निरूपण रत्नाकरजी ने इस प्रकार किया है:—

“काहू मिस आजु नंद-मंदिर गुबिंद आगैं ,
लेतहि तिहारी नाम धाम रस-पूर कौ ।
मुनि सकुवाइ लगे जबपि सराहन से ,
बेखि कला करत कपोत अति दूर कौ ॥
मृगमद-बिंदु तऊ चटक बुचंद भयो ,
मंद भयो खोर हरिचंदन कपूर कौ ।
बहरन लगे कल कुंडल कपोलनि पै ,
छहरन लाग्यो सीस मुकुट मयूर कौ ॥^२

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३५३, छन्द-संख्या १०७

२. वही, पृष्ठ ३२५, छन्द-संख्या २७

अवहित्या का उद्भास नायिकाओं में तो स्वाभाविक ही है, परन्तु रत्नाकरजी ने अतीव कलात्मकता से नायक में भी इस सञ्चारी का विभावन करके अपने वर्णन को अधिक यथार्थ और आकर्षक बना दिया है।

प्रत्यक्ष दर्शन से जिस प्रकार नायिका के हृदय में पूर्वानुराग उत्पन्न होता है, उसी प्रकार नायक के हृदय में भी उपद्रुत होता है। सूर-तुलसी जैसे सफल कवियों ने ऐसे उभयमुखी अनुराग का विशद चित्रण किया है, परन्तु रीतिकाल में नायिका की विरहजन्य दशा का ही अधिक उल्लेख हुआ। सम्भवतः इसका कारण स्त्री का भावना प्रधान और पुरुष का बुद्धिप्रधान होना है। बुद्धि से आक्रान्त-असन्तुष्ट होकर भावना दब जाती है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि नायक का हृदय विरह-व्यथा से उद्विग्न ही नहीं होता। रत्नाकरजी के प्रेमी हृदय ने इस तथ्य का भली भाँति अनुभव किया था, यही कारण है कि वे नायक की व्यथा का साधिष्ठ चित्रण कर सके हैं।

“टारि पट घूँघट कौ जबतें निहारि घूमि ,
घायल किए तें कान्ह कालिंदी कैं कूल हैं ।
कहै रतनकर कपूर चंद चंदन हूं ,
बेत ताप तब तें अंगारनि के तूल हैं ॥
तेरी गली छांड़ि कैं न जात बन-बागनि में ,
सुखद निहुंज भए भूरि-दुख-मूल हैं ।
रंग रूप खरि बिलोकि तब आनन कौ ,
सूल लगे लागन गुलाबनि के फूल हैं ॥”^१

विरह-व्यथा जब असहनीय हो जाती है तब चित्त-भ्रम के कारण उन्माद सञ्चारी प्रकट होता है। प्रेमी और प्रेमिका हृदय की वेदना को हृदय में ही छिपाए, सब कुछ सहते रहते हैं, परन्तु जब विरह-ताप असहनीय हो जाता है, तब वे विचार-शून्य होकर अपने आप को ही भूल बैठते हैं। उनका हृदय प्रिय में इतना तन्मय हो जाता है कि अन्य बातों का उन्हें ध्यान ही नहीं रहता। मस्तिष्क का सन्तुलन बिगड़ जाने से उनकी दशा बड़ी दयनीय हो जाती है। नायक की इसी मनोदशा का वर्णन करते हुए रत्नाकरजी कहते हैं :—

“देख्यो बन-गैल आज छैल छरकीली एक ,
लोहत धरा में पर्यो धीरज न धारै है ।

कहै रतनाकर लकुट बनमाल कहैं,
मुकुट सुडाल कहैं लुठित धुरारें है ॥
काकी कौन नैकुं निरवारत न नीकें बोलि,
खोलि कछु बेदन कौ भेद न उवारें है ।
आंस भरि आधौ नाम राम को उवारें पुनि,
सांस भरि आधें बैन धेनु कौ पुकारें है ॥^१

मूर्छा भी विप्रलम्भ शृंगार का सञ्चारी भाव है। राधा के विरह में कृष्ण मूर्छितावस्था में भी राधा का नाम उच्चारण कर रहे हैं, परन्तु बहुत ही धीरे-धीरे राधे शब्द कहने से पहले 'रा' तथा कुछ देर बाद 'धे' सुनाई देता है, अतः कवि ने यह कहलाकर कि वह ग्वाला टंडी साँस भर कर आधा नाम राम का तथा आधा धेनु का उच्चारण कर रहा है अपनी उक्ति को बड़ा ही चमत्कारपूर्ण बना दिया है। रत्नाकरजी ने उन्माद अभिन्न नायिका के चित्त-व्यामोह का भी मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। यह उदाहरण लीजिए :—

“टेरें हूँ न हेरै दृग फेरें हूँ न फेरें दृग,
बंकल सी वा गुन उधेरति बुनति है ।
कहै रतनाकर मगन मन हीं मन में,
जानै कहा आनि मन गौर कं गुनति है ।
होति थिर कबहूँ छनेक फिरि एकाएक,
भाँतिनि अनेक सीस कबहूँ धुनति है ।
धालि गयी जब तैं कन्हैया नेह काननि में,
तब तैं न नैकुं कछू काहू की सुनति है ॥^२

चित्त-सम्मोह से विप्रलोडित विरहिणी अकारण ही रोने, हँसने, गाने और विप्रलाप करने लगती है। कभी वह अपने अस्तित्व को ही भूल, प्रिय के समान वस्त्राभूषण धारण कर, स्वयं अपने पर ही मुग्ध हो उठती है। ऐसी ही मनो दशा में मुकुट और बनमाला धारण किए हुए विरहिणी को देखकर उसकी सखी उद्विग्न हो उठी है :—

तुम तौ न जानैं कौन छेल कैं छकी हो रँग,
बोलति हो ताही की उमंग अंग गाँसी ह्वै ।

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३५८, छन्द-संख्या १२०

२. वही, पृष्ठ ३४१, छन्द-संख्या ७१

कहै रतनाकर मुकुट बनमाल धरे ,
 मृगमद-लेप करे ताकी प्रतिभा सी ह्वै ॥
 वरपन में सो स्वांग देखन हमारे धाम ,
 आवति सुरैहै हाय कबहुँ बिनासी ह्वै ।
 कोऊ जो अदेखी देखिहै तो लेखि है धौं कहा ,
 हाँसी परि जाइगी हमारे गरें फाँसी ह्वै ॥^१

रतनाकरजी का विप्रलम्भ शृङ्गार अनुभूति पोषित होते हुए भी कहीं-कहीं बात की करामात बन कर रह गया है। अपने कवि-हृदय की उपेक्षा करके जब वे रीतिकालीन कवियों की शैली पर विरह-वर्णन करने लग जाते हैं, तब उनका वर्णन भी कृत्रिम सा प्रतीत होता है; फिर भी यह कृत्रिमता उस सीमा तक नहीं पहुँची है, जहाँ पहुँचकर विरह केवल खिलवाड़ बन जाता है। उनकी मुक्तक रचनाओं पर रीतिकालीन प्रभाव स्पष्ट है, परन्तु कतिपय अपवादों को छोड़कर विरह-वर्णन अस्वाभाविक नहीं है। ऐसे ही अपवादों में से एक यह है :—

‘देख्यो तुम्हें देखत सुखैं ताहि देखनि सौं ,
 इत उत देखि करैं सैन रिझवार सी ।
 कहै रतनाकर बिलोकि पुनि बिब माहि ,
 सोई भाव भाइँ चाव-चटक अपार सी ॥
 मोहें नारि नारि कै न रूप जो सुनी है सो तौ ,
 ताकी दसा देखि बात लगति असार सी ।
 जब तें बसे हें आनि नैननि तिहारे नैन ,
 रैन-छोस तब तें बिलोक्यो करै आरसी ॥’^२

नायिका की यह मनःस्थिति उन्माद की ही दशा कही जा सकती है, किन्तु है यह कृत्रिम उन्माद। नायिका के इस चित्त-व्यामोह को देखकर उतनी सम्बेदना प्राप्यत नहीं होती, जितनी शब्दों की करामात देख कर बुद्धि चमत्कृत होती है। आँखों में किसी का बस जाना तो खैर ठीक है, परन्तु आरसी में अपनी ही आँखों के प्रतिबिम्ब में प्रियतम की छवि देख लेना निश्चय ही दूर की सूझ है।^३

१. शृङ्गारलहरी, पृष्ठ ३७६ छन्द-संख्या १६७

२. वही, पृष्ठ ३५०, छन्द-संख्या ९७ ।

३. It is evident that the bulk of poetry consists of statements which only the very foolish would think of

रीतिकालीन कवियों के समान रत्नाकरजी की मुक्तक रचनाओं में दूती-प्रयोग का भी आभास मिलता है। उस युग के कवियों का नायिका भेद नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र पर ही नहीं, कामशास्त्र पर भी आधृत है। दूती उस स्त्री के पास भेजी जाती है जिसके अनुराग का परिचय मिल चुका होता है, परन्तु जो बाद में कारणवश अप्राप्य हो जाती है। दूती का प्रयोग नायक की ओर से तो होता ही है, नायिका भी उससे कम सहायता नहीं लेती। अवसर तथा समय के अनुसार अपनी स्मृति, कला-कुशलता, उत्साह, तथा भावपूर्ण वक्रोक्तियुक्त मधुर बातों से दूती नायक और नायिका का इष्ट-साधन करती है। शृङ्गारिक कवियों ने दूती-द्वारा नायक-नायिका को एक दूसरे की विरह दशा का परिचय कराने के अतिरिक्त दोनों के मान-मोचन तथा पुन-मिलन में भी उसकी सहायता ली है। रत्नाकरजी की चतुरा दूती भी अपने सूनुत वचनों से नायक के कार्य-साधन में तत्पर है :—

“एरी ब्रज जीवन की जीवन अधार बेगि,
सहज सिंगार सौं पधारि सरबर पै।
कहै रतनाकर न बात कहिबे को समै,
ठसक उठाइ ताइ दीजै सिकहर पै॥
लाग अनुराग की रही है इमि लागि सही,
जाति विरहागि ना दवागि-पाव-कर मै।
प्रबल-बियोग-रोग निबल कियौ है इमि,
धीरज धर्यौ न जात लाल गिरिधर पै॥

नायिका के इष्ट-साधन में भी वह प्रगल्भा है। उसकी निरह-व्यक्ति नायक को

attempting to verify. They are not the kind of things which can be verified. But even when they are, on examination, frankly false, this is no defect. Unless, indeed, the obviousness of the falsity forces the reader to reactions which are incongruent or disturbing to the poem. And equally, a point more often misunderstood, their truth, when they are true, is no merit.

I. A. Richards—Principles of Literary Criticism
(Thirteenth Impression) page 272.

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३५९, छन्द-संख्या १२४।

सुनाती हुई वह कहती है :—

“बुल कौ अहार रह्यो बारि रह्यो आंसनि कौ ,
सांसनि कौ सबद मूरछा की नौंद कल तैं ।
कहै रतनाकर पिछाने न पिछानी जाति ,
सेज में समानी जाति कृतता कहल तैं ॥
जो पैं तुम्हे बहम जियति कैसैं ऐसैं तोब ,
कान बं सुनौ जू हौं बतावति सरल तैं ।
प्राण कौं सकत अधरान लौं न आवन की ,
अबला जियति लाल निबंलता बल तैं ॥”^१

यहाँ भी नायिका की विरहावस्था को देखकर हृदय पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता जितना “अबला जियति लाल निबंलता बल तैं” जैसी चमत्कारपूर्ण उक्ति को सुनकर बोधवृत्ति को तोष प्राप्त होता है । इस प्रकार के गतानुगतिक विरहवर्णनों में ऊह का ही वैचित्र्य होता है । बिहारी की नायिका के पास उसकी सहेलियाँ गीले वस्त्रों की आड़ से ही सही, पहुँच तो जाती थीं, परन्तु रत्नाकरजी की नायिका में विरहाग्नि की ऐसी ज्वालाएँ उठ रही हैं कि उस ज्वालामुखी को देखने मात्र से दृष्टि जली जाती है । इस विवेचित विरह को भी दूती के ही मुख से सुन लीजिए :—

“हाल बाल परी है बिहाल नँदलाल प्यारे ,
ज्वाल सी जगी है अंग देखें दीठि जारे बेति ।
प्रेम लोकलाज मिलि बिरह त्रिदोष भयो,
कहै रतनाकर सु नैन नीर ठारे बेति ॥
सत्तर धनत्तर से हारि रहे आनि मुख ,
चंद्रोदय आखिरी इलाज है पुकारे बेति ।
झांवरी भई है बुति बावरी भई है मति ,
और की कहा है सुधि रावरी बिसारे बेति ॥”^२

फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि रत्नाकरजी की दूतियाँ बात करने में बड़ी कुशल हैं । मनोवैज्ञानिक क्षणों को पहिचान कर वे अपनी ओर से भी बहुत-सी बातें ऐसी कह देती हैं जिनसे नायक और नायिका का मनोमालिन्य दूर हो जाता है । नायिका के व्याक्रोश से नायक कुछ तटस्थ सा हो गया है, परन्तु दूती इस अवसर पर

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३५६, छन्द-संख्या ११५

२. वही, पृष्ठ ३५५ । ३५६, छन्द-संख्या ११४

भी बात सँभाल लेती है :—

“बिलग न मानियं बिहारी बर बारी बंस ,
कहा भयो जोपे अनखोंहीं करी बीठी है ।
तुम रतनाकर मुजान रस-खानि वह ,
निपट अयानि वासों ठानी क्यों अनीठी है ।
सरस सु रोचक में आकृति बिचार कहा ,
कंसं हूँ बिगारौ नाहिं होनहार सीठी है ।
टेढ़ी तें सहल गुनी सूधी भौंह मीठी अर ,
सूधी तें सहल गुनी टेढ़ो भौंह मीठी है ॥”^१

दूती जिस प्रकार नायक को समझा कर बिगड़ी बात बना लेती है, उसी प्रकार नायिका को समझा कर उसका मान भी निरस्त करा देती है । नायिका को मनाते और मान में हानि-लाभ समझते हुए वह बहुत सी बातें ऐसी भी कहती जाती है जिनसे उसका क्रोध शनैः-शनैः शान्त होकर उसके मुख पर मुसकराहट खेलने लगे । वार्त्तालाप का यह चातुर्य इने-गिने लोग ही जानते हैं —

“तुम तौ बिगारि बंठीं बेष हो लिझावन कौं ,
मेरी जान सो तौ ताहि अधिक रिझावंगो ।
कहै रतनाकर न ध्यान यह आनति हो ,
मान यह औरहूँ अठान ठनवावंगो ॥
वैहै हास-औसर अनौसर परोसिनि कौं ,
सोतिनि कौं चेत्यो चित बानक बनावंगो ।
भावंगो कहूँ जो यह रूप रसिया कौं तौपे ,
रुसिबो ही रुसिबो तिहारें बाँट आवंगो ॥”^२

चतुरा दूती के पास एक-से-एक मनोवैज्ञानिक तर्क विद्यमान है । इनमें विशेष प्रबल तर्क तो यही है कि मान करने से सोतों की बन आयेगी, घर की बात बाहर फैलने से लोगों को हँसने का अवसर मिलेगा; साथ ही ऋतु के उद्दीपक प्रभाव का वर्णन करते हुए वह नायिका को यह भी समझाती जाती है कि प्रपञ्ची कामदेव से वैर करना ठीक नहीं है :—

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३५९, छन्द-संख्या १२३

२. वही, पृष्ठ ३६२, छन्द-संख्या १३१

“बरसत पाला पौन लागत कसाला होत ,
 गाला होत हिम कौ दुसाला सियरान सौं ।
 कहै रतनाकर प्रभाकर निकाम होत ,
 काम होत नैकहूँ न तपता कृसान सौं ॥
 ऐसे समय मान करिबे में अपमान होत ,
 प्राण होत बावरी बिकल कलकान सौं ।
 घर घर घेर होत सौतिनि कं सैर होति ,
 बेर होत प्रबल प्रपंची पंचवान सौं ॥”^१

द्विती प्रयोग की इस पारिभाषिक परिपाटी के अतिरिक्त रत्नाकरजी ने रीतिकालीन कवियों के समान खण्डिता नायिका के भी आकर्षक चित्र उपस्थित किये हैं। मान ईर्ष्या-हेतुक-वियोग-शृङ्गार है। अपने प्रियतम द्वारा अन्य स्त्री की ओर देखने, उसकी चर्चा करने, या पर-स्त्री-संसर्ग जनित ईर्ष्या से उद्भूत मान क्रमशः लघु, मध्यम और गुरु तीन प्रकार का होता है, एवं हास्य-विनोद, शपथ और आधीनता से क्रमशः दूर होता है^२। मान का मुख्य कारण नायक का अन्य स्त्री पर अनुरक्त होना है। मानाभि-व्यञ्जना भी प्रेमावेग का ही विशिष्ट स्वरूप है। जिससे अनन्यता होती है, अभिन्नता होती है, उसी से तो मान किया जाता है। यदि हृदय की अभिन्नता न हो तो मान करने का साहस ही नहीं हो सकता। प्रेमिका जिस पर अपना सर्वस्व निछावर कर चुकी है, भारी से भारी स्वार्थ त्याग जिसके लिए किया जा चुका है, उसे अन्य स्त्री पर अनुरक्त देख कर उसका हृदय चूर-चूर क्यों न होगा ? उसके रूठने में भी यही भाव छिपा रहता है कि वह मेरा है, एकमात्र मेरा ही। वह उसे और किसी का कदापि न बनने देगी; इसीलिए वह प्रिय के ऊपर प्रेम-भङ्ग करने का अभियोग लगाती है। प्रिय भी यह जानता है कि अभियोक्ता उसी की जीवन-सर्वस्व है तथा उसी हृदयेश्वरी के प्रेम-न्यायाधिकरण में उसके ऊपर प्रेम-भङ्ग करने का अभियोग

१. वही, पृष्ठ ३६८, छन्द-संख्या १४८

२. (क) सहजें हांसी-खेल में, विनय-वचन सुनि कान ।

पाँच परें तिय के मिटै, लघु-मध्यम-गुरु मान ॥

भाषा भूषण

— (ख) पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंभोगचिह्नितः । —

सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ॥

साहित्यवर्षण, तृतीय परिच्छेद, कारिका ७५

चलाया जा रहा है। खण्डिता की भर्त्सना में यही माधुर्य अन्तर्निहित रहता है :—

“जानति हौं जैसे तुम छलके निधान काहूँ ,
ताहूँ पर मोहि प्रेम-पूरन-पगै लगौ ।
कहै रतनाकर कपेलनि लै पीक-लीक ,
मोकोँ तुम मेरे अनुरागहि रेंगे लगौ ॥
जैसें दरपन में दिखात उलटीई सब ,
सूधौ पर जानि जात जब लखिबे लगौ ।
मेरे मन मुकुर अमल स्वच्छ माहि र्योंहीं ,
कपट किऐं हूँ प्यारे निपट भले लगौ ॥”

खण्डिता नायिकाओं के ईर्ष्यामानात्मक विप्रलम्भ शृङ्गार के ईदृश वर्णनों से रीति-कालीन हिन्दी-साहित्य भरा पड़ा है। अस्तु, रत्नाकरजी के तादृश वर्णन परम्परा युक्त ही हैं। परन्तु ऐसे पिटे-पिटाये विषय को उठाकर भी, उसमें कान्ति निवेशित करके, उन्होंने अपनी साविष्ठ सृजनात्मिका शक्ति का विस्फीत परिचय दिया है। देव, बिहारी, मतिराम, पद्माकर, सभी ने तो खण्डिता नायिकाओं पर जी भर कर लिखा, अतः ऐसे पिष्ट-पेषित विषय पर अधिक लिखा भी क्या जा सकता है? फिर भी रत्नाकरजी की पुष्ट और प्रशस्त कल्पना कहीं कुण्ठित नहीं होती। प्रत्यय हेतु यह उदाहरण उपस्थित है :—

“आए उठि प्रात गोल गात अलसात मुख ,
आवति न बात भाल भावत कसीस है ।
कहै रतनाकर सुधाकर मुखी सो लखि ,
बिलखि न बोली रही नीचें करि सीस है ॥
कर कुच-कोर ओर बड़त पिया कौ पेलि ,
भावती चढ़ाई भौंह भाव यह बीस है ।
जानि पंचवान की चढ़ाई ईस-सीस मानौ ,
रीस करि तानत कमान रजनीस है ॥”

कहीं नूतन उत्प्रेक्षाओं द्वारा, तो कहीं अपह्लाति असंगति, अथवा अभिनव उपमाओं द्वारा, कवि ने बार-बार वर्णित पुराने विषय में भी औज्ज्वल्य उत्पन्न कर दिया है। उनकी अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न कल्पना कहीं असफल नहीं है :—

१. शृङ्गारलहरी, पृष्ठ ३६६, ३६५, छन्द-संख्या १४१

२. वही, पृष्ठ ३६६, छन्द-संख्या १४३

आए प्रभात प्रभा भरे अंगनि जीति मनौ रस-रंग-अखारी ।
 बंन कह्यौ इमि भावती सैन सौं दाग बतावति कज्जल वारी ॥
 कीजत क्यों न परें पट सौं बलि है यह भौर भयानक कारी ।
 बैठत तौ अधरा पर रावरे पै हिय बेधत हाय हमारी ॥^१

उनकी खण्डिता के व्यंग्य बड़े तीखे हैं, परन्तु नायिकां जो कुछ कहती है वह कुछ ऐसे सरल ढंग से कह जाती है कि अधिक्षेप कठोर होते हुए भी कटु प्रतीत नहीं होता :

अंजन अधर औ कपोल पीक-लीक लसै ,
 रसिक बिहारी बेस बानिक बने लगौ ।
 कहै रतनाकर धरत डगमग पग ,
 तातें मोहि मेरे ही बियोग में जगे लगौ ॥
 जानत जगत सब तैसौही दिखात ताकौ ,
 जैसौ चसमौ है जब जाके चष में लगौ ।
 नेह की निकाई छाई नैननि हमारें तातें ,
 कपट किएँ हूँ प्यारे निपट भले लगौ ॥^२

रत्नाकरजी की कतिपय शृङ्गारिक रचनाओं में उर्दू-कवियों की शैली का प्रभाव भी लक्षित होता है। उर्दू तथा फारसी-साहित्य में वियोग-दशा के वर्णन में कहीं कहीं ऐसी बातें भी मिल जाती हैं, जो भारतीय दृष्टि से शोभनीय नहीं हैं। खून के आँसू, नेत्रों के बाणों से शरीर पर घाव हो जाना, इत्यादि की चर्चा ऐसी ही है। हिन्दी-साहित्य में परकीया नायिका के कारण आलम्बन कुछ निष्ठुर तो हो ही गया था, इधर 'बिहारी' के समय से ही मुसलिम-साहित्य से प्रभावित होकर हिन्दी-कवि भी वियोग-दशा के वर्णनों में तादृश उल्लेख करने लगे थे। रत्नाकरजी स्वतः उर्दू-फारसी के विद्वान् थे, अतः वे भी इस विदेशी प्रभाव से सर्वतः नहीं बच सके हैं:—

भरि जीवन गागरी में इठलाइ कै, नागरी चेटक पारि गई ।
 रतनाकर आहट पाइ कछू, मरि घूँघट टारि निहारि गई ॥
 करि बार कटाच्छ कटारिनि सौं, मुसकानि मरीचि पसारि गई ।
 भए घाय हिये में अघाय घने, तिनपै पुनि चांदनी मारि गई ॥^३

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३६५, छन्द-संख्या १४०

२. वही, पृष्ठ ३६६, छन्द-संख्या १४२

३. वही, पृष्ठ ३५१, छन्द-संख्या १०१

निम्नस्य कवित भी उर्दू-फारसी-शैली से प्रभावित है । प्रियतमा के नेत्रों से घायल प्रेमी घावों से अघा जाना चाहता है :—

लाख अभिलाषनि कौ होत ही कुलाहल है .
मोकलौ न पावें मग नेंकु निबुकाइ वे ।
कहै रतनाकर भरोखनि के मोखे करि ,
कूबि कड़िबे कौ तिन्हें बानक बनाइ वे ॥
निडर निसंक बंक भौंहनि कमान तानि ,
नैननि के बान द्वंक औरहूँ चलाइ वे ।
तलफत त्यागि जात जुलम न ऐसौ करि ,
हा हा हँसि हेरि घूमि घायनि अघाइ वे ॥ १

सौभाग्य से रत्नाकरजी की रचनाओं में ऐसे वर्णनों का प्राचुर्य नहीं है । जहाँ कवि ने विदेशी प्रभाव से असम्पृक्त रहकर भारतीय पद्धति का अनुसरण किया है, वहाँ स्वाभाविक भाव-भूमि विपर्यस्त नहीं हैं । भारतीय पद्धति पर आधृत आलम्बन की कठोरता का वर्णन यह है ।

देखत हमारी हूँ बसा न इठिलानि माहिँ ,
आपनी तौ बानि ना बिलोकत अठानि में ।
कहै रतनाकर उपाइ ना बसाइ कडू ,
जासौं लखी भाइ-भेद उभय दिसानि में ॥
पावतौ कहूँ जो कोऊ चतुर चितेरौ तौ ,
बिखावतौ सुभाव सोधि कलित कलानि में ।
रिसवन-आतुरी हमारी अँखियानि माहिँ ,
खिसवनि चातुरी तिहारी मुसकानि में ॥ २

रत्नाकरजी यहाँ रीतिकालीन कवियों की ऊहात्मक पद्धति से दूर हैं, फलतः उनके इस वर्णन में हृदय की बेबसी का सहृदय-श्लाघ्य निरूपण है । विरहजन्य दैन्य का भी रत्नाकरजी ने विस्पष्ट और रस-प्लुत विभावन किया है । सच्चे प्रेमी की विह्वलताभिभूत दशा सर्वथा आर्त होती है । प्रिय के अप्राप्य होने पर यही एक लालसा उद्दीप्त हो जाती है कि उसे यदि हम दूर से ही देख सकें तो वही बहुत है । अपने सम्मान का प्रश्न भी यहाँ समाप्त हो जाता है :—

१. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३२७ । ३२८, छन्द-संख्या ३४

२. वही, पृष्ठ ३४८ । ३४९, छन्द-संख्या ९३

एरी मीच नीच ना मचाइ इमि खीचा खीच ,
जाइ उहां कैसैं बीच सौ गुनों सहेंगी हम ।
कहै रतनाकर ठई है उर औरै अब ,
अबलैं भई सो भई अब ना डहेंगी हम ॥
भरि भुज भेंटि जौ न पैहें तौ न पैहें भलैं ,
लाहु इन नैननि कौ ललकि लहेंगी हम ।
गरब गुमान सब भेंट करि तेरी एरी ,
सौति हूँ की चेरी औ कमेरी ह्वै रहेंगी हम ॥^१

प्रेम की सूक्ष्मताओं को रत्नाकरजी ने देखा ही नहीं उनका प्रत्यक्ष अनुभव भी किया था । यही कारण है कि रीतिकालीन कवियों से प्रभावित होकर भी वे उनकी अस्वाभाविकता से कोसों दूर रहे हैं । रीतिकालीन अनेक कवियों ने आचार्यत्व की स्पृहा से साहित्य-शास्त्र के लक्षण और उदाहरण तो प्रस्तुत किये, किन्तु आत्म वैशिष्ट्य की न्यूनता के कारण उनकी रचनाओं में प्रेम की गहन अनुभूति प्रायः अदृश्य रही । रत्नाकरजी की नवनवोन्मेषशालिनी कल्पना और समृद्धानुभूति ने कवि-कर्म में स्वच्छन्द मार्ग का अनुसरण किया, अतः उनकी कविता कहीं अधिक सरस और वाणी के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो गयी है । निम्नस्थ उदाहरण में विरहिणी के उद्गार बड़े मर्मस्पर्शी हैं; यद्यपि यह वर्णन भी परम्पराभुक्त शैली से विप्रकृष्ट नहीं है, किन्तु कला की सार्वजनीनता यहाँ विश्लिष्ट है:—

हौं तौ हुती मगन लगन-लौ लगाए हाय ,
लाए उर सुरति सुजान प्रान-प्यारे की ।
कहै रतनाकर पैं सबद सुनाइ टेरि ,
फेरि सुधि दीनी छाड़ बिरह बिसारे की ॥
कामिनी कौ नातो मानि दामिनी दया कैं नेकु ,
कसक मिटाइ देती मानस हमारे की ।
पारि देती आज वा कलापी के गरे पैं गाज ,
जारि देती जीहा वा पपीहा बजमारे की ॥^२

आने हृदय के सुरम्य स्थलों और काव्य-कोशल की सृजनात्मकता का दिग्दर्शन कराते हुए रत्नाकरजी पाठक को भाव के चरमबिन्दु तक पहुँचा देते हैं । विरहव्यथा

१. भृंगारलहरी, पृष्ठ ३६७, छन्द-संख्या १४४

२. वही, पृष्ठ ३५४ छन्द-संख्या ११०

के प्रदर्शन में वे चमत्कार दिखाने के फेर में अधिक नहीं पड़े हैं। हृदय की भावनाओं अनुभूतियों और कल्पनाओं के उद्घाटन के कारण ही उनका विरह इतना मर्मस्पर्शी हो सका है। प्रिय के भविष्यत् प्रवास से चिन्तित प्रवस्यत्प्रेयसी की निम्नस्थ उक्ति में भाव-सम्पत्ति का असाधारण ऐश्वर्य इस कथन का प्रमाण है। अतिरिक्त वेदना ही सही, किन्तु जब वह आत्मानुभूति की वीणा पर बज उठती है, तब उसका राग सहज ही हृदय के तार-तार में सूक्ष्मतः परिध्याप्त हो जाता है :—

“पिय पयान की बतियाँ सुनि सखि भोर ।

आँस नहीं दृग आवत जीवन मोर ॥^१

यहाँ भावाभिव्यञ्जना तथा चमत्कार-प्रदर्शन दोनों ही में कवि के अंतस् की वाणी मुखरित हो उठी है। इसी कारण ‘जीवन’ तथा ‘आँस’ जैसे साधारण शब्दों से ही आसन्नविरहकालिक प्रेम का ऐसा मनोरम चित्र उपस्थित हो सका है।

मुक्तक रचनाओं की अपेक्षा ‘उद्धवशतक’ में रत्नाकरजी का विरह-वर्णन अधिक मर्मस्पर्शी है। ‘उद्धवशतक’ की सूक्तियाँ विप्रलम्भ शृङ्गार के रस में पूर्णतः डूबी हुई हैं। असङ्कलित काव्य में विभिन्न विरह-दशाओं के व्यक्तीकरण की उतनी सुविधा भी नहीं होती जितनी प्रबन्धात्मक प्रेम-कथाओं में होती है। प्रबन्ध रचना में कथा प्रवाह पाठकों के हृदय में सुरम्य भाव-भूमि का निर्माण कर देता है। इसीलिए कवि का वर्णन इतना हृदयग्राही हो जाता है। मुक्तक रचना के प्रत्येक छन्द में भावाभिव्यञ्जना का आधार स्वतन्त्र कल्पना होने के कारण भाव की एकसूत्रता नष्ट हो जाती है, अतः ऐसे वर्णन पाठकों को अधिक प्रभावित करने में असमर्थ रहते हैं। ‘उद्धवशतक’ में कथा-प्रवाह उपेत होने से कवि को विरहवर्णन में अद्भुत सफलता मिली है। इस रचना में उनकी उदभावनाएँ कहीं सूर के पदों का स्मरण करा देती हैं^२ तो कहीं घनानन्द

१. दोहावली, पृष्ठ ५९१, छन्द-संख्या १३

२. सूरदास—जिंह छिन करत कलोल संग रति, गिरधर अपनी चाढ़
काटत हैं परजंक ताहि कंधों खोदत खाढ़

सूरसागर दूसरा खण्ड पृष्ठ १४८३

रत्नाकरः—सोच है यहै कं संग ताके रंगभौन माहि,

कीन धौं अनेखौ ढंग रचत निराटी है।

छाँटि देत कूबर कं आँटि देत डाँट कोऊ,

काटि देत खाट किधौं पाटि देत माटी है ॥

के कवित्त-सवैयों से टक्कर लेती हैं।^१ 'उद्धवशतक' की गोपियों का विरह पाठकों के हृदय पर चिरस्थायी प्रभाव डालता है। इस रचना की प्रमुख विशेषता ही यह है कि जिस प्रकार गोपियाँ कृष्ण के विरह में व्याकुल हैं, उसी प्रकार कृष्ण भी उनके विरह में उद्विग्न हैं। इस अनुष्ठान द्वारा रत्नाकरजी नारी हृदय की व्याकुलता का सजीव चित्रण करने में तो सफल हुए ही हैं, साथ ही नायक की निरतिशय विरह-वेदना की प्रगल्भ व्यञ्जना द्वारा रीतिकालीन कवियों से भी बहुत आगे बढ़ गये हैं। उनका विरह-वर्णन शास्त्रीय पद्धति पर उतना आधृत नहीं है जितना मनोविज्ञान पर अवलम्बित है। गोपियाँ प्रेम की सजीव प्रतिमा हैं। उनकी मूक व्यथा को उन्होंने जैसी चित्रोपमता के साथ अभिव्यक्त किया है, वैसी वर्णना सूर, घनानन्द जैसे सफल कवियों को छोड़कर अन्यत्र मिलनी कठिन है। जिस प्रेम ने मीरा को जीवन पर्यन्त रूलाया था, उसी से 'उद्धवशतक' की गोपियाँ भी व्यथित हैं। रत्नाकरजी ने अपने हृदय के नेत्रों से 'उद्धवशतक' के कृष्ण और गोपियों की विरह-व्यथा को देखा है तथा मार्मिक शब्द सङ्केतों से उसे ज्यों-का-त्यों व्यक्त भी कर दिया है।^२ लोक-सामान्य भाव-भूमि पर स्थित होने के कारण 'उद्धव-

१. घनानन्द:—

पहलें घनआनंद सींचि सुजान कही बतियां अति प्यार-पगी

अब लाय बियोग की लाय, बलाय बढ़ाय, बिसास-दगानि दगी ॥

घनानंद-कवित्त, (प्रथम संस्करण) पृष्ठ ६

रत्नाकर:—

प्रथम भुराई प्रेम-पाठनि पढ़ाइ उन, तन मन कीन्हें बिरहागि के तेपला हैं।

उद्धवशतक, छन्द-संख्या ७१

2. Many people are endowed with memories of marble upon which time can do little to efface even the slightest mark, but they benefit little from their endowment. A merely repetitive retention is rather a disability than an asset in communication, since it makes the separation of the private and irrelevant from the essential so difficult. Persons to whom the past comes back as a whole are likely to be found in an asylum.

What is in question here is not memory, in the stricter sense in which past experience is dated and placed,

शतक' के विरह-वर्णन में दूसरों को तन्मय कर देने की अद्भुत क्षमता है। मानसिक और शारीरिक अवस्थाओं की आवेग-क्रान्ति का ऐसा मार्दव सभी कवियों में सुलभ नहीं होता।

'उद्धवशतक' की कथा का पटोद्घाटन नाटकीय शैली से हुआ है। कृष्ण के मूर्छित हो जाने पर पिंजरे में बन्द तोता जब राधिका का नाम लेता है, तब उनकी मूर्छा भङ्ग होती है। उद्धव के साथ वे अपने महलों में लौट आते हैं। उद्धव उनकी मर्म-व्यथा का कारण जानना चाहते हैं, परन्तु कृष्ण उन्हें अपनी वेदना समझाएँ भी तो कैसे समझाएँ ? भावनाओं के प्रबल आवेग से उनका कण्ठ अवरुद्ध है। कृष्ण की इसी विह्वलता को रत्नाकरजी ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

“कहा कहें ऊधौ सों कहें हूँ तो कहाँ लौं कहें,
कैसे कहें कहें पुनि कौन सी उठानि तैं।
तौलौं अधिकारी तैं उमगि कंठ आइ भिचि,
नीर ह्वं बहन लागी बात अँखियानि तैं ॥”^१

विरह का अनुभव तो किया जा सकता है, किन्तु उसकी प्रवहणशीलता की पर्याय पर्यालोचना कठिन है। कृष्ण, उद्धव को अपना सन्देश-वाहक बनाकर भेजना चाहते हैं। जैसे ही वे उद्धव को समझाने लगते हैं, भावावेश से उनका कण्ठ निरुद्ध हो जाता है, फलतः जो अभिव्यक्ति वाणी के लिए असम्भव बन गयी थी, उसी को उनकी भीगी पलकें और तरल हिवकियाँ भली भाँति समझा देती हैं :—

“विरह-बिधा की कथा अकय अथाह महा
कहत बने न जो प्रबीन सुकबीनि सों।
कहै रतनाकर बुझावन लगे उग्रों कांह
ऊँधों कों कहन-हेत ब्रज-जुबतीनि सों ॥
गहबरि आयी गरी भभरि अचानक त्यों
प्रेम पर्यो चपल चुवाइ पुतरीनि सों।

but free reproduction. To be able to revive an experience is not to remember when and where and how it occurred, but merely to have that peculiar state of mind available.

I. A. Richards—Principles of Literary Criticism
(Thirteenth Impression) Page—181.

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १४७, छन्द-संख्या ४

नंकु कही बंननि, अनेक कही नैननि सौं ,
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिवकीनि सौं ॥”^१

अधोलिखित कवित्त विरह-दशा में स्मृति सञ्चारी का साधिष्ठ उदाहरण है । कृष्ण ने गोपियों के साथ जिन सुखों का अनुभव किया था, वे ही अब उनके हृदय में टीस उत्पन्न कर रहे थे । अतीत की मादक स्मृतियाँ उनके प्राणों की बीन को चुपचाप छेड़ जाती थी ।

“गोकुल की गैल-गैल गैल-गैल ग्वालनि की
गोरस केँ काज लाज-बस केँ बहाइबौ ।
कहै रतनाकर रिझाइबौ नबेलनि कौं
गाइबौ गवाइबौ औ नाचिबौ नचाइबौ ॥
कीबौ खमहार मनुहार केँ बिबिध बिधि
मोहिनी मृदुङ मंजु बांसुरी बजाइबौ ।
ऊधौ सुख-संपति-समाज ब्रज-मंडल के
भूलै हूँ न भूलै भूलै हमकोँ भुलाइबौ ॥”^२

उद्धव जब कृष्ण का सन्देश लेकर पहुँचते हैं, तब चारों ओर से गोपियाँ आकर उन्हें घेर लेती हैं । वे सोचती हैं कि पता नहीं उद्धव क्या कहेंगे ! कृष्ण का सन्देश उनके अनुकूल है या प्रतिकूल ? बारम्बार यही विचार उनके हृदय को झकझोर देता है । यद्यपि उन्हें अपने कृष्ण पर भरोसा है, परन्तु उद्धव की भाव-मुद्रा देखकर वे शङ्कित हो उठती हैं :—

“लेखि निज-भाग-लेख रेख तिन आनन की
जानन की ताहि आतुरी सौं मन म्वै रहौं ।
आँस रोकि साँस रोकि पूछन-हुलास रोकि
मूरति निरास की सी आस-भरी ज्वै रहौं ॥”^३

कृष्ण का प्रेम-पत्र उनके लिए प्रगाढ़ उत्कण्ठा उत्पन्न कर देता है । प्रिय-वियोग में उसका पत्र कितना आकर्षक होता है यह भुक्तभोगी ही जानते हैं । पता नहीं कितने दिनों से वे इस पत्र की प्रतीक्षा कर रहीं थीं और उद्धव उसी पत्र को लेकर आये हैं ! उनके औत्सुक्य और हर्ष के सम्मिलित आवेग की यह अभिव्यक्ति सहृदय

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १४७, छन्द-संख्या ५

२. वही, पृष्ठ १४८ । १४९, छन्द-संख्या ९

३. वही, पृष्ठ १५५, छन्द-संख्या २६

पाठकों को कभी न भूल सकेंगी :—

“उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पे
पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगौ ।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा , ।
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगौ ॥”^१

उद्धव उन्हें शनैः-शनैः समझाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु “कान्ह सब ही में कान्ह ही में सब कोई है।”^२ जैसे वाक्य उनकी समझ में नहीं आते। उनके हृदय ने तो प्रेम किया था और इस प्रेम के लिए उन्होंने अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया था। उनका भोला हृदय अपने प्रियतम का सन्देश सुनने के लिए उत्कण्ठित था, परन्तु उद्धव की बातों से उनकी मधुर कल्पनाएँ और प्रत्याशाएँ भङ्ग हो गयीं थीं। उनकी विह्वल दशा का यह वर्णन प्राणों की चेतना से दीप्त है :

“सुनि-सुनि ऊग्रव की अकह कहानी कान
कोऊ थहरानी, कोऊ थानहि थिरानी हैं ।
कहै रतनाकर रिसानी, बररानी कोऊ
कोऊ बिलखानी बिकलानी, बियकानी है ॥
कोऊ सेद-सानी, कोऊ भरि दूग-पानी रहीं
कोऊ घूमि घूमि परीं भूमि मुरझानी हैं ।
कोऊ स्याम-स्याम के बहकि बिललानी कोऊ
कोमल करेजौ थामि सहमि सुखानी है ॥”^३

प्रियतम के सन्देश के नाम से ही जिन भोली गोपियों के हृदय में शत-सहस्र अभिलाषाएँ करवटें ले उठी थीं, उन्हें ज्ञानवरिष्ठ उद्धव समझा भी क्या सकते थे ! बेचारी गोपियों के पास भी इतनी बुद्धि कहाँ थी कि वे उद्धव की ज्ञान-चर्चा को हृदय झम कर लेतीं। कृष्ण के सन्देश में उन्होंने जो कुछ सुनने की आशा और कल्पना कर रखी थी, उससे सर्वथा विरुद्ध बातें उन्हें सुनने को मिली थीं, अतः खिन्न और आहत अभिमान होकर उन्होंने कहा :—

“करत उपाय न सुभाय लखि नारिनि कौ
भाय क्यों अनारिनि कौ भरत कन्हई है ।

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १५६, छन्द-संख्या २७

२. वही, पृष्ठ १५८, छन्द-संख्या ३२

३. वही, पृष्ठ १५८, १५९ छन्द-संख्या ३४

ह्यां तो विषमज्वर-बिभोग की चढ़ाई यह
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं ॥”^१

गोपियों के भोले हृदय को प्रत्यय ही नहीं होता कि उनके प्रिय कृष्ण कभी इतने बदल जायेंगे, फलतः वे यह सोचने लगती हैं कि उद्धव कृष्ण के दूत नहीं हो सकते। कृष्ण तो रसिक शिरोमणि हैं; फिर भला प्रेष्ठ-सन्देश इतना रूखा कैसे हो सकता है ! उद्धव का यह वचन कि :—

“कहै रतनाकर न भेद-भावना सों भरो
बारिधि औ बूंद के बिचारि बिछुरन कौं ॥”^२

उनके गले में नहीं उतरता। वे तो प्रेमी और प्रेमिका के स्वतन्त्र अस्तित्व पर विश्वास करती हैं। यदि ये दोनों एक ही वस्तु के दो नाम हैं तो फिर कौन किससे प्यार करेगा और कौन किसकी याद में तड़पेगा ? तब तो प्रेम का माधुर्य ही मिट्टी हो जायगा ! इसीलिए उन्होंने कहा :—

“कान्हू-दूत कंधौं ब्रह्म-दूत ह्वै पधारे आप
धारे प्रन फेरन कौं मति ब्रजवारी की।
कहै रतनाकर पै प्रीति रीति जानत ना
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की ॥
मान्यो हम, कान्हू ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम,
तौहूँ हमें भावति न भावना अन्यारी की।
जैहै बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की
बूंदता बिलैहै बूंद बिबस बिचारी की ॥”^३

कृष्ण की निष्ठुरता के प्रति उन्हें आक्रोश है, परन्तु वह अधिक देर तक नहीं टिकता। सौकुमार्य के मूर्तिमान् स्वरूप विश्वास की निर्मम हत्या उनकी कल्पना से अनासन्न है, वे तो यही समझती हैं कि कृष्ण ने जो कुछ कहा है, उसे उद्धव भूल गये हैं। अपने कृष्ण के ऊपर उन्हें इतना भरोसा है कि वे उद्धव की बातों का सहज ही प्रत्याख्यान कर डालती हैं। साथ ही वे उन्हें कुछ मूर्ख भी समझने लगती हैं। बात-

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १५९, छन्द-संख्या ३५

“यहूँ बिनसत नगु राखि कं, जगत बड़ी जस लेहू।

जरी विषम जुर ज्याइयै, आइ सुवरसन देहू ॥”—बिहारी

२. उद्धवशतक, पृष्ठ १५८, छन्द-संख्या ३३

३. वही, पृष्ठ १६०, छन्द-संख्या ३८

छिपाना उन्हें नहीं आता, अतः वे उद्धव के मुँह पर ही कह देती हैं :—

“जग सपनौ सौ सब परत दिखाई तुम्हें
तातें तुम ऊधौ हसैं सोवत लखात हौ ।
कहै रतनाकर सुनै को बात सोवत की
जोई मुँह आवत सो बिबस बयात हौ ॥
सोवत मैं जागत लखत अपने कौं जिमि
त्यौं हीं तुम आपहीं सुजानों समझात हौ ।
जोग-जोग कबहूँ न जानें कहा जोहि जकौ
ब्रह्म-ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हौ ॥”^१

उद्धव के ब्रह्म से तो जैसे उन्हें चिढ़ हो गयी है। कभी-कभी वे सोचने लगती हैं कि उद्धव ब्रह्म नामक किसी व्यक्ति के दूत बन कर उन्हें छलने तो नहीं आये हैं ? और फिर ब्रह्म यदि ईश्वर भी हो, तब भी वे अपने हृदय-मन्दिर के देवता के सामने लोक-परलोक या ईश्वर जैसी किसी चीज को समझती ही क्या थीं ? इसीलिए उन्होंने उद्धव से स्पष्ट कहा :—

“कीजै ज्ञान-भानु कौ प्रकास गिरि-सृंगनि पे
ब्रज में तिहारी कला नेंकु खटिहैं नहीं ।
कहै रतनाकर न प्रेम-तरु पेहै सुखि
याकी डार-पात तून-तूल घटिहैं नहीं ॥
रसना हमारी चारु चातकी बनी हैं ऊधौ
पी-पी की बिहाइ और रट रटिहैं नहीं ।
लौटि-पौटि बात कौ बवंडर बनावत क्यों
हिय तैं हमारे घन-स्याम हटिहैं नहीं ॥”^२

गोपियों के अविचल प्रेम का इससे भव्यतर प्रमाण और बया हो सकता है ? उनके हृदय में निर्बाध प्रेम की तीक्ष्ण धारा प्रवाहित है। सम्भवतः लोकाचार के आग्रह से, वे उद्धव से बातें भी इसीलिए कर रही हैं कि आखिर वे इतनी दूर से आये हैं, अन्यथा उनकी बातें तो वे वाक्छल और वितण्डा मात्र समझती हैं। स्त्री सुलभ ईर्ष्या के कारण कभी-कभी वे यह भी सोचने लगती हैं कि हो-न-हो यह सब विष की गाँठ कुब्जा की ही करतूत है। उद्धव उसी के सिखाए-पढ़ाए हैं तथा कृष्ण-चर्चन के

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १६५, छन्द-संख्या ५१

२. वही, पृष्ठ १६८। १६९, छन्द-संख्या ५९

छल से कुब्जा की ही आकांक्षाओं की परितृप्ति करते हुए कटे पर नमक छिड़क रहे हैं:—

‘सुनीं गुनीं समझीं तिहारी चतुराई जितो
कान्ह की पढ़ाई कबिताई कुबरी की हैं ।
कहै रतनाकर त्रिकाल हू त्रिलोक हू मैं
आनें आन नेंकु ना त्रिदेव की कही की हैं ॥
कहाँहि प्रतीति प्रीति नीति हूँ त्रिबाचा धांधि
ऊँची साँच मन की हिये की अह जी की हैं ।
वे तो हैं हमारे ही हमारे ही हमारे ही औ
हम उनही की उनही की उनही की हैं ॥”^१

गोपियों का हृदय सौतिया डाह के कारण कुब्जा पर अधिकाधिक रुष्ट होता जाता है, फलतः उद्धव के अन्वादेश के अधिक्षेप में वे और भी कटि-बद्ध हो जाती हैं । उनके कृष्ण तो कभी ऐसा कह ही नहीं सकते । अनन्यता की आधार-शिला का दूसरा नाम विश्वास नहीं तो और क्या है ?

“सुधर सलोने स्यामसुंदर सुजान कान्ह
करना-निधान के बसीठ बनि आए हौ ।
प्रेम-प्रनधारी गिरिधारी कौ सनेसौ नाहि
होत है अँदेसौ झूठ बोलत बनाए हौ ॥
ज्ञान-गुन-गौरव-गुमान-भरे फूले फिरौ
बंदक के काज पे न रंचक बराए हौ ।
रसिक-सिरोमनि कौ नाम बंदनाम करौ
मेरी जान ऊँधौ कूर-कूँदरी-पठाए हौ ॥”^२

इस सौतिया डाह का आगे चलकर रत्नाकरजी ने और भी विशद चित्रण किया है । गोपियाँ आश्चर्यान्वित हैं कि उनके अथवा राधिका जैसी सुकुमारी नारी के सामने कृष्णको कुब्जा जैसी अकिञ्चन स्त्री पसन्द कैसे आ गयी ! अतः अपने रूप और यौवन की निष्क्रियता से आहत होकर कृष्ण पर भी व्यंग्य कसती हुई वे कह उठती हैं ।—

“पुरतीं न जौ पै मोर-चंद्रिका किरीट-काज
जुरतीं कहा न काँच किरचें कुभाय की ।

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १६९, छन्द-संख्या ६१

२. वही, पृष्ठ १७५, छन्द-संख्या ७५

कहै रतनाकर न भावते हमारे नैन
 तौ न कहा पावते कहूँधौं जाँय पाय की ॥
 मान्यौ हम मान कै न मानतीं मनाएँ बेगि
 कीरति-कुमारी सुकुमारी चित-चाय की ।
 याही सोच माहि हम होति दूबरी कै कहा
 कूबरी हू होती ना पतोहू नंदराय की ॥”^१

उद्धव का अधरीण उपदेश उन्हें अनार्जव से ओतप्रोत प्रतीत हुआ । जिस प्रेम के लिए उन्होंने लोक-लाज और कुल-मर्यादा भी धो-बहायी थी, उसी प्रेम के उपसर्जन के लिए उद्धव उन्हें शिक्षा दे रहे हैं ! इसीलिए कृष्ण और कूबरी के साथ वे उद्धव को भी लपेट लेती हैं :—

“प्रथम भुराइ प्रेम-पाठनि पढ़ाइ उन
 तन मन कीन्हें बिरहागि के तपेला है ।
 कहै रतनाकर त्यों आप अब तापें आइ
 सांसनि की सांसति के झारत झमेला है ॥
 ऐसे ऐसे सुभ उपदेस के दिबैयनि की
 ऊधौ ब्रजवेस में अपेल रेल-रेला हैं ।
 वे तौ भए जोगी जाइ पाइ कूबरी कौ जोग
 आप कहें उनके गुरु हैं किधौं चेला हैं ॥”^२

वे यह समझने में असमर्थ हैं कि कुब्जा की किस विशेषता पर कृष्ण इतने मुग्ध हैं । कहाँ राधिका तथा ब्रज की गोपिकाएँ और कहाँ कुब्जा ! जो कुछ भी हो; कृष्ण के प्रति उनका प्रेम फिर भी अचल है । उद्धव के बारम्बार आग्रह करने पर वे कहती हैं कि यदि योग-साधन से ही कृष्ण मिल सकते हैं, तो वे उसके लिए भी तैयार हैं :—

“नेम ब्रत संजम के आसन अखंड लाइ
 सांसनि कौ घटिहैं जहाँ लौं गिलि जाइगौ ।

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १७८, १७९ छन्द-संख्या ८४

२. वही, पृष्ठ १७३, छन्द-संख्या ७१

“कूबरी के कान फाड़ माथो मूँड़ि राख लाय

चेला बनो ताके यां बनाओ ताहि चेली है”—कविवर ग्वाल

(ग्वाल रत्नावली पृष्ठ ९४)

कहै रतनाकर धरंगी मृगछाला अरु
 धूरि हूँ वरंगी जऊ अंग छिलि जाइगौ ॥
 पाँच-आँचि हूँ की झार भेलिहैं निहारि जाहि
 रावरी हूँ कठिन करेजौ हिलि जाइगौ ।
 सहिहैं तिहारे कहै साँसति सब पै बस
 एती कहि देहु कं कन्हैया मिलि जाइगौ ॥^१

उद्धव की विगलित बुद्धि पर उन्हें बड़ी दया आती है । वे सोचती हैं कि उद्धव तो अनन्त रूप की राशि कृष्ण के अभिन्न मित्र हैं; फिर ऐसे अनुपम सौन्दर्य को देख कर भी ये ब्रह्म के झमेले में कैसे पड़ गये ! उन्हें अब विश्वास हो जाता है कि कृष्ण को देखने के लिए सम्भवतः गोपियों की ही आँखें चाहिएँ । यह भी एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि प्रेमी अपने प्रिय को जिन आँखों से देखता है, उनमें सामान्य जन उसे नहीं देख पाते । प्रेम-भरे नेत्र प्रिय के दोषों को भी गुणों में परिवर्तित कर देते हैं । उन नेत्रों के मादक इन्द्रजाल में प्रिय की भली-बुरी प्रत्येक बात प्रेमी को सुन्दर प्रतीत होन लगती है ॥ काश उद्धव ने भी कभी प्रेम किया होता ! या फिर वे गोपियों का हृदय उधार लेकर ही उनके नेत्रों से कृष्ण को देख सकते तो ऐसी बे-सिर-पैर की बातें न करते :—

“ढोंग जात्यौ ठरकि परकि उर सोग जात्यौ
 जोग जात्यौ सरकि स-कंप कंखियानि तैं ।
 कहै रतनाकर न लेखते प्रपंच ऐंठि
 बंठि धरा लेखते कहूँधौ नखियानि तैं ।
 रहते अदेख नाहि वेष वह देखत हूँ
 देखत हमारी जान मोर पंखियानि तैं ।
 ऊधौ ब्रह्म-ज्ञान कौ बखान करते ना नेकु^१
 देख लेते काहू जो हमारी अँखियानि तैं ॥”

उद्धव जब गोपियों से बिदा होकर कृष्ण के पास जाने लगते हैं, तब गोपियाँ और भी अधीर हो जाती हैं । वे अपना सन्देश कृष्ण के पास भेजना चाहती हैं, परन्तु जिस प्रकार उद्धव को गोपियों के पास भेजते समय कृष्ण प्रेमातिरेक के कारण कुछ न कह सके थे, उसी प्रकार गोपियाँ भी प्रेम-विह्वल होकर कुछ कहने में असमर्थ हो जाती हैं :—

१. उद्धवशातक, पृष्ठ १७०, छन्द-संख्या ६२

२. वही, पृष्ठ १७१, छन्द-संख्या ६६

“कोऊ जोरि हाथ कोऊ नाइ नञ्जता सौं माथ
भाषन की लाख लालसा सौं नहि जात है ।
कहै रतनाकर चलत उठि ऊधव के
कातर ह्वै प्रेम सौं सकल महि जात हैं ॥
सबद न पावत सो भाव उमगावत जो
ताकि-ताकि आनन ठगे से ठहि जात है ।
रंचक हमारी सुनौ रंचक हमारी सुनौ
रंचक हमारी सुनौ कहि रहि जात है ॥^१

‘उद्धवशतक’ में रत्नाकरजी की प्रतिभा अदभ्र चमत्कार-प्रदर्शन के व्यामोह से उपराम ग्रहण करके भावनाओं में ही विश्राम करने लगी है । यहाँ रूढ़िबद्ध ऊहात्मक व्यञ्जना से वे प्रायः दूर ही रहे हैं । केवल दो एक कवित्त ही ऐसे हैं जहाँ रीतिकालीन मनोवृत्ति से प्रभावित होकर उन्होंने केवल रमणीय उपकरणों से ही रसोद्रेक का प्रयास किया है । ऐसे स्थलों पर प्रेम वाणी का विलास मात्र बन गया है :—

“दाबि-दाबि छाती पाती-लिखन लगायौ सब
ब्योंत लिखिबे को पैन कोऊ करि जात है ।
कहै रतनाकर फुरति नाहिं बात कछू
हाथ धर्यौ हीतल थहरि थरि जात है ॥
ऊधो के निहोरें फेरि नंकु धोर जोरें पर
ऐसो अंग-ताप की प्रताप भरि जात है ।
सूखि जात स्याही लेखिनी कं नंकु डंक लागें
अंक लागें कागद बररि धरि जात है ॥^२

‘उद्धवशतक’ में ऐसी ऊहात्मक कल्पनाएँ अधिक नहीं हैं । अन्यत्र भी रत्नाकरजी सामान्य भावभूमि से अलग नहीं हटे हैं । यही कारण है कि उनकी सूक्तियाँ अनुभूति के मार्दव से आप्लावित हैं । निःसंदेह उनकी उक्तियों में हृदय पर प्रभाव डालने की अतक्य क्षमता है; तभी तो उनकी सरल हृदया गोपियों का सन्देश इतना मर्मस्पर्शी हो सका है:—

१. उद्धवशतक पृष्ठ १८४ । १८५ छन्द-संख्या ९९

“आय जुरीं बिजुरी सी कितेकउ प्रेम प्रबाह कया तिन जाँची ।

ऊधो सुनो तुम ऊधो सुनो तुम ऊधो सुनो तुम या धुनि माँची ॥

ठाकुर-ठसक—पृष्ठ ४३

२. उद्धवशतक, पृष्ठ १८५, छन्द-संख्या १००

“नन्द जसुदा औ गाय-गोप-गोपिका की कछू
 बात वृषभान-भौन हूँ की जनि कीजियौ ।
 कहै रतनाकर कहति सब हा हा खाइ
 ह्याँ के परपंवनि सौँ रंच न पसीजियौ ॥
 आंस भरि ऐहै औ उदास मुख ह्वै है हाय
 ब्रज-दुख त्रास की न तातैं सांस लीजियौ ।
 नाम कौ बताइ औ जताइ गाम ऊधौ बस
 स्याम सौँ हमारी राम-राम कहि दीजियौ ॥”^१

गोपियाँ सोचती हैं कि कहीं ऐसा न हो कि हमारे दुःख का समाचार सुन कर वे उदास हो जायें । उनकी इस आशंका में भी यह विश्वास छिपा हुआ है कि कृष्ण उनसे अवश्य प्रेम करते हैं । गोपियाँ प्रेम में त्याग के महत्त्व को जानती हैं, इसीलिए वे अपनी विरह-व्यथा का समाचार भी कृष्ण के पास नहीं भेज रही हैं । कृष्ण को वे किसीभी कारण से उदास नहीं देख सकतीं । वे जिस ग्राम में रहती हैं, उसी में कृष्ण भी तो इतने दिनों तक उनके साथ रहे हैं । तब क्या इतना ही पर्याप्त नहीं है कि उद्धव उनका तथा उस ग्राम का नाम कृष्ण को जता दें ? कृष्ण के हृदय में प्रेम होगा तो वे इतने से ही सब कुछ समझ लेंगे । सन्देश भी कितना छोटा सा है । “कृष्ण से हमारी राम राम कह देना ।” परन्तु इस संक्षिप्त संदेश में जो करुण वेदना-सिक्त व्याकुलता ध्वनित हो रहा है, उसकी सीमा का विस्तार असीम है । ऐसा प्रेम-विह्वल सन्देश क्या कभी शब्दों द्वारा व्यक्त हुआ है ? इसी कारण गोपियों ने उद्धव को यह सम्मति दी थी कि :—

“हाल कहा ब्रमत बिहाल परीं बाल सब
 बसि दिन द्वेक देखि दुगनि सिधाइयो ।
 रोग यह कठिन न उधौ कहिबे के जोग
 सूधौ सौ संवेस याहि तू न ठहराइयो ॥
 औसर भिलै औ सर-ताज कछु पूछिहि तो
 कहियौ कछू न दसा देखी सो दिखाइयो ।
 आह के कराहि नैन नीर अवगाहि कछू
 कहिबे कौ चाहि हिचकी लै रहि जाइयो ॥”^२

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १८३, छन्द-संख्या ९६

२. वही, पृष्ठ १८३, छन्द-संख्या ९५

सुकुमारता की मूर्ति गोपियों की इस दुर्दशापन्न शारीरिक और मानसिक अवस्था का अनुकरण करके ही दिखाया जा सकता था और उद्धव ने सचमुच किया भी यही । प्रेष्ठ-विरह-क्षीणतापा गोपियों की प्रणय-रीति को देखकर अब वे भी प्रेम के महत्त्व का आकलन करने लग गये थे । कृष्ण के पास पहुँचते-पहुँचते तो उद्धव स्वतः इतने उद्विग्न हो गये थे कि उनसे कुछ कहा ही नहीं जाता था । उधर कृष्ण आतुर थे; वे उद्धव के मुख से विरह-विधुरा गोपियों का सन्देश सुनने को उसी प्रकार अधीर हो रहे थे जैसे गोपियाँ उनका संदेश सुनने को अकुला उठीं थीं । कृष्ण और उद्धव की इस विकल मनोदशा का कवि ने यह हृदयस्पर्शी चित्र उपस्थित किया है :—

“आए दौरि पौरि लौं अवाई सुनि ऊधव की
और ही बिलोकि दसा दृग भरि लेत हैं ।
कहै रतनाकर बिलोकि बिलखात उन्हें
येऊ कर काँपत करेंजें धरि लेत हैं ॥
आवति कछूक पूछिबे औ कहिबे की मन
परत न साहस पै बोऊ दरि लेत हैं ।
आनन उदास सांस भरि उकसोंहैं करि
सोंहैं करि नैननि निचोंहैं करि लेत हैं ॥”^१

गोपियों ने उद्धव से कहा था कि “कहिबे कौं चाहि हिव तो लै रहि जाइयो” इस बात को उद्धव ने कहाँ तक निभाया, यह निम्नोक्त कवित्त से स्पष्ट हो जाता है :—

“आंसुनि की धार औ उभार, कौं उसांसनि के
तार हिवकीनि के तनक दरि लेन देहु ।
कहै रतनाकर फुरन देहु बात रंच
भावनि के विषम प्रपंच सरि लेन देहु ॥
आतुर ह्वैं और हू न कातर बनावौ नाथ
नैसुक निवारि पीर धीर धरि लेन देहु ।
कहत अब हैं कहि आवत जहाँ लौं सब
नैकु थिर कइत करेजौ करि लेन देहु ॥”^२

गोपी-उद्धव-संवाद को लेकर भक्त कवियों ने भी लेखनी चरायी और शृंगारी

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १८८, छंद-संख्या १०७

२. वही, पृष्ठ १८९, छंद-संख्या ११०

कवियों ने भी, किन्तु भक्त कवियों ने इस विषय को लेकर ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ ठहराया तो शृङ्गारी कवियों ने इसे विप्रलम्भ शृङ्गार में लेकर उपालम्भ-रूप में चित्रित किया। यही कारण है कि शृङ्गारी कवियों के गोपी-उद्धव-संवाद का उपालम्भ भक्ति-भावना से पृथक् हो गया है 'उद्धवशतक' में रत्नाकरजी की रस-सिक्त सूक्तियाँ बड़ी ही मर्मस्पर्शी हैं। उनमें उद्वेग अथवा भड़क नहीं, हृदय की सच्ची पुकार है। विरह की आवेग पूर्ण भावना से ओत-प्रोत होने के कारण वे पाठक के हृदय को बड़ी मधुरता से स्पन्दित कर देती हैं। विरहिणी ब्रजाङ्गनाओं के आँसुओं में यदि प्रेमानुभूति की स्निग्धता, अनुभूति की आर्द्रता, कल्पना की रङ्गीनी और स्वभावगत आभिजात्य है, तो दीर्घ निःश्वास में संयम की सुगन्ध भी है। रत्नाकरजी ने अपनी रचनाओं में शृङ्गार रस का जैसा परिपाक किया है, वैसा उनके युग में अन्य कोई कवि नहीं कर सका। शृङ्गार के उभय पक्षों के निरूपण में एक नहीं अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ तीव्र भावावेश की तरलता के कारण रत्नाकरजी किसी न किसी व्याज से स्वतः द्रवीभूत होकर कविता बन गये हैं। सच्चे कलाकार का विशेषत्व ही यह है कि वह विश्वकर्मा के अव्याकृत हाथों के समान प्रच्छन्न रह कर प्रभूत भाव-चित्रों का विस्मापक निर्माण कर डालता है।

वत्सल रस

शास्त्रीय परम्परा की दृष्टि से अनेक प्राचीन आचार्यों ने वत्सल को पृथक् रस नहीं माना है, परन्तु विश्वनाथ कविराज ने इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है।^१ आधुनिक मनीषा भी वत्सल को स्वतन्त्र रस मानने के पक्ष में है। रत्नाकरजी पुरानी परिपाटी के कवि थे, अतः वे भी सम्भवतः इसे स्वतन्त्र रस नहीं मानते थे। कदाचित् इसी-लिए उनकी रचनाओं में वात्सल्य के चित्र अधिक नहीं मिलते। रतिभाव को व्यापक रूप में लेने से भक्ति, वात्सल्य, स्नेह प्रभृति भाव रति में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं।

श्री गणेशाष्टक में रत्नाकरजी ने वात्सल्य के भी कतिपय अनर्घ चित्र उपस्थित किए हैं। भगवान् शङ्कर के परिवार में गणेशजी का विशिष्ट स्थान है। लम्बी सी सूंड, मात्र एक दांत और हाथी जैसे मुख वाला यह बालक जब आनन्दविधूषित नेत्रों से भगवान् शङ्कर को देखता है, तब उनका मन उसका मुख चूमने को मचल उठता है,

१. "स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।

स्यायो वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्।"—इत्यादि

दृष्टव्य-साहित्य-दर्पण—कारिका-२५१, २५२, २५३।

परन्तु कुछ असुविधा देखकर वे केवल अधर फड़का कर ही रह जाते हैं। शङ्कर-पार्वती के हृदय में वात्सल्य-स्फुरण करने वाले इस बालक की यह चपल क्रीड़ा दर्शनीय है :—

‘मंजु अवतंसनि पै गुंजरत भौर-भीर ,
मंद-मंद श्रौननि चलाइ बिचलावै है ।
कहै रतनाकर निहारि अध चाँपे चख ,
चूमिबे कौं संभु कौ अधर फरकावै है ॥
कुंडलि सुंडिका पसारि अनचीते चट ,
कुंडल षड़ानन कौ छवै पुनि छपावै है ।
दाबे मुख मोदक बिनोद में मगन इमि ,
गोद गिरिजा की गहे मोद उपजावै है ॥’^१

इसी बालक को भगवान् ने “विधन बिदारन” का कठिन काम सौंप दिया है। परन्तु माँ का हृदय डम कठोरता को सहन नहीं कर पाता, अतः वह खीज कर कह उठती है:—

“बिधन बिदारन कौ कुमति निवारन कौ ,
टारन कौ जेतौ जग बिपति-पसारौ है ।
कहै रतनाकर कहति गिरिजा यौ नाथ ,
हाथ पर्यी रावरें गजानन ही बारी है ॥
रैन दिन चैन है न सैन इहि उद्यम में ,
दमह न लैन पावै रंचक बिचारौ है ।
जारौ किन कंत नैन तीसरें दुरंत सबै ,
एक दंत ही कौ अबं बालक हमारौ है ॥”^२

इन चित्रों में वात्सल्य के साथ हास्य और भक्ति-भावना का भी पुट है।

वीररस—

वीररस का आधार उत्साह का आधिक्य है। विभिन्न प्रकार के उत्साहों की दृष्टि से इस रस के अनेक भेद हो सकते हैं। यद्यपि ‘रसगङ्गाधर’ में सत्य-वीर, पण्डित-वीर, क्षमावीर, बलवीर इत्यादि ऐसे भेद हैं, जिनका उल्लेख पण्डितराज जगन्नाथ के पूर्ववर्ती विद्वानों ने नहीं किया है, किन्तु मम्मटाचार्य के अनुकरण पर इस रस के

१. श्री गणेशाष्टक, पृष्ठ ४२५, छन्द-संख्या २

२. वही, पृष्ठ ४२८, छन्द-संख्या-८

युद्धवीर, धर्मवीर, दानवीर तथा दयावीर ये चार भेद ही माने जाते हैं, जिनमें युद्धवीर प्रमुख है। इन चारों में स्थायी भाव उत्साह ही होता है, परन्तु अनुभाव, तथा सञ्चारी भावों की भिन्नता के कारण ये एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। युद्धवीर का आलम्बन शत्रु अथवा विजेतव्य है। शत्रु के पराक्रम से, उसकी धूर्तता, कठोर वचनों, अथवा उसके किये हुए अपकारों से इसका उद्दीपन होता है। अपना यशोगान मुनकर या फिर अपने सैनिकों की वीरता एवं स्वामिभक्ति देखकर भी वीरत्व उद्दीप्त होता है। भुजाओं का फड़कना, युद्ध में सहायक सैन्य, शस्त्र-अन्वेषण इत्यादि इसके अनुभाव, तथा स्मृति रोमाञ्च, मति, गर्व, तर्क, आदि सञ्चारी भाव हैं।

वीररस का चित्रण शृङ्गाररस की अपेक्षा कठिन है। वीररसात्मक परिस्थितियों का सफल चित्रण किये बिना कोई कवि अपने पाठकों को इस रस में निमग्न नहीं कर सकता। परम्परा के अनुसार वीररस का नायक कोई प्रसिद्ध व्यक्ति होना चाहिए, क्योंकि चाहे जिस व्यक्ति के उत्साह से पाठकों का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाना सहज नहीं है। नायक के प्रति पाठकों की श्रद्धा भी तभी जाग्रत होती है, जब वह किसी ऐसे व्यक्ति पर विजय प्राप्त करता है जो आततायी होता है, अथवा जिसके कारण लोक-कल्याण में बाधा उपस्थित होती है। रत्नाकरजी का काव्य मुख्यतः पौराणिक है, अतः उन्हें वीररस के चित्रण के लिए ऐसे युग-पुरुष अनायास ही मिल गये हैं, जिनके प्रति पाठकों के हृदय में पहले से ही सम्मान विद्यमान है। कृष्ण, अभिमन्यु, भीष्म जैसे नायक ऐसे ही हैं। अरिन्दम अभिमन्यु के वीरोल्लास का तो रत्नाकरजी ने अतीव सजीव वर्णन किया है। उसकी किशोरावस्था और चक्र-व्यूह-भेदन के उत्साह में जो तुलनामूलक वैषम्य है, उससे यह चित्र और भी उभर गया है :—

“धरम-सपूत को रजाई चित-चाही पाइ ,
 धायौ धारि हुलसि हथ्यार हरबर में ।
 कहै रतनाकर सुभद्रा कौ लड़ैतौ लाल ,
 प्यारी उत्तराह की रुक्यौ न सरबर में ॥
 सारबूल-सावक बितुंड-मुंड में ज्यों त्यौहीं ,
 पैठ्यौ चक्रव्यूह की अनूह अरबर में ।
 लाग्यौ हास करन हुलास पर बैरिनि के ,
 मुख मंद हास चंदहास करबर में ॥”

गर्वोद्धत वाक्य इस रस के सञ्चारी होते हैं। वीररस के आवेश में वार्तालाप की सामान्य शिष्टता तिरोहित हो जाती है। वस्तुतः आत्म प्रतिपादन तो है ही वीरता की प्रधान प्रवृत्ति। निम्नोक्त कवित्त में इसी कारण भीष्म की उक्ति इतनी दर्शपूर्ण है:—

“पारथ बिचारौ पुरुषारथ करैगौ कहा ,
स्वारथ-समेत परमारथ नसैहौं मैं ।
कहै रतनाकर प्रचार्यौ रन भीषम यौं ,
आज बुरजोधन-बुख दरि दैहौं मैं ॥
पंचनि कै देखत प्रपंच करि दूरि सबै ,
पंचनि कौ स्वतंत्र पंचतत्त्व में मिलैहौं मैं ।
हरि-प्रन-हारी जस धारि कै धरा ह्वै सांत ,
सांतनु को सुभट सपूत कहवैहौं मैं ॥”^१

धीरोदात्त पौराणिक नायकों के अतिरिक्त रत्नाकरजी ने वीररस-निरूपण के लिए उन ऐतिहासिक वीर-वीराङ्गनाओं को भी चुना है, जिन्होंने शील, आत्मगौरव तथा चिर-प्रतिष्ठित-लोकधर्म की रक्षा के निमित्त सहर्ष प्राणों की बाजी लगा दी थी। महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, महाराज छत्रसाल, वीर नारायण, महारानी लक्ष्मीबाई, महारानी दुर्गावती, गुरुगोविन्दसिंह इत्यादि ऐसी ही प्रात स्मरणीय विभूतियाँ हैं। कविवर रत्नाकर ने इन ऐतिहासिक महापुरुषों का बड़ा ही ओजस्वी वर्णन किया है। महाराज छत्रसाल की इस उक्ति में वीरोत्प्लास की छटा दर्शनीय है:—

“देव-द्विज-द्रोहिन के आँसनि उसाँसनि सौं ,
मातभूमि गात कौ संताप सियराजें मैं ।
कहै रतनाकर बुँदेल भट मानी महा ,
जमन-निसानी असि-पानी सौं बहाजें मैं ।
श्रीपति सहाय सौं दिलीपति की छत्र सालि ,
छत्रसाल नाम निज सारथ बनाजें मैं ।
चपल चकत्ता की महत्ता अरु सता चाँपि ,
चंपत की नंदन अमंद कहवाजें मैं ॥”^२

वीर-वीराङ्गनाओं के उदात्त भावों के विश्लेषण में रत्नाकरजी कुशल हैं। उन्होंने इन नायक-नायिकाओं को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर उनकी शौर्यपूर्ण

१. वीराष्टक, पृष्ठ ४८९, छन्द-संख्या २

२. वही, पृष्ठ ५१६, छन्द-संख्या १

जीवनी के कतिपय मार्मिक अंशों का संश्लिष्ट चित्रण किया है। विभिन्न वीराष्टकों में उनकी यही विशेषता सर्वत्र परिलक्षित होती है। 'गंगावतरण' में भी वीरोल्लास का चित्रण अतीव प्राणवान है। अश्वमेध यज्ञ के घोड़े का अपहरण हो जाने पर अज्ञात-शत्रु के प्रति रण-दुर्मद सैनिकों का यह अग्निभ क्षोभ दर्शनीय है :—

“कड़ी परति करबाल कोस सौं चमकि-चमकि कै ।

निकसे आवत बान तून सौं तमकि-तमकि कै ॥

उठि-उठि कर रहि जात कसकि तिनके बाहन कौं ।

पै न लगति अरि-खोज ओज सौं उत्साहन कौं ॥”^१

युद्धवीर के अतिरिक्त रत्नाकरजी ने धर्मवीर, दानवीर तथा दयावीर का भी सुन्दर निरूपण किया है। धर्मवीर में धार्मिक ग्रन्थ आलम्बन होते हैं। महाभारत, रामायण, वेद, मनुस्मृति आदि ग्रन्थ ऐसे ही हैं। इनमें वर्णित धार्मिक बातें अथवा इतिहास इत्यादि इसके उद्दीपन, धर्म के लिए नाना प्रकार के कष्टों को सहन करना अनुभाव तथा मति, धृति, प्रभृति सञ्चारी भाव हैं। रत्नाकरजी ने 'हरिश्चन्द्र' काव्य में धर्मवीर के एक-से-एक सुन्दर प्रसङ्ग उपस्थित किये हैं। अपनी कष्टपूर्ण अवस्था से व्यथित होकर महाराज हरिश्चन्द्र आत्महत्या के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं, किन्तु शीघ्र ही उन्हें ध्यान आ जाता है कि आत्महत्या एक तो वैसे ही पाप है और अब तो शरीर को भी बेचकर वे दास बन चुके हैं, फलतः शरीर-त्याग का उन्हें कोई अधिकार नहीं है :—

पै ज्योंहीं गर माँहि फाँद दै कूदन चाह्यो ।

त्योहीं सत्य बिचार बहुरि उर माँहि उमाह्यो ।

“हरे-हरे यह कहा बात हम अनुचित ठानी ।

कहा हमें अधिकार भई जब देह बिगानी ॥

जो हम तजिबो प्रान होइ मतिअंध बिचार्यो ।

हाय जाय कसैं यह मनसा-पाप निवार्यो ॥

बुख सौं गई हाय ऐसी ह्वै मति मतवारी ।

अंतरजामी नाथ छमहु यह चूक हमारी ॥

अब तो हम हैं दास डोम के आज्ञाकारी ।

रोहितास्व नहि पुत्र न सेव्या नारि हमारी ॥

चलें स्वामि के काज माहि दृढ़ ह्वं चित लावें ।

लेहि कफन को दान बेगि नहीं बिलंब लगावें ॥”^१

महारानी शैव्या तथा महाराज हरिश्चन्द्र, दोनों ही की निर्भ्रम धर्मवीरता का परिचायक वह स्थल है जहाँ दुःख से कातर महारानी शैव्या आत्महत्या में तत्पर हो जाती हैं, परन्तु महाराज हरिश्चन्द्र द्वारा सावधान किये जाने पर पुनः कर्तव्य-पालन में दृढ़ होती हैं। धर्म-विरुद्ध-विचार उत्पन्न होने के कारण उन्हें बड़ा खेद होता है। प्रसङ्ग यह है :—

“यों कहि उठि अकुलाइ चह्यो धावन ज्यों रानी ।

त्यौं स्वर करि गंभीर धीर बोले नृप बानी ।

“बेचि देह दासी ह्वं तब तो धर्मं सम्हार्यो ।

अब अपरम क्यों करति कहा यह हृदय बिचार्यो ॥”^२

या तन पे अधिकार कहा तुमको सोची छिन ।

जानि बूझि जो मरन चलीं स्वामी-आयसु बिन ॥”

यह सुनि ह्वं चैतन्य महारानी मन आन्यौ ।

“ऐसे कुतमय माहि कौन हित-मन्त्र बखान्यौ ॥”^३

इस प्रकार प्रबोध किये जाने पर रानी के हृदय में धैर्य के प्रति निर्दम्भ उत्साह उद्दीप्त हो जाता है, अतः वह कह उठती है :—

“सांचहि अनरथ होन चहत हो ग्रह अति भारी ।

धन्य धर्मवक्ता सो जो गहि बांह उबारी ॥

हमें कौन अधिकार रह्यो अब प्राण तजन कौ ।

दीसत और उपाय न दुख सौ बूर भजन कौ ॥”^४

महाराज हरिश्चन्द्र की धर्मवीरता का एक और उत्कृष्ट उदाहरण वहाँ दिखायी देता है जहाँ वे अपनी पत्नी से अपने ही पुत्र के कफन में से आधे कफन का कर मांगते हैं :—

तब नृप बरबस रोकि आंसु, सोहें बढ़ि आए ।

थाम्हि करेजौ धारि धीर ये सब्द सुनाए ॥

१. हरिश्चन्द्र, पृष्ठ १०३-१०४, छन्द-संख्या ६३ ६५

२. वही, पृष्ठ १०५, छन्द-संख्या ६९

३. वही, पृष्ठ १०५, छन्द-संख्या ७०

४. वही, पृष्ठ १०५, छन्द-संख्या ७१

“है मसानपति की आज्ञा कोउ मृतक फुकें ना ।

जब लौं फूकन हार कफन आधौ कर दें ना ॥”^१

महाराज हरिश्चन्द्र की प्रशंसा में जब आकाशवाणी होती है तब भी कुछ देर के लिए अपने दुःख से विचलित होकर महारानी शैव्या कह उठती हैं कि “जानि परस सब सास्त्र आदि अब तौ मिथ्या छल,”^२ परन्तु हरिश्चन्द्र यहाँ भी धर्म पर अविचल हैं—

यह सुनि लखननि धारि हाथ भूपति तिहिं टोक्यौ ।

“हरे-हरे यह कहत कहा तुम” यौं कहि रोख्यौ ॥^३

“सूर्य बंस की बधू चंद्र-कुल की ह्वैं कन्या ।

मुख सौं काढ़त हाय कहा यह बात अधग्या ॥

बेद ब्रह्म ब्राह्मन सुर सकल सत्य जिय जानौ ।

दोष आपने कर्महिं कौ निहचय करि मानौ ॥”^४

महाराज हरिश्चन्द्र को यह विदित हो चुका है कि महारानी शैव्या अपनी आधी साड़ी फाड़कर उसी में आंखों के तारे रोहिताश्व के शव को लपेट कर ले आयी हैं, परन्तु फिर भी वे धर्म पर दृढ़ रह कर उस कफन में से भी आधा कफन मांगते हैं :—

कह्यौ भूप हम “करहिं कहा हैं दास पराए ।

फुकन देन नहिं सकत मृतक बिन कर चुकवाए ॥

ऐसे ही अवसर में पालन धर्म काम है ।

महा बिपति में रहै घेर्य सोई ललाम है ॥^५

बेचि देह हूँ जिहि सत्यहिं राख्यौ, मन ल्याओ ।

इक टूक कपड़े पर, तेहिं जनि आज छुड़ाओ ॥

फाड़ि कफन तैं अर्ध बसन कर बेगि चुकाओ ।

देखौ चाहत भयो भोर जनि देर लगाओ ॥”^६

१. हरिश्चन्द्र, पृष्ठ १०५, छन्द-संख्या ७३

२. वही, पृष्ठ १०६, छन्द-संख्या ७५

३. वही, पृष्ठ १०६, छन्द-संख्या ७६

४. वही, पृष्ठ १०८, छन्द-संख्या ७७

५. वही, पृष्ठ १०८, छन्द-संख्या ८४

६. वही, पृष्ठ १०८, छन्द-संख्या ८५

धर्मवीर के समान दयावीर के चित्रण में भी कवि को पूर्ण सफलता मिली है। दया का पात्र ही इसमें आलम्बन होता है। दैन्य अथवा दया के पात्र का दुःख-वर्णन उद्दीपन, दुःख दूर करने का प्रयत्न अथवा आश्वासन के वाक्य अनुभाव और चपलता, हर्ष, धृति इत्यादि इसके सञ्चारी भाव हैं। प्रपन्न गजराज की रक्षा में संलग्न दयासागर भगवान् कृष्ण का यह वर्णन द्रष्टव्य है :—

“परत पुकार कान कानि करना की आनि ,
सहित उदेग बेग-बिकल बिकाने से ।
कहै रतनाकर रमा हूँ कौं बिहाइ धाइ ,
औचक हीं आइ भरे भाइ सकुवाने से ॥
आतुर उबारि पुचकारि धरनी पै धारि ,
अमित अपार त्रम भभरि भुलाने से ।
फेरत भुसुंड पै कँपत कर पुंडरीक ,
बिकल-वितुंड-सुंड हेरत हिराने से ॥”^१

गजराज की विपत्ति साधारण नहीं है। उसके साथी अपने प्राण लेकर नौ-दो-ग्यारह हो गये हैं। जान के लाले पड़ने पर वह उस निर्बल के बल को पुकारता है, जिसे पुकारने पर कभी किसी को निराश नहीं होना पड़ा। विभिन्न सञ्चारियों से पुष्ट उत्साह का यह वर्णन अतीव हृदयहारी है :—

“संगवारे महत मतंगनि के संग सब ,
निज निज प्राण लै पराने पुसकर सौं ।
कहै रतनाकर बिचारौ बल हारौ तब ,
टेरि हरि पार्यौ कल कंज गहि सर सौं ॥
पहुँच न पायो पुनि बारि लौं न जौ लौं वह ।
तौ लौं लियौ लपकि उबारि हरबर सौं ।
एक सौं ललायौ चक्र एक सौं चलायौ गह्यौ ,
एक सौं भुसुंड पुंडरीक एक कर सौं ॥”^२

दानवीर के सुन्दर उदाहरण ‘हरिश्चन्द्र’ काव्य में उपलब्ध हैं। वीररस के इस भेद में याचक, तीर्थ, तथा दान योग्य उत्तम पदार्थ आलम्बन, दान पात्र द्वारा की गयी प्रशंसा अथवा अन्य दानियों की दान-कथा उद्दीपन, याचक का आदर, स्वीयदान-

१. रत्नाष्टक, पृष्ठ ४३४, छन्द-संख्या ४

२. वही, पृष्ठ ४३४।४३५, छन्द-संख्या ५

क्षमता की प्रशंसा आदि अनुभाव, तथा हर्ष, गर्व, इत्यादि इसके सञ्चारी भाव होते हैं। इस सम्पूर्ण सामग्री के साथ रत्नाकरजी ने दानवीर के अत्यन्त समृद्ध चित्र उपस्थित किये हैं। विवंचिषु विश्वामित्र सत्यवादी हरिश्चन्द्र से कहते हैं :—

“कौसिक बिस्वामित्र सोइ हम तव गृह आए ।

सकल मही के दान लेन कौ चाव चड़ाए ॥

जान्यौ हमें तथा आवन कौ कारन जान्यौ ।

कहौ बेगि अब जो बिचार उर-अंतर आन्यौ ॥”^१

इन वचनों को सुनते ही महाराज हरिश्चन्द्र बिना किसी सङ्कोच के तुरन्त कह देते हैं :—

कह्यौ भूप ‘कत जानि बूझ बूझत मुनि जानी ।

या मैं सोच-विचार कहा जौ तुम यह ठानी ॥

तुम सौ पाइ सुपात्र दान दैबे में चूकै ।

तौ यह चूक सदैव आनि उर-अंतर हूकै ॥

लीजें मानि प्रमोद सकल महि सादर दीन्हों” ।

“स्वस्ति” भाषि मुनि मन मैं बिबिध प्रसंसा कीन्हों ॥”^२

रौद्ररस

रत्नाकरजी को रौद्ररस-निरूपण में भी पूर्ण सफलता मिली है। रौद्र और युद्ध-वीर के आलम्बन विभाव बहुत कुछ एक से ही होते हैं, इसीलिए युद्धवीर, रौद्ररस के पर्याप्त निकट आ जाता है। इस साम्य के होते हुए भी रौद्ररस और युद्धवीर में यथेष्ट अन्तर है। वीररस का स्थायी भाव उत्साह है तो रौद्र का क्रोध। उत्साह के आवेश में प्रतिपक्षी पर विजय प्राप्त करके उसे नीचा दिखाने की भावना जाग्रत होती है, किन्तु क्रोध में विपक्षी को मार डालने की इच्छा बलवती हो जाती है, अतः कठोर वाक्य, शस्त्र-प्रहार, मुख और नेत्रों का लाल हो जाना जैसे अनुभाव ‘रौद्र’ में विशेष रूप से परिलक्षित होते हैं। शत्रु एवं उसके पक्ष वाले इसके आलम्बन विभाव हैं। शत्रु द्वारा किये गये अपकार अथवा उसके द्वारा प्रयुक्त कटु वाक्य उद्दीपन विभाव, शस्त्र-संचालन, भ्रू-भङ्ग, होठों और दाँतों का चबाना, क्रोध-कषायित नेत्र, कठोर वाक्य,

१. हरिश्चन्द्र, पृष्ठ ७३, छन्द-संख्या १२

२. वही, पृष्ठ ७३, छन्द-संख्या १३, १४

गर्जन, रोमाञ्च, कम्प, अपने कार्यों की प्रशंसा इत्यादि अनुभाव, एवं उग्रता, अमर्ष, स्मृति, प्रभृति इसके सञ्चारी भाव हैं।

रत्नाकरजी के 'वीर' तथा 'रौद्र' रसात्मक वर्णनों का हिन्दी-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। इन दोनों रसों के अनुभाव-चित्रण में उन्हें अपूर्व सफलता मिली है। रत्नाकरजी का निधन हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ है, अतः 'उद्धवशतक' और 'गंगा-वतरण' के अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाओं की ओर हिन्दी-संसार का ध्यान उतना आकृष्ट नहीं हुआ है जितना होना चाहिए। यह भी एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि कोई सफल कवि जितना पुराना होता जाता है, उसकी रचनाओं का महत्त्व भी उसी अनुपात से बढ़ता जाता है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में वीर और रौद्र रस के सफल चित्र अधिक नहीं हैं। इन रसों की कविताओं का भविष्य में जब तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन होगा, तभी रत्नाकरजी के इन वर्णनों का वास्तविक महत्त्व प्रतिपादित हो सकेगा।

'वीर' और 'रौद्र' जैसे उग्र रसों के निरूपण में कविगण प्रायः कर्ण-कटु शब्दों का अत्यधिक प्रयोग करते हैं, परन्तु रत्नाकरजी कोमल शब्दों के पुट के साथ भी अपने उद्देश्य में सफल हो जाते हैं। कोमल भावों की अभिव्यञ्जना में एक सूक्ष्म पारुष्य और कठोर भावों की अभिव्यक्ति में एक प्रकार की सूक्ष्म कोमलता उनकी कला का विशेषत्व है। कौरव-सभा में कृष्ण के रौद्ररूप-वर्णन में भी रत्नाकरजी ने कर्णकटु शब्दों की भरमार के बिना ही इष्ट-साधन कर लिया है:—

त्रिकुटी तनेनी जुटी भूकुटी बिराजे बक्र ,
तोले संख चक्र कर डोले थरकत है ।
कहे रत्नाकर रंगी रोष की तरंग भरे ,
रोधित-उमंग अंग-अंग फरकत है ॥
कर्न दुरजोधन दुसासन को मान कहा ,
प्राण इनके ती पांसुरी में खरकत है ।
भोषम औ द्रोणहूँ सौ बनत न डारे डीठि ,
नीठिहूँ निहारे नैन-तारे तरकत है ॥^१

शारीरिक चेष्टाओं के सूक्ष्म निरीक्षण में रत्नाकरजी अत्यन्त पटु हैं। उनके वर्णनों में अन्तस्तल में समुद्भूत भावों का साक्षात्कार करा देने की अपूर्व क्षमता है। रत्नाकरजी स्वल्प सङ्केतों द्वारा ही अपने चित्रों को रङ्गोज्ज्वलता प्रदान कर देते हैं। सफल चित्रण की ऐसी क्षमता कवियों में प्रायः विरल ही होती है। नीलदेवी के इस चित्र

में भी कठोर वर्णों का आधिक्य नहीं है :

‘मृतक पती की कटि-तट की कटारी खोलि ,
तोलि कर ताहि बोलि तोहि अपनाऊँ मैं ।
कहै रतनाकर प्रतिज्ञा नीलदेवी करी ,
आर्य-महिला की महा महिमा दिखाऊँ मैं ॥
पति के बियोग हूँ सौं तेरौ तृषा-सोग भारी ,
तातें सती पाछें हूँ सुपति-पद पाऊँ मैं ।
अब दुस्सरोफ-हिय खोनित कौ आज तोहि ,
पान पहिलें हीं निज पानि सौं कराऊँ मैं ॥’^१

भयानकरस—

भयानकरस की व्यञ्जना में सफलता प्राप्त करने के लिए कवि को ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करना पड़ता है जो पाठक के हृदय में भय का उद्रेक करने में समर्थ हो सकती हैं। इस रस का स्थायी भाव भय है। विपत्ति की आशङ्का से भय का उद्रेक होता है। विपद् यदि प्रत्यक्ष रूप से घटित हो जाती है तो भय का स्थान शोक ग्रहण कर लेता है। प्रमाता का हृदय जिस पात्र के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, उस पर आपत्ति आने की सम्भावना से भी रसग्राही पाठक को भय की अनुभूति होती है, किन्तु यदि खल नायक विपद्-ग्रस्त होता है तो सामाजिक के हृदय में भय का सञ्चार न होकर एक प्रकार की प्रसन्नता ही उद्भूत होती है। भयोत्पादक वस्तु के देखने पर अथवा किसी शक्तिशाली व्यक्ति को अपकार में प्रवृत्त देखकर भी भय का उद्रेक हो जाता है; इसीलिए भयानक रस के आलम्बन प्रायः हिंसक जीव, शत्रु, वन, विविक्त देश इत्यादि होते हैं। आलम्बन की भयङ्कर चेष्टाएँ और अपनी निस्सहाय्यवस्था इसके उद्दीपन विभाव; कम्प, वैवर्ण्य, रोमाञ्च इत्यादि अनुभाव, एवं त्रास, ग्लानि, मोह, शङ्का, चिन्ता प्रभृति सञ्चारी भाव हैं।

भयानकरस के अनेक सुन्दर स्थल ‘गंगावतरण’ में विद्यमान हैं। ब्रह्मा के कमण्डलु से अभी गङ्गा निकली भी नहीं है, परन्तु गङ्गा की धमक से ही अखिल सृष्टि भयभीत हो जाती है :—

“इत सुरसरि की धाक धमकि त्रिभुवन भय-पागे ।

सकल सुरासुर बिकल बिलोकन आतुर लगे ॥

दहलि दसों दिग-पाल बिकल-चित इस उत धावत ।
दिगज दिग दंतनि दबोचि दृग भमरि भ्रमावत ॥

नभ-मंडल थहरान भानु-रथ थकित भयौ छन ।
चंद चकित रहि गयौ सहित सिगरे तारागन ॥
पौन रह्यौ तजि गौन गह्यौ सब भौन सनासन ।
सोचत सब सकाई कहा करिहै कमलासन ॥

बिंध्य - हिमाचल - मलय - मेरु - मंदर - हिय हहरे ।
ठहरे जदपि पषान ठमकि तउ ठामहि ठहरे ॥
थहरे गहरे सिंधु पबं बिनहूँ लुरि लहरे ।
पै उठि लहर-समूह नंकु इत उत नहिं ठहरे ॥”^१

भयानक रस के सम्पूर्ण उपकरणों का यहाँ अतिशय कलात्मकता से निर्वाह हुआ है, किन्तु स्थायीभाव भय तथा कतिपय सञ्चारी भावों का स्वशब्द द्वारा स्पष्ट कथन कुछ खटकता है ।^२ गङ्गा की धमक से जो स्फूर्जन हुआ, उससे विस्मापक सम्भ्रम और विस्फीत विकलवता भी परिव्याप्त हो गयी थी; सम्भवतः इसी कारण रत्नाकरजी ने यहाँ ‘भय’ शब्द का स्पष्ट प्रयोग कर दिया है ।

जिस गङ्गा की धमक से ही अशेष सृष्टि में विपर्यय हो गया था, उसके आकाशमार्ग से उतरते समय तीनों लोकों का अवसन्न-विपन्न हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । प्रबल वेग से प्रवाहित गङ्गा की इस अखण्ड अपार धारा से ब्रह्मा

१. गंगावतरण, पृष्ठ २५०, छन्द-संख्या ५-७

२. अ—“व्यभिचारिरसस्थायि भावानां शब्दवाच्यता ।

कष्टकल्पनया व्यक्तिरनु भावविभावयोः ॥

मम्मट-काव्यप्रकाश-सप्तम उल्कास ।

आ—“रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि ।

(...दोषा रसगता मताः)”

विश्वनाथ-साहित्य दर्पण-सप्तम परिच्छेद-कारिका, १२-१३.

इ—“एवं स्थायि-व्याभिचारिणामपि शब्दवाच्यत्वं दोषः ।

रसगङ्गाधर-रसदोषाः

विष्णु और महेश के वाहन भड़क जाते हैं । प्रचण्ड ध्वनि-प्रतिध्वनि के कारण दिग्गज तक विचलित है । रत्नाकरजी ने यहाँ अर्थ-ध्वननकारी शब्द-योजना से प्रलयकाल जैसा दृश्य उपस्थित कर दिया है :—

“निकसि कमंडल तें उमंडि नभ-मंडल-खंडति ।
धाई धार अपार बेग सौं बायु बिहंडति ॥
भयौ घोर अति सब्द धमक सौं त्रिभुवन तर्जें ।
महा मेघ मिलि मनहु एक संगहिं सब गर्जें ॥

भरके भानु-तुरंग चमकि चलि मग सौं सरके ।
हरके बाहन रुकत नैकु नहिं बिधि हरि हर के ॥
दिग्गज करि चिक्कार नैन फेरत भय-थरके ।
धुनि प्रतिधुनि सौं धमकि धराधर के उर धरके ॥”^१

भय के साथ यहाँ औत्सुक्य की भी सुन्दर एवं मैत्रीपूर्ण योजना हुई है । भय-झ्रर बाढ़ के आने पर चारों ओर विनाश का विषम दृश्य उपस्थित हो जाता है, परन्तु जो लोग बाढ़ से विपर्यस्त नहीं होते वे दूर से उस विराट ध्वंस को भय-मिश्रित आश्चर्य से देखा करते हैं । इसी प्रकार देवगण भी आकाश मार्ग से अवतरण करने वाली गङ्गा को कुतूहल तथा भय के साथ देख रहे हैं :—

कढ़ि-कढ़ि गृह सौ बिबुध बिबिध जाननि पर चढ़ि-चढ़ि ।
पढ़ि-पढ़ि मंगल-पाठ लखत कौतुक कछु बढ़ि-बढ़ि ॥
सुर-सुन्दरी ससंक बंक दीरघ दृग कीने ।
लगीं मनावन सुकृत हाथ काननि पर दीने ॥”^२

रत्नाकरजी ने ‘कछु बढ़ि-बढ़ि’ कहकर देवताओं के कुतूहल को तो व्यक्त किया ही है, साथ ही अपनी अनुपम शब्द-कला से उनके भय की भी सजीव व्यञ्जना कर दी है । संक्षुब्ध और संत्रस्त होकर देव-समूह ‘मंगल पाठ’ पढ़ने लगता है । भय-वश अमर-गण कुछ ही आगे बढ़ पाते हैं, अधिक आगे बढ़ने का उनमें साहस ही नहीं है । अन्तिम द्वाँ पंक्तियों में स्त्रीजाति की सहज भीरुता का भी सर्वथा स्वाभाविक निरूपण है । देवलोक की समादृत सामानाधिकरण प्राप्त नारियाँ भी अपनी नैसर्गिक पराधीनता से मुक्त नहीं हैं । पुरुष के सत्य से नारी के सत्य का अन्तर यहाँ आस्वादनीय होकर

१. गंगावतरण, पृष्ठ २५२, छन्द-संख्या १६-१७

२. वही, पृष्ठ २५२, छन्द-संख्या १८

उपन्यस्त है। भयभीत अमर्त्य तो कुछ आगे बढ़कर इस दृश्य को देख भी लेते हैं, परन्तु उनकी स्त्रियाँ भय-विस्फारित नेत्रों से उस अपार जल-राशि के भीषण प्रवाह को व्याकुल आशङ्का से देखती हुई, डर के मारे कानों पर हाथ रखकर अपने पुण्यों का स्मरण करने लगती हैं। प्रतिभाशील रत्नाकरजी की अनुपम कला से यह शब्द-चित्र सजीव हो उठा है। भाव-सागर के रत्नों का 'रत्नाकर' से ही छिपे रहना कदापि सम्भव नहीं है।

करुण रस

शोक की अभिव्यञ्जना भी कवि ने बड़ी हृदयद्रावक पद्धति से की है। सामान्यतः दूसरों के दुःख के प्रति सच्ची सम्वेदना, अथवा दूसरों के दुःख की मार्मिक अनुभूति कठिन ही है, किन्तु साधारणीकरण की प्रक्रिया से सफल कवि अपने पात्रों के साथ पाठकों का रागात्मक सम्बन्ध ऐसी घनिष्ठता से स्थापित कर देता है कि पाठकों को भी उन पात्रों के दुःख की मार्मिकानुभूति होने लगती है। रत्नाकरजी के अधिकांश पौराणिक पात्र ऐसे हैं, जिनके साथ पहले से ही पाठकों की पूर्ण सहानुभूति विद्यमान है। रत्नाकरजी को 'गंगावतरण' तथा 'हरिश्चन्द्र' काव्य में इतनी सफलता मिलने का यह भी एक कारण है।

प्रिय-विनाश अथवा कोई अन्य अनिष्ट घटित होने पर करुणरस आविर्भूत होता है। इस रस का स्थायी भाव शोक है। विनष्ट बन्धु, पराभव इत्यादि इसके आलम्बन हैं। प्रियजनों के गुणों या कार्यों का स्मरण, उनका मृत-शरीर अथवा दाह-कर्म, उनके वस्त्राभूषण आदि उद्दीपन विभाव हैं, रोना, पृथ्वी पर लोटना, विवर्णता, प्रलाप इत्यादि अनुभाव और मोह, व्याधि, ग्लानि, भ्रम, दैन्य, चिन्ता, जड़ता प्रभृति इसके सञ्चारी भाव हैं।

करुणरस के चित्रण में रत्नाकरजी ने बड़ी सावधानी से उन परिस्थितियों का निर्माण किया है जो शोक-उद्दीप्त करने में सहायक हो सकती हैं। 'हरिश्चन्द्र' काव्य में पाठकों की पूर्ण सहानुभूति अदृष्ट-कण्टक-विद्ध, सत्यवादी, धर्मनिष्ठ, महाराज हरिश्चन्द्र के साथ रहती है। शनैः-शनैः उन पर आपत्तियों के पहाड़ टूटने लगते हैं। जैसे-जैसे आपदाएँ बढ़ती जाती हैं, वैसे-वैसे पाठकों के हृदय में भी अवश अवसाद की जड़िमा उद्दीप्त होती जाती है। सत्य की रक्षा के लिए जब वे हतैश्वर्य होकर पत्नी तथा पुत्र के साथ काशी में बिकने के लिए आ खड़े होते हैं, तब तो पाठकों का हृदय बड़ा ही आयस्त हो जाता है। जिस महारानी शैव्या की कभी तूती बोलती थी, जिसके द्वार से कभी कोई खाली हाथों नहीं लौटता था, नियति चक्र के प्रत्यावर्तन से दुर्दशापन्न

वही राज-महिषी आज बीच बाजार में यों बिकने खड़ी थी ! हतभाग्या शैव्या की यह करुण उक्ति हृदय हिला देती है :—

“महाराज ! हम होत बिकन नहिं उचित तिहारौ !
तातें प्रथम बेचि हमको ऋण-भार निबारौ ॥
जौ एतहु पर चुकें नाहिं सब ऋन ऋषिबर को ।
तौ चाहै सो करहु ध्यान धरि उर हरि-हर को ॥

यों कहि लगी पुकारि कहन भरि बारि बिलोचन ।
‘कोउ लें मोल हमें करि कृपा करै दुख-मोचन’ ॥^१

दृश्य बड़ा ही हृदय-द्रावक है । अबोध बालक रोहिताश्व की उपस्थिति से परिस्थिति और भी शोक-पूरित हो गयी है । उसके भोले वचनों में मातृ-स्नेह की दारुणता और ममता की प्रचण्डता दोनों ही को उभार देने की अमोघ क्षमता है, अतः निम्नोक्त पंक्तियों को पढ़ते ही पाठकों का गला भर आता है । प्रसङ्ग यह है :—

“निज जननी दृग बारि हेरि बालक बिलखायौ ।
ह्वै उदास अंचल गहि आनन लखि मुरझायौ ॥

बहुति तोतरे बचन बोलि आरत-उपजंया ।
ब्रूम्यो “एँ ये कहा भयो रोवति क्यों मैया” ॥
मुनि बालक की बात अधिक करना अधिकार्ई ।
दंपति सके न थाँभि आँसु-धारा बहि आई ॥

जदपि बिपति-दुख-अनुभव-रहित रुचिर लरिकाई ।
मात पिता की गोद छाँड़ि नहिं मोद-निकाई ॥
रोवत तऊ देखि तिनकोँ लाग्यौ सिसु रोवन ।
इनके कबहुँ कबहुँ उनके आनन-रुख जोवन ॥^२

‘हरिश्चन्द्र’ काव्य का वह स्थल भी अतीव करुण है जहाँ वीतघृण कौडिन्य

१. हरिश्चन्द्र, पृष्ठ ८१, छन्द-संख्या १०-११

२. वही पृष्ठ ८१, छन्द-संख्या ११, १२, १३

शैव्या को लेकर जाता है और विलम्ब होता देखकर रोहिताश्व को झटक कर गिरा देता है । कदाचित् मनुष्य में सर्वाधिक विरलता मनुष्यता की ही होती है ।

चलत देखि दुखकृत-बिकृत मुख बालक खोल्यौ ।
 “कहाँ जाति, जनि जाइ माइ” अंचल गहि बोल्यौ ॥
 पुनि बिलंब जिय जानि क्रूर कौडिन्य रिसायौ ।
 कह्यौ “बेगि चलि” झटक बालकहिं भूमि गिरायौ ॥^१

माता-पिता के सामने ही अबोध बालक को इस प्रकार झटक कर गिरा देना नैर्घृण्य की चरम सीमा है । कौडिन्य का यह मोघ कर्म परिस्थिति को और भी दारुण बना देता है । चक्रवर्ती महाराज हरिश्चन्द्र का पुत्र आज उन्हीं के सामने यों ठुकराया जा जा रहा है, परन्तु जो बाजार में बिकने के लिए ही आ खड़ा हुआ हो उसका कैसा मान और कैसा अपमान !

‘हरिश्चन्द्र’ काव्य का सर्वाधिक हृदय-द्रावक प्रसङ्ग वह है जहाँ शैव्या अपने पुत्र के शव को गोद में लेकर आर्तक्रन्दन कर उठती है । आधोलिखित पंक्तियों को पढ़ कर सह्य पाठक की पलकें गीली हो उठती हैं । शुद्ध भावना की पेशलता और द्रवण-शीलता से ओतप्रोत करुण हृदय की यह आभ्यन्तरीण सुषमा अपने अकृत्रिम माधुर्य से अतिशय समृद्ध है :—

कहति पुकारि पुकाहि “बत्स मैया मुख हेरौ ।
 वीरपुत्र ह्वै ऐसे कुसमय आँखि न फेरौ ॥

हाय हमारौ लाल लियो इमि लूटि बिधाता ।
 अब काको मुख जोहि मोहि जीवं यह माता ॥
 पति त्यागें हूँ रहै प्रान तब छोह सहारे ।
 सो तुमहूँ अब हाय बिपति में छांड़ि सिधारे ॥

अबहिं सांझ लौं तो तुम रहे भली बिधि खेलत ।
 औचकहीं मुरझाइ परे मम भुज मुख मेलत ॥

हाय न बोले बहुरि इतोही उत्तर दीन्हौ ।
‘फूल लेत गुरु-हेत साँप हमकों डसि लीन्हौ ॥

गयौ कहाँ सो साँप आनि क्यों मोहूँ डसत ना ।
अरे प्राण किहि आस रह्यौ अब बेगि नसत ना ॥
कबहुँ भाग-बस प्राणनाथ जौ दरसन देंहें ।
तौ तिनकों हम बदन कहौ किहि भाँति दिखेंहें ॥

उन तौ सौँप्यौ हमें दसा हम यह करि दीन्ही ।
हाय हाय क्यों सुमन चुनन की आयसु दीन्ही ॥
अहो नाथ अब तौ आवौ इत नैकु कृपा करि ।
लेहु निरखि निज हृदय-खंड कौ बदन नैन भरि ॥

प्राणदंड दै हमें कष्ट सब बेगि नबारौ ।
सुनत क्यों न इहि बेर फेर निज न्याव संहारौ ॥
हाय बत्स किन सुनि पुकारि मैया की जागत ।
अरे मरे हूँ पै तुम तौ अति सुंदर लागत ॥

करि बिलाप इहि भाँति उठाइ मृतक उर लायौ ।
ब्रूमि कपोल बिलोकि बदन निज गोद लिटायौ ॥
हिय-बेधक यह दृश्य देखि नृप अति दुख पायौ ।
सके न सहि बिलगाइ नैकु हटि सीस नवायौ ॥”^१

‘गंगावतरण’ में भी करुण रस के कुछ मर्मस्पर्शी प्रसङ्ग विद्यमान हैं। अंशुमान साठ सहस्र सगर पुत्रों की अकाल मृत्यु का दारुण समाचार लेकर लौटता है। इस अनभ्र वज्रपात से तो अश्वमेध का रङ्ग ही बदरङ्ग हो जाता है। जहाँ अपने धूम की कालिमा से दिग्मण्डल को धवलिमा प्रदान करने वाला यज्ञ हो रहा था वहीं अब रोना-पीटना मच गया है :—

“उमड़्यौ सोक-समुद्र भई बिप्लुत मल-साला ।
बड़वागिनि सी लगन लगी जज्ञागिनि-ज्वाला ॥

गयी तुरत फिर सब उछाह आनंद पर पानी ।
बढ़ी पीर की लहर धीर-मरजाद नसानी ॥

लगे सकल सिर धुनन कांड कशना को माच्यो ।
मनु बनाइ बहु बपुष बरुन तिहि मंडप नाच्यो ॥
लागीं खान पछाड़ धाड़ मारन सब रानी ।
मानहु माजा मज्जि तलफि सफरी अकुलानी ॥

भयी भूप जड़-रूप अंग के रंग सिराए ।
बज्राघात सहस्र साठ संगहि सिर आए ॥
कड़्यो कंठ नहि बैन न नैननि आँसु प्रकास्यो ।
आनन भाव-विहीन गाँव ऊजाड़ लौं भास्यो ॥

मुनिहुँ सकल ह्वै बिकल लगे लोचन-जल मोचन ।
नृप की दारुन दसा देखि औरै कछु सोचन ॥
कोउ परखत मुख मलिन हाथ छाती कोउ लावत ।
अभिमंत्रित-जल-छोट छिरकि कोउ सीस जगावत ॥”^१

उपर्युक्त अवतरणों में स्थायी तथा सञ्चारियों का स्वशब्द द्वारा कथन संवर्धनीय नहीं है, परन्तु यदि इस दोष को छोड़ दिया जाय तो निःसन्देह यह वर्णन अतीव हृदयस्पर्शी है । शोक के आवेग का चरम बिन्दु वह होता है जहाँ शोकाकुल व्यक्ति रोना भी भूलकर सर्वथा निश्चेष्ट हो जाता है । शोक संतप्त राजा सगर की यहाँ यही दशा हुई है । ‘बज्राघात सहस्र साठ संगहि सिर आये’ जैसी मार्मिक उक्ति तो इस कर्ण चित्र के भाव-वैभव को और भी विस्फीत कर देती है ।

श्री द्रौपदी अष्टक में भी दो-एक हृदय-द्रावक छन्द मिलते हैं । उदाहरणार्थ यह कवित्त उपस्थित है :—

पांडु की पतोह भरी स्वजन सभा में जब ,
आई एक चीर सौं तौ धीर सब खै चुकी ।
कहै रतनाकर जो रोइबो हुतौ सो तब ,
धाड़ मारि बिलखि गुहारि सब खै चुकी ॥

मटकत सोऊ पट बिकट दुसासन है ,
अब तौ तिहारी हँ कृपा की बाट ज्वै चुकी ।
पाँच पाँच नाथ होत नाथनि के नाथ होत ,
हाय हौँ अनाथ होति नाथ बस ह्वै चुकी ॥^१

हास्यरस

हास्यरस का स्थायी भाव हास है । विकृत चेष्टा, वाणी, आकृति, अथवा वेश इत्यादि से हास्य रस का उद्रेक होता है । दूसरों की विकृत आकृति, वेशभूषा, निर्लज्जता, अथवा रहस्यपूर्ण वाक्य इस रस के आलम्बन विभाव माने जाते हैं । हास्यास्पद चेष्टाओं से इसका उदीपन होता है । नाक, कपोल आदि का स्फुरण, व्यंग्यार्थ वाक्य, मुख का प्रफुल्लित होना इत्यादि इसके अनुभाव और आलस्य, निद्रा, एवं हर्ष का छिपाना प्रभृति सञ्चारी भाव हैं । विभावादि के दर्शन से द्रष्टा में स्वयं प्रकट होने वाला हास्य आत्मस्थ तथा जो दूसरों को हँसता हुआ देखकर उत्पन्न होता है, वह परस्थ कहलाता है । हास और जुगुप्सा में आश्रय की सम्यक् प्रतीति न होने से या तो किसी दर्शक विशेष का आक्षेप करना पड़ता है या श्रोता को ही आश्रय मान लिया जाता है ।^२

रत्नाकरजी ने 'गङ्गावतरण' में हास्य-विदग्धता (wit) द्वारा विनोदात्मक चमत्कार की भी साधिष्ठ अवतारणा की है । ब्रह्मा से वरदान मांगते हुए राजा भगीरथ कहते हैं :—

“अति उदार करतार जदपि तुम सरबस-बानी ।

हम लघु जाचक चाहत एक चिल्ल-भर पानी ॥”^३

१. रत्नाष्टक, पृष्ठ ४४६, छन्द-संख्या ३

२. (क) सत्यम्, तदाश्रयस्य द्रष्टृपुरुषविशेषस्य तत्राक्षेप्यत्वात् ।

तदनाक्षेपे तु, श्रोतुःस्वीयकान्तावर्णनपदधादिव रसोद्बोधेबाधकाभावात् ॥

रसगङ्गाधरः, रस भेदाः, प्रथमाननम् ।

(ख) यस्य हासः स चेत्क्वापि साक्षान्नैव निबध्यते ।

तथाप्येष विभावादिसमर्थ्यादुपलभ्यते ॥

अभेदेन विभावादिसाधारण्यात्प्रतीयते ।

सायाजिकैस्ततो हास्यरसोऽयमनुभूयते ॥

साहित्यदर्पणे तृतीयः परिच्छेदः ।

३. गङ्गावतरण, पृष्ठ २४३, छन्द-संख्या १८

यहाँ ब्रह्मा से चुल्लू भर पानी के अध्येषण में जो आकर्षक असंगति है सो तो है ही, इसके अतिरिक्त इस 'लघु याचना' तथा उसकी स्वल्प एषणा पर भी जरा ध्यान दीजिए। यह 'चुल्लू-भर पानी' वही तो है जिसने ब्रह्मा के कमण्डलु से निकलते ही जल-प्लावन जैसा एक दृश्य उपस्थित कर दिया था। इस 'चुल्लू-भर पानी' ने ही अचिरात् साठ सहस्र सगर-पुत्रों को मुक्ति प्रदान की थी। इसी से इस 'लघु याचना' को सुन कर ब्रह्मा के मुख पर मुसकराहट झलकने लगती है :—

“यह मुनि मृदु मुसकराइ चतुर चतुरानन भाष्यो ।

धन्य धन्य महि-पाल मही-हित पर चित राख्यो ॥”^१

भगवान् शङ्कर को प्रसन्न करके जब भगीरथ ब्रह्मा से पुनः याचना करते हैं, तब भी ब्रह्मा को भगीरथ की 'चुल्लू-भर पानी' वाली बात याद आ जाती है :—

‘बद्ध-अंजली देखि भूप बिनवत मृदु बानी ।

मुसकाने बिधि आनि चित्त “चिल्लू-भर पानी ॥”^२

स्थायी भाव का स्वशब्द द्वारा स्पष्ट कथन यहाँ भी हो गया है, तथापि भगीरथ के रहस्यपूर्ण संराधन से स्मित हास्य की व्यञ्जना सफलतापूर्वक हो जाती है। हास्य के छः भेदों में से यह वह हास है जो शिष्ट तथा बड़े लोगों में ही दिखायी देता है।^३ साथ ही उनका हास उद्देश्य-गर्भित भी है। 'चुल्लू-भर पानी' में हास्य-रस का छींटा ही नहीं है, वरन् उसके पीछे एक महान उद्देश्य भी छिपा हुआ है।

रत्नाकरजी के हास्य रसात्मक वर्णनों में विनोद की मात्रा पर्याप्त है। कहीं-कहीं तो भक्ति-भावना के निरूपण में भी वे अपने विनोद से पाठकों के हृदय में मीठी गुदगुदी उत्पन्न कर देते हैं। 'श्री विष्णुलहरी' का यह कवित्त इस कथन का साधिष्ठ प्रमाण है :—

“कामना-बिहीन-कबों नाम ना तिहारौ लेत ,

बाम-धन-धाम ही की चत चित ठाई है ।

कहै रतनाकर बिलासनि की आस हिये ,

रहति हुलासनि की हौंस हुमसाई है ॥

१. गंगावतरण, पृष्ठ २४४, छन्द-संख्या २०, सर्ग ६

२. गंगावतरण, पृष्ठ २४९, छन्द-संख्या २ सर्ग ७,

३. ज्येष्ठानां स्मितहसिते मध्यानां विहसितावहसिते च ।

नीचानामपहसितं तथातिहसितं तदेष षड्भेदः ॥

साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका २१७

कामी कूर कुटिल कुमारग के गामी इमि ,
 अजहूँ न नैकु बिषै-बासना सिराई है ।
 चाहें वह धाम जहाँ गनिका सिधाई जऊ ,
 गाँठि में न दाम कछु सुकृति कमाई है ॥”^१

भक्ति-भावना के साथ ही यहाँ रत्नाकरजी का परिहास भी प्रगल्भ है । ‘गणिका के धाम’ जाने के लिए ‘गाँठि में दाम’ होना एक अनिवार्य प्रतिबन्ध है । ‘कामी कूर-कुटिल कुमारग के गामी इमि, अजहूँ न नैकु बिसै-बासना सिराई है’ जैसी उक्तियों से सम्बद्ध होकर तो अन्तिम दोनों पक्तियों में और भी निखार आ गया है । शब्द-शक्ति का यह समाहृत चमत्कार सर्वथा संवर्धनीय है । शब्दों के अन्तस्तव के सम्यक् दर्शन के पश्चात् ही कवि उनके प्रवृत्ति-निमित्त-भेद का ज्ञान प्राप्त करता है । इसी परिनिष्ठा के आधार पर वह व्यभिचार-रहित अभीष्ट अर्थोपस्थिति में समर्थ हो पाता है । मानव-हृदय शब्द के निश्चित अर्थ के साथ अनेक अनुभूतियों अथवा भावनाओं से भी संस्पृष्ट रहता है, फलतः कुशल कवि सामाजिक के हृदय में ईप्सित भावोद्रेक के साथ ही संस्पृष्ट भावानुभूतियों को भी ऐसे कला-नैपुण्य से झङ्कृत कर देता है कि वह सम्पृक्त भावनाओं और सङ्केतों को भी हृदयङ्गम करता हुआ चमत्कृत हो उठता है ।

कन्हैया के संग रहकर शोख बन जाने वाली यमुना को भी देख लीजिए । पाप, पुण्य और मर्यादा को तो इसने जैसे धोकर बहा दिया है । इसकी उदण्डता यहाँ तक बढ़ गयी है कि न बाप की सुनती है न भैया की ।

“जाइ रतनाकर पै जम यौं दुहाई देत ,
 अज अखिलेस सेसनाग पै सुवैया की ।
 देखों जागि जमुना कुभाय के हिलोरे आप ,
 पाप-नाव बोरै मम पुर के जवैया की ॥
 बिधि हूँ के रोष की न राखै परवाह रंच ,
 ऐसी भई सोख पाइ संगति कन्हैया की ।
 राखी मरजाद पाप पुन्य की सु राखी गनै ,
 साखी गनै बाप की न भाषी गनै भैया की ॥”^२

१. गंगाविष्णुलहरी, पृष्ठ ४१६, छन्द-संख्या ४३

२. यमुनाष्टक, पृष्ठ, ४३९ छन्द-संख्या ६

चित्रगुप्त का तो यमुना के मारे और भी नाक में दम है। इसी से घबरा कर वे यमराज को सम्मति देते हैं :—

“चित्रगुप्त कहत पुकारि जमराज सुनौ,
गाफिल ह्वै नैकु निज गौरब गँवैयो ना।
कहै रतनाकर कहत मत नीकौ हम,
पथ भगिनी कौं निज पुर कौं दिखँयो ना॥
ऐसौ कछु ऊधम मचाइ है पधारत ही,
पापनि कौं पाइ है पछेरि फेरि दैयो ना।
जैयौ तुम आपु हीं तिलक-हित ताकै कूल,
भूलि जमुना कौं जमलोक कौं बुलैयो ना॥”^१

वीभत्स रस

रत्नाकरजी ने वीभत्स रस के चित्र ‘हरिश्चन्द्र’ काव्य में उपस्थित किये हैं। वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा अथवा ग्लानि है। यह वह ग्लानि है जो रुधिर, हड्डी, आँत, माँस, जैसी घृणित वस्तुओं को देख कर उत्पन्न होती है। ऐसी ही वस्तुएँ इसका आलम्बन हैं। दुर्गन्धित माँस इत्यादि का दृश्य देखकर इस का उद्दीपन होता है। घृणा से थूकना, मुँह फेर लेना इत्यादि इसके अनुभाव और मोह, व्याधि अपस्मार इत्यादि इसके सञ्चारी भाव हैं। पिशाचिनियों, डाकिनियों और भूत-प्रेतादि की वीभत्स क्रीड़ाएँ भी इसी रस के अन्तर्गत आती हैं।

‘हरिश्चन्द्र’ काव्य के चौथे सर्ग में रत्नाकरजी ने वीभत्स का सजीव वर्णन किया है। उदाहरण-स्वरूप निम्नोक्त पंक्तियाँ उपस्थित हैं :—

“कहूँ स्वान इक अस्थिखंड ले चाटि चिचोरत।
कहूँ कारी महि काक ठोर सौं ठोकि टटोरत॥

कहूँ सृगाल कोउ मृतक-अंग पर ताक लगावत।
कहूँ कोउ सब पर बैठि गिद्ध चट चौंच चलावत॥
जहँ तहँ मज्जा मांस रुधिर लखि परत बगारे।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहूँ कहूँ रतनारे॥

कोऊ कड़ाकड़ हाड़ चाबि नाचत दें ताली ।
कोऊ पीवत रुधिर खोपरी की करि प्याली ॥

कोऊ अतड़िनि की पहिरि माल इतरात दिखावत ।
कोऊ चरबी लें चोप सहित निज अंगनि लावत ।
कोऊ मुंडनि लें मानि मोद कंबुक लौं डारत ।
कोऊ रुंडनि पे बैठि करेजौ फारि निकारत ॥”^१

अद्भुत रस

अद्भुत रस का स्थायी भाव विस्मय है । आश्चर्यजनक दृश्य, वस्तुएँ, अथवा अलौकिक घटनाएँ इसका आलम्बन, उनकी विवेचना उद्दीपन, रोमाञ्च, स्वेद, स्तम्भ आदि अनुभाव और हर्ष, वितर्क, भ्रान्ति, आवेश इत्यादि सञ्चारी भाव हैं ।

‘श्री द्रौपदी अष्टक’ में रत्नाकरजी ने अद्भुत रस के आश्चर्यजनक चित्र उपस्थित किये हैं । द्रौपदी के अन्तहीन चीर का यह दृश्य देवताओं तथा राक्षसों को भी विस्मय-विमूढ़ कर देता है, फिर कौरव सभा की तो बात ही क्या है :—

“बोलि उठे चकित सुरासुर जहाँ हीं तहाँ ,
हा हा यह चीर है कै धीर बसुधा कौ है ।
कहै रतनाकर कै अंबर दिगंबर कौ ,
कंधों परपंच कौ पसार बिधिना कौ है ॥
कंधों सेसनाग की असेस कंचुली है यह ,
कंधों ढंग गंग की अभंग महिमा कौ है ।
कंधों द्रौपदी की करुना कौ बरुनालय है ,
पारावार कंधों यह कान्ह की कृपा कौ है ॥”^२

इसी दृश्य से कौरव-सभा की यह दशा हो जाती है :—

“अंबर लौं अंबर अनंत द्रौपदी कौ देखि ,
सकल सभा की प्रतिभा यौ भई दंग है ।
कोऊ कहै अंध-भूप-मोह-अंध नासन कौ ,
चारु चंद्रिका की चली चावर अभंग है ॥

१. हरिश्चन्द्र, पृष्ठ ९१, ९२, ९३, ९४ छन्द-संख्या ३, ४, १३, १४

२. श्री द्रौपदी अष्टक, पृष्ठ ४४८ छन्द-संख्या ८

कोऊ कहै कुरु-कुल-रूप-पाप-खंडन कौ,
उमड़ति अखिल अखंड - धार-गंग है।
मेरें जान दीन-दुख-दंद हरिबे कौ यह,
करुना - अपार - रतनाकर - तरंग है ॥^१

शान्त रस

शान्त रस की उत्पत्ति सुख-दुख, राग-द्वेष, इच्छा, चिन्ता इत्यादि की निष्कृति तथा वैराग्य अथवा तत्त्वज्ञान से होती है। इस रस का स्थायी भाव शम है जो मोक्ष-दशा से भिन्न वह चित्त-वृत्ति है जो तूष्णा-क्षय से उद्भूत होकर शान्तरस में परिणत हो जाती है।^२ ब्रह्म-चिन्तन अथवा संसार की निस्सारता का ज्ञान आलम्बन है। ऋषि मुनियों के आश्रम, पवित्र तीर्थ, मनोरम एकान्त वन, महात्माओं का संग इत्यादि उद्दीपन, रोमाञ्च, भव-जाल का भय, आध्यात्मिक चिन्तन इत्यादि अनुभाव एवं हर्ष, मति, निर्वेद, स्मृति प्रभृति इसके सञ्चारी भाव हैं।

‘प्रकीर्ण पद्यावली’ में ‘शान्तरस’ शीर्षक से रत्नाकरजी का यह कवित्त संगृहीत है :—

देखिं देख देखन की दीठि दई जाहि दई
इहिं जग जंगम न कोऊ थिर थावै है।
कहै रतनाकर नरेस रंक सूधौ बंक
कोऊ कल नैकु एक पलक न पावै है ॥
ऐसी कछु चपल चलाचल चली है इहाँ
जीवन तुरी पै अति आतुरी मचावै है।
किरन-छटा सौं दिन तरनि ततावै रैन
बेगि चलिबै कौं चंद चाबुक लगावै है ॥^३

अपने मन को प्रबोध देते हुए वे कहते हैं :—

“मोहे नैन जोहि कं सुरूप सुखमा कौ ऐन।
सौन सुनि बंन जो सु-चैन-रस बोझौ है।

१. श्री द्रौपदीअष्टक, पृष्ठ ४४८, ४४९, छन्द-संख्या १०

२. युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।

रसतामेति तदस्मिन्संचायविः स्थितिश्च न विशुद्धा ॥

साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, कारिका २५०

३. प्रकीर्ण पद्यावली, पृष्ठ ५५४। ५५५ छन्द-संख्या १५

कहै रतनाकर रसीली रसना रुचि कौं
 बतरस-लालच छकाइ छरि छोह्यौ है ॥
 सुखद सुबास पै लुभानी बास-बासना है
 अंग-अंग परस उमंग रस पोह्यौ है ।
 सोह्यौ है कहा पै तोहि परत न जानि मोहि
 एरे मन जानि तैं अजान कहा मोह्यौ है ॥^१

काव्य के अन्तर्तत्त्व और बहिर्तत्त्व के समवाय को भली भाँति समझने वाले रत्नाकरजी ने इस प्रकार सभी रसों में सफलतापूर्वक कविता की है, किन्तु प्रधानतः हैं वे शृङ्गार के ही कवि । शृङ्गार के पश्चात् उनके अन्य प्रिय रस वीर, रौद्र और करुण हैं । 'हिडोला', 'शृङ्गारलहरी' इत्यादि उनके यौवनकाल की रचनाएँ हैं, अतः इनमें संयोग शृङ्गार का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है । प्रौढ़ावस्था में उन्होंने वियोग शृङ्गार तथा वीर और रौद्र इत्यादि रसों का चित्रण किया है । वृद्धावस्था में उनका मन वैराग्य की ओर उन्मुख हो गया था, अतः शान्त रस की उत्कृष्ट कविताएँ उन्होंने वृद्धावस्था में ही लिखी हैं । अपनी मृत्यु के लगभग एक वर्ष पूर्व कमल-पत्र-बुद्बुद-सदृश-जीवन पर उन्होंने यह कवित्त लिखा था:—

“फूले फूले फिरत कहौ तौ तुम कापै अहो
 याकी तौ महत्ता सत्ता सब कछु जानी है ।
 कहै रतनाकर बिडंबना बिचित्र जेती
 जीवन के चित्र सौं न अधिक प्रमानी है ॥
 हाँ सौं नहीं होति औ नहीं सौं होति हाँ है सदा
 तातें हाँ चहैयनि नहीं सौं रुचि मानी है
 इहिं भवसागर में स्वास आसही पै बस
 पानी के बबूले सी थिरानी जिदगानी है ।”^२

१. प्रकीर्ण पद्यावली स्फुट काव्य, पृष्ठ ५६१, छन्द-संख्या १९

२. वही, पृष्ठ ५७६, छन्द-संख्या ६०

प्रकृति-चित्रण

भारतवर्ष में प्राकृतिक ऐश्वर्य का प्राचुर्य है, व्योम-विलासिनी हिम-धवला शैलेन्द्र-श्रेणियाँ, गिरीश की गोद में क्रीड़ा करती हुई समुद्र-पत्नियाँ, अपने गर्भ से राशि-राशि धान्य उत्पन्न करने वाली वलज-वलिता-विश्वम्भरा, वसन्त की मादकता में थिरकता हुआ अलि-कुल-सङ्कुल-कुसुम-समूह, इन्द्र-धनुष के मादक रङ्गों से विनिर्मित सप्तवर्ण कञ्चुक से परिवीत नीरद वाहिनी प्रावट्, प्रभात के स्वर्ग्य सौन्दर्य पर मुग्ध कनक-किरीटिनी-ऊषा, अस्ताचल पर शयन करने वाली अनुरञ्जित कौशेय-धारिणी-अनुरागवती-सन्ध्या एवं असंख्य तारिकाओं के साथ द्रवित-रजत के पारावार में विहार करने वाला राका-पति, युग-युग से भारत-भारती को प्रकृति की अनन्य आराधिका बनाये हुए हैं; कभी वह उसके लिए स्वतः आलम्बन बनी, तो कभी अपने अलङ्कार-विधान के लिए उसने प्रकृति का अवलम्बन ग्रहण किया, कभी वह उपदेश का माध्यम बनी तो कभी वाणी ने उसे उद्दीपन-विभाव के रूप में अपनाया; यही नहीं, प्रकृति के प्रसार में कवि को अपने ही हृदय जैसा स्पन्दन भी सुनायी दिया, फलतः कभी मानवीकरण के चित्र-पट पर उसने प्रकृति के एक-से-एक मनोरम चित्र उतारे, तो कभी प्रकृति के ही रङ्ग भर कर वातावरण को विषयानुकूल रङ्गोज्ज्वलता प्रदान की।

प्रकृति के आभरणवरणमुक्त सौन्दर्य को मानव मात्र के नेत्र देखते हैं, परन्तु संघर्षात्मक जीवन-प्रपञ्च के कारण हमारी मनःकल्पना कुछ ऐसी मूर्छित सी रहती है कि उस सौन्दर्य को देख कर भी या तो हम अनदेखा सा कर बैठते हैं अथवा उसके समग्र सौन्दर्य का ऐश्वर्य भरपूर नहीं देख पाते। भावुक कवि प्रकृति के मुक्त सौन्दर्य को नेत्र भर कर देखता है और अपने हृदय की रस-सम्पत्ति उसे भेंट करके उसकी मनोरम छटा के भव्य चित्रों का निर्माण करने लगता है। प्रकृति के रम्य रूप का दिग्दर्शन होने पर हमारी सुषुप्त अन्तश्चेतना पुनः जाग्रत और चैतन्य हो जाती है, परिणामतः प्रकृति का निर्मल, सहज-स्वच्छन्द रूप पाठकों को भी वैसा ही प्रभावोत्पादक दृग्गोचर होने लगता है जैसा अपनी सर्जना के क्षणों में कवि को परिलक्षित हुआ था D

रत्नाकरजी को प्रकृति से अनन्य अनुराग था। उनके स्वतन्त्र प्रकृति-वर्णन प्रकृति को आलम्बन मान कर ही लिखे गये हैं। वे पं० रामचन्द्र शुक्ल के मित्र तथा समकालीन थे, अतः शुक्ल जी की विचार-धारा का प्रभाव उन पर भी पड़ना स्वाभाविक था। शुक्ल जी ने वाल्मीकि, भवभूति, कालिदास इत्यादि के उदाहरण उपस्थित करते हुए अपने युग के कवियों का ध्यान इस तथ्य की ओर बारम्बार आकृष्ट किया था कि

प्रकृति को आलम्बन मान कर उसका वर्णन करना अधिक समीचीन है।

प्रकृति की मनोरम दृश्यावली को देखकर जब हृदय उसके निर्लेप सौन्दर्य पर मुग्ध होता है, तब प्रकृति आलम्बन के रूप में हमारे सामने आती है। ऐसे चित्रण में कवि के शुद्ध प्रकृति-प्रेम के दर्शन होते हैं, किन्तु जब प्रकृति उद्दीपन के रूप में गृहीत होती है तब हृदय के दुःख-सुख की भावनाएँ प्रकृति पर स्वयमेव आरोपित हो जाती हैं। दुःख-सुख की अनुभूति का कारण प्रायः हृदय ही होता है, बाह्य व्यापार नहीं, परन्तु हृदय के रङ्ग में रङ्गस्नात होकर बाह्य उपकरण भी हमारी भावनाओं का उत्क्षेपण करने लगते हैं। संयोगावस्था में विशिष्ट मनःस्थिति के कारण प्रकृति का मधुर रूप हृदय के उल्लास को बढ़ाता है, किन्तु वियोगावस्था में प्रकृति का यही मनोहारी रूप विपरीत चित्त-वृत्ति के कारण विरह-वेदना को तीव्र से तीव्रतर कर देता है। विरहावस्था में प्रकृति द्वारा संयोगावस्था की पूर्वस्मृति उद्दीप्त हो जाती है, परिणामतः विरही को अपने हृदय के समान प्रकृति भी विक्षुब्ध सी प्रतीत होने लगती है। जहाँ प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण होता है, वहाँ इस प्रकार के आरोपों की आवश्यकता नहीं पड़ती।

प्रकृति के निरपेक्ष सौन्दर्य की प्रगल्भ-संश्लिष्ट-व्यञ्जना में कवि तभी सफल होता है जब वह अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वर्णित वस्तु के रूप, रङ्ग, आकृति, अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा उसके चारों ओर के वातावरण का भी सम्यक् दिग्दर्शन करा देता है। रत्नाकरजी की रचनाओं में प्रकृति के ऐसे मनोरम चित्रों की कमी नहीं है। उन्होंने 'हिंडोला', ऋतु सम्बन्धी 'अष्टकों' तथा 'गंगावतरण' में अनेक स्थलों पर प्रकृति को आलम्बन रूप में ग्रहण किया है। पावस ऋतु में वृन्दार वृन्दावन का यह वृन्दारक दृश्य ऐसे ही कला-नैपुण्य से सन्निविष्ट है :

“पवन-प्रसंग उमंगि बेत तरु-पल्लव ताली ,
चटकावति चहुँ ओर चपल चुटकी चुटकाली ।
मनहुँ तिहूँ पुर की सुषमा बृन्दावन आई ,
बनदेबी सुख-साज साजि बरतति पहुनाई ॥”^१

“चहुँ दिसि तैं घन घोरि घेरि नभ-मंडल छाए ,
धूमत, झूमत, झुकत औनि अतिसय नियराए ।

दामिनि दमकि दिखाति, दुरति पुनि बौरति लहरें,
छूटि छबीली छटा-छोर छिन छिन छितिं छहरें ॥”^१

वर्षाऋतु के इस वर्णन में कवि की द्रवणशीलता के स्पष्ट दर्शन होते हैं। ‘घन घोर घेरि’ जैसे सङ्गीतात्मक शब्दों से उसने घुमड़ कर आती हुई घटा को साकार कर दिया है। उमड़ते हुए बादल पृथ्वी के अत्यन्त निकट आ गये हैं। बीच-बीच में बिजली चमक उठती है। ऐसे ही सजीव वर्णन पाठकों के हृदय को स्पर्श करने में समर्थ होते हैं। ‘वर्षाष्टक’ का निम्नोद्धृत कवित्त भी भाव-समुत्थ आनन्द की पेशलता से समृद्ध है।

“छाई सुभ सुखमा सुहाई रितु पावस की,
पूरब में पच्छिम में उत्तर उदीची में।
कहै रतनाकर कवंब पुलके हैं बन,
लरजें लवंगलता ललित बगीची में ॥
अवनि अकास में अपूरब मची है धूम,
भूमि से रहे हैं रुचि सुरस उलीची में।
हिरकि रही है इत मोर सौं मधूरी उत,
थिरकि रही है बिज्जु बादर दरीची में ॥”^२

यहाँ भी कवि का हृदय वर्षाकालीन नैसर्गिक शोभा में भावुकता से रमा है। अलङ्कारों का कहीं दुराग्रह नहीं है। प्रकृति के निरावृत्त सौन्दर्य पर कवि मुग्ध है और अपने इसी अनुराग को उसने सीधे-सादे शब्दों में व्यक्त कर दिया है।

प्रकृति के सहज सौन्दर्य के निरूपण में उन्हें अनेक स्थलों पर ऐसी ही सफलता मिली है। वन की शोभा का निम्नांकित चित्र भी अतीव सजीव है। रत्नाकरजी की कल्पना का ऐश्वर्य उनकी बीती अनुभूति के सक्षम पुनरावर्त्तन पर ही अवलम्बित रहता है :—

“छोटे बड़े बृच्छनि की पांति बहू भौंति कहें
सघन समूह कहें सुखद सुहाए हैं।
कहै रतनाकर बितान बन-बेलनि के
जहाँ तहाँ बिबिध बिधान छभिं छाए हैं।
बैठत उड़त मंडरात कल बोलत ओ
डारनि पै डोलत बिहंग बहू भाए हैं।

१. हिंडोला, पृष्ठ-४, छन्द-संख्या १३

२. वर्षाष्टक, पृष्ठ ४६२, छन्द-संख्या ३

बिचरत बाघ बृक पूरत अतंक कहूँ
कहूँ मृग ससक ससंक फिरें धाए हैं ॥^१

ऐसे प्रकृति-वर्णन में कवि स्वतः आश्रय होता है तथा प्रकृति आलम्बन । चारों ओर छोटे-बड़े वृक्षों का समूह है, जो कहीं-कहीं गहन भी हो गया है । वन्य-लताओं के वितान सुशोभित हैं । नाना प्रकार के पक्षी वृक्षों पर कलरव कर रहे हैं । बाघ इत्यादि हिंसक जंतुओं का निर्द्वन्द्व विचरण वन की गहनता को और भी स्पष्ट कर देता है । इन हिंसक जंतुओं के कारण बेचारे मृग, और शशक भयभीत होकर इधर-उधर भाग खड़े हुए हैं । रत्नाकरजी का यह प्रकृति-चित्रण गतानुगतिक प्रकृति-निरूपण से सर्वथा भिन्न है । स्पष्ट ही यहाँ भवभूति जैसे संस्कृत-कवियों के समान प्रकृति के प्रति प्रगाढ़ प्रेम प्रदर्शित है ।

प्रकृति के चित्र उपस्थित करते समय वस्तुओं के मात्र नामोल्लेख से पाठकों पर समुचित प्रभाव नहीं पड़ता । वस्तुतः सूक्ष्म निरीक्षणयुक्त सरस तथा यथातथ्य चित्रण द्वारा पाठकों के हृदय की संवेनदात्मक अनुभूति को जाग्रत करना ही कवि की कला का साफल्य है और रत्नाकरजी ने यही किया भी है । निम्नस्थ उद्धरण में शिशिर ऋतु में लोध के फूलों की गंध से हाथी कैसे मदान्ध हो गये हैं ! प्रत्यूषकाल की हलकी धूप में बाघों के छोटे-छोटे बच्चे आपस में लड़ते हुए लुढ़क रहे हैं । बनवासियों के घरों से धुआ बाहर निकल रहा है, परन्तु शीत के कारण कुछ देर तक उनके घरों के आस-पास ही मँडराता रहता है । अपने-अपने घोंसले से पक्षी बाहर झाँकते तो हैं, परन्तु शीत के कारण पुनः अपने-अपने नीड़ों में घुस जाते हैं । हिन्दी-साहित्य में 'सेनापति' का प्रकृति-चित्रण प्रसिद्ध है, किन्तु उनकी प्रतियोगिता में रत्नाकरजी का निम्नाङ्कित प्रकृति-वर्णन दर्प के साथ उपस्थित किया जा सकता है :—

“धाइ धाइ सिंधुर मबंध फूले लोधनि सों ,
गंध लुब्ध हूँ कै कंध रगरत गात हैं ।
कहै रतनाकर प्रभात अरुनाई माहिं ,
बाघनि के लेखवा लरत लुरियात हैं ॥
उठि उठि धूम बनबासिनि के बासनि तैं ,
त्रासनि तैं सीत के तहाई मँडरात हैं ।

पंछोगन सीस काढ़ि ब्रिटप-बसेरनि तैं ,
उमहि कछूक मौन गहि रहि जात हैं ॥”^१

कवि के इस प्रकार के सजीव वर्णनों में प्रकृति स्वयं आलम्बन बन गयी है ।
‘गंगावतरण’ में भी कुछ ऐसे स्थल हैं जहाँ प्रकृति की मनोहर झाँकी देखने को मिलती है ।
उदाहरणार्थ चतुर्थ सर्ग में कृष्णा नदी के निकट की वन-श्री का एक चित्र यह है :—

“दिव्य द्रुमनि की पांति लसति सब भांति सुहाई ।
ललित लता बहु लहलहाति जिनसों लपटाई ॥
स्यामबरनि मन हरनि नदी कृस्ना अति निर्मल ।
कलित-कंज-बहु-रंग बहति तहें मंजु मधुर-जल ॥

सीतल सुखद समीर धीर परिमल बगरावत ।
कूजत बिबिध बिहंग मधुप गूजत मनभावत ॥
वह सुगंध वह रंग ढंग की लखि टटकाई ।
लगति चित्र सी नंदनादि बन की चटकाई ॥”^२

अष्टम, नवम, तथा दशम सर्ग में गङ्गा के पृथ्वी-मण्डल पर आने का वर्णन भी प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से साधिष्ठ है । रत्नाकरजी ने ‘गंगावतरण’ काव्य हरिद्वार में लिखा था, अतः इसके लिखते समय उन्हें वन्यप्रकृति-निरीक्षण का भी अच्छा अवसर मिल गया था :—

“इमि हिम-खंड बिहाइ आइ पाहन-पथ मंडति ।
ढरकि ढार इक-डार चली गिरि-खंडनि खंडति ॥
फाँदति फेलति फटति सटति सिमिटति सुढंग सों ।
सृंगनि बिच बिच बढ़ी गंग सरि भरि उमंग सों ॥

कहुँ ढाहे ढोकनि ढुकाइ निज गति अवरोधति ।
मुनि ढकेलि ढुरकाइ तिन्हें पकर्यौ मग सोधति ॥
कबहुँ चलति कतराइ बक्र नव बाट काटि गहि ।
कबहुँ पूरि जल-पूर कूर ऊपर उमंडि बहि ॥”^३

१. शिशिराष्टक, पृष्ठ ४७३, छन्द-संख्या २

२. गंगावतरण, पृष्ठ २२०, छन्द-संख्या ११, १२

३. वही, पृष्ठ २६२-२६३, छन्द-संख्या २४-२५,

“पुनि कोउ घाटी बीच भीचि जल-बेग बढ़ावति ।
दुरकत ढोकनि खड़बड़ाइ धुनि-धूम मचावति ॥”^१

“कहुँ कोउ गह्वर गुहा माहिं घहरति घुसि घूमति ।
प्रबल बेगि सौं धमकि धूसि दसहुँ विसि दूमति ॥
कड़ति फोरि एक ओर घोर धुनि प्रतिधुनि पूरति ।
मानहु उड़ति सुरंग गूढ़ गिरि-सृंगनि चूरति ॥”^२

“कबहुँ सघन बन पंछि परम स्वच्छन्द कलोलति ।
कहुँ धावति कहुँ चलति चारु कहुँ उगमग डोलति ॥
कहुँ दै थपकि थपेड़ पेड़ के पेड़ ढहावति ।
कहुँ उत्तंग-तरंग-संग तट-बिटप बहावति ॥”^३

इत उद्धरणों से स्पष्ट है कि रत्नाकरजी में प्रत्यक्षानुभव की क्षमता रीतिकालीन कवियों की अपेक्षा कहीं अधिक है। उन्होंने प्रकृति को अपने हृदय के बहुत ही निकट रखकर देखा है तथा उसके सौंदर्य से मुग्ध होकर जो भावनाएँ उनके मानस में उद्भूत हुई, उन्हें ऐसे प्रभावशाली एवं भावोत्पादक ढंग से व्यक्त किया है कि उन वर्णनों को पढ़कर पाठक को भी प्रकृति के वैसे ही मनोमुग्धकारी सौंदर्य की अनुभूति होने लगती है। रत्नाकरजी के प्रकृति-चित्रण-पर विचार करने वाले कुछ आलोचकों का ध्यान उनके इन सुन्दर चित्रों की ओर नहीं गया है; इसी कारण वे रत्नाकरजी के प्रकृति-चित्रण को अलङ्कार भाराक्रान्त मान बैठे हैं।^४ उन्होंने कुछ स्थलों पर आलङ्कारिक शैली में भी प्रकृति-चित्रण किया है, फिर भी उनके ऐसे वर्णनों की उपेक्षा नहीं की जा सकती जिनमें प्रकृति की मनोमुग्धकारिणी छटा का आलम्बन के रूप में सफल चित्रण हुआ है। अपनी इसी क्षमता के कारण वे रीतिकालीन प्रायः सभी कवियों से बाजी मार ले गये हैं। प्रत्ययहेतु प्रकृति की शरदकालीन शोभा का यह चित्र उपस्थित है :—

“पौन अति सीतल न तपत सुगंध-सने ,
मंद मंद बहत अनंद-वेन-हारे हैं ।

१. गंगावतरण, पृष्ठ २६३, छन्द-संख्या २७, सर्ग ८

२. वही, पृष्ठ २६३, छन्द-संख्या २९, सर्ग ८

३. वही, पृष्ठ २७६, छन्द-संख्या ३, सर्ग १०

४. “प्रष्टव्य हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण” पृष्ठ ६२.

कहै रतनाकर सुकुसुमित कुंजनि में ,
 बैठि उठि भ्रमत मलिद मतवारे है ॥
 छिटकति सरद-निसा की चाँदनी सौं चारु ,
 दीपति के पुंज परें उचटि उछारे हैं ।
 स्वच्छ सुखमा के परि पूरित प्रभा के मनौ ,
 सुंदर सुधा के फूटि फवत फुहारे हैं ॥^१

तयन समाप्त हो चुकी है । शीतल-मन्द-सुगन्ध, पवन चल रहा है, कुञ्जों में चारों ओर पुष्प खिल उठे हैं, जिन पर मधुर-सान्द्र गुञ्जन के छल से मिल्निल-वृन्द मकरन्द-पान कर रहा है । नरलोक से किन्नर लोक तक का अन्तराल धवल ज्योत्स्ना की पाण्डुर विभा से विभात है । इस वर्णन के पश्चात् उत्प्रेक्षा करते हुए कवि कह उठता है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो अमृतद्रव की दीप्ति से दीप्त सुन्दर फुहारे छूट रहे हों । अवश्य ही कवि का हृदय यहाँ नैसर्गिक मुग्धता में रमा है । ऐसे वर्णन कदापि अलङ्कार-भाराक्रान्त नहीं कहे जा सकते । उत्प्रेक्षालङ्कार यहाँ भाव का अपकर्ण नहीं उत्कष ही कर रहा है । शरदकालीन ज्योत्स्ना का ही एक और चित्र यह है :—

“पूरि रह्यो छिति तैं अकास लौं प्रकास-पुंज ,
 जानें लखि रजत-पहार गुमड़ी परें ।
 पारद अपार रतनाकर तरंग की सी ,
 सुखमा अभंग चहुं घेर घुमड़ी परें ॥
 चमकति रेती चारु जमुना-कछार-धार ,
 बिपिन अगार भलमल भुमड़ी परें ।
 राखी संचि चंद्रिका मनौ जो बरषा भर की ,
 सोई चंद तैं ह्वै सतचंद उमड़ी परें ॥^२

कवि की तुलिका ने यहाँ केवल श्वेतरङ्ग का उपधान ग्रहण किया है । द्युलोक और भूलोक दोनों ही शुभ्र ज्योत्स्ना के पारावार से तरङ्गित हैं । सैकत पुलिन पर धवलमा की मूर्तिमती धारा रजत-कुट्टिम पर पारद-प्रवाह-सदृश प्रतीत हो रही है । उत्प्रेक्षा के स्वाभाविक एवं भावोत्कर्षक प्रयोग ने भी कविता कामिनी का रूप बिगाड़ा नहीं, बनाया ही है । प्रकृति की विभासित विभूतियों को देखकर रत्नाकरजी के हृदय से ऐसे भाव-रत्न अनायास ही निकल पड़ते हैं ।

१. शरदष्टक, पृष्ठ ४६५, छन्द-संख्या २

२. वही, पृष्ठ ४६६, छन्द-संख्या ३

आलम्बन की दृष्टि से कवि के सम्मुख प्रकृति या तो मनोरम या फिर भीषण रूप में उपस्थित होती है। उन्मद मयूरों की विहारस्थली रमणीय कान्तार, अपनी ही वक्र भङ्गिमा पर मुग्ध होकर चञ्चल हो उठने वाली सुन्दर स्वच्छन्द नग-पुत्रियाँ, तृण-वीरुध और लवली लताओं की मरकत मणि से विभूषित रमणीय उन्नत पयोधर, वृक्ष-लता-गुल्मों की सघन पत्र-राशियुक्त वन-राजि की मञ्जुल हरीतिमा, प्रत्यूषकाल में पक्षियों का कलित कलरव, जल-सीकरों को वहन करने वाला मदिर गन्ध परिपूर्ण प्रभात वात इत्यादि से यदि प्रकृति का नयनाभिराम स्वरूप प्रकट होता है, तो वृक्षावलि का उत्पाटन करने वाला उग्र झंझावात, ज्वालामुखी का जन-कदन-कारी प्रचण्ड विस्फोट, तिमिरावृत्त गगनमण्डल से उत्फालित भीषण उल्कापात, महानिशा में श्मशान-भूमि की महानीरवता, निदाघ की विकरालता से जलते हुए मरुस्थल इत्यादि उसकी भयङ्करता को व्यक्त करते हैं। रत्नाकरजी ने जिस प्रकार प्रकृति के सौम्य रूप को आलम्बन रूप में ग्रहण किया है, उसी प्रकार उसके भीषण रूप की भी संश्लिष्ट योजना की है। वर्षा ऋतु की भीषण-काली रात में जरा श्मशान के उस पुराने पीपल को भी देख लीजिए जिसके नीचे खड़े हुए चिन्ता-कातर सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र अपनी आँखों काल की गति देख रहे हैं :—

“हरहरात इक दिसि पीपर कौ पेड़ पुरातन ।

लटकत जामें घंट घनै माटी के बासन ॥

बरषा ऋतु के काज औरहू लगत भयानक ।

सरिता बहति सबेग करारे गिरत अचानक ।

ररत कहूँ मंडूक कहूँ झिल्ली भनकारें ।

काक-मंडली कहूँ अमंगल मंत्र उचारें ॥^१

तात्पर्य यह है कि रत्नाकरजी ने प्रायः आलम्बन-रूप में ही प्रकृति को अपनाया है। निश्चय ही जहाँ अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न सूक्ष्म निरीक्षण और हृदय की पूर्ण भावुकता के साथ उन्होंने प्रकृति का संयत, गम्भीर और मनोहारी वर्णन किया है, वहाँ उन्हें पूर्ण सफलता मिली है, किन्तु जहाँ वे उत्तर मध्यकालीन कवियों से प्रभावित हैं, वहाँ उनका प्रकृति-चित्रण या तो आलङ्कारिक योजना के रूप में है, या फिर उद्दीपन के रूप में। आरोपित संवेदनात्मक-अनुभूति से जो प्रकृति चित्रण होता है, वह उद्दीपन की दृष्टि से ही होता है। इस दशा में आश्रय पहले से ही किसी भाव से उद्बलित रहता है; फलतः अपनी

भावनाओं के रङ्ग में रङ्ग कर ही वह प्रकृति को देखता है। रीतिकालीन कवियों ने शृङ्गार के उभय पक्षों में प्रकृति को प्रायः उद्दीपन की दृष्टि से ही ग्रहण किया है। इन्हीं कवियों से प्रभावित होकर रत्नाकरजी ने भी संयोग तथा वियोग के अनेक सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं। उद्दीपन की दृष्टि से संयोग पक्ष में किया हुआ हेमन्तऋतु का यह वर्णन प्रस्तुत है :—

“भानुहँ की लागी प्रीति अगिनि विगंगना सौं ,
सीत-भीति जागी इमि सकल समंत कौं ।
कहै रतनाकर रहत न अकेले बनै ,
मेले बनै रुसिहँ तिया सौं दोषवंत कौं ॥
हिम की हवा सौं हलि अचल समाधि त्यागि ,
लपटनि-लालसा-लसित लखि कंत कौं ।
पाट की पिछौरी बाहु दाहिनें पखौरी किए ,
गौरी लगी हुलसि असीसन हिमंत कौं ॥”^१

यहाँ ऋतु-सुलभ सामान्य व्यापार अपने अक्षुण्ण रूप में विद्यमान हैं, परन्तु ऐसे वर्णन को पढ़कर यही प्रत्यय होता कि कवि का उद्देश्य ऋतु विशेष के सामान्य व्यापारों का चित्रण नहीं है। यहाँ तो कवि यह दिखाना चाहता है कि ऋतु के उद्दीपक प्रभाव के कारण ही शङ्कर की पार्श्ववर्तिनी गौरी का दुकूल विस्मृत भाव से दाहिने हाथ पर आ पड़ा है, तथा उनके हृदय में लालसा विशेष उद्दीप्त हो उठी है। नवोदित वसन्त-श्री के निम्नस्थ वर्णन में भी प्रकृति का ऐसा ही उद्दीपक प्रभाव उपन्यस्त है :—

“कोकिल की कूक सुनि हूक हिय माहि उठै ,
लूक से पलास लखि अंग सरसान्यौ है ।
करिहों कहा धौं धीर धरिहों कहाँ लौं बीर ,
पीरव समीर त्यों सरीर सरसान्यौ है ॥
पल पल बूजें पल आवन की आस जियो ,
ताहू पर पत्र आइ विष बरसान्यौ है ।
अवधि बंदी है कल आवन की कंत अरु ,
आज आइ ब्रज में बसंत दरसान्यौ है ॥”^२

निम्नाङ्कित वर्षा-वर्णन में कवि वर्षा-ऋतु की नैसर्गिक शोभा की ओर भी आकृष्ट

१. हेमन्ताष्टक, पृष्ठ ४७०-४७१, छन्द-संख्या ५

२. बसन्ताष्टक, पृष्ठ ४५४, छन्द-संख्या ३

है तथा उसके उद्दीपक प्रभाव की ओर भी । आधे कवित्त में प्रकृति आलम्बन रूप में उपस्थित है, तथा शेष आधे भाग में उद्दीपन की दृष्टि से चित्रित है :—

‘झूमि झूमि झुकत उमंडि नभ-मंडल में,
घूमि घूमि चहुँधा घुमंडि घटा घहरें ।
कहै रतनाकर त्यों दामिनि दमकैं बुरें,
दिसि बिदिसानि दौरि दिग्य छठा छहरें ॥
सार सुख संपति के वंपति दुहैं के दुहैं,
अंग अंग जिनके उमंग भरे थहरें ।
फूलनि के झूलन पै सहित अनंद लेत,
सीतल सुगन्ध मन्द मास्त की लहरें ॥’^१

उपरिनिर्दिष्ट उद्धरण में वर्षा की सुषमा का समावेश तो है ही, साथ ही उसका उद्दीपक प्रभाव भी अन्वित है, परन्तु वर्षाष्टक के निम्नलिखित कवित्त में केवल ‘झूलत हिंडोरै’ से पाठकों को पावस की कल्पना हो जाती है । शेष वर्णन वर्षा ऋतु में नायक और नायिका के हिंडोले पर झूलने से उद्दीप्त रति भाव को ही व्यक्त कर रहा है :—

‘झूलत हिंडोरें दुहैं बोरे रस रंग जिन्हें,
जोहत अनंग-रति-सोभा कटि कटि जाति ।
मंजु मचकी सौं उचकत कुच-कोरनि पै,
ललकि लुभाइ रसिया की डोठि डटि जाति ॥
देखत बनें ही कछु कहत बनें न नेंकुं,
बाल अलबेली जब लाज सौं सिमटि जाति ।
हटि जात घूँघट लटकि लांबी लट जाति,
फटि जाति कंचुकी लचकि लोनी कटि जाति ॥’^२

संयोग पक्ष में रति-भाव को उद्दीप्त करने वाली यही प्रकृति वियोग पक्ष में विषण्णावस्था को प्राप्त हो जाती है । ‘उद्धवशतक’ की गोपियाँ अपने हृदय की दशा का आरोप हेमन्त ऋतु पर करती हुई कहती हैं :—

“रीते परे सकल निषंग कुसुमायुध के /
बूर बुरे कान्हू पै न तातें चलै चारी है ।

१. वर्षाष्टक पृष्ठ ४६२-४६३-छन्द-संख्या ५

२. वही पृष्ठ ४६३, छन्द-संख्या ६

कहै रतनाकर बिहाइ बर मानस कों,
लीन्यो है हुलास-हंस बास दूरिवारो है ॥
पाला परं आस पै न भावत बतास बारि
जात कुम्हिलात हियो कमल हमारो है ।
षट ऋतु त्रै है कहँ अनत दिगंतनि में
इत तौ हिमंत कौ निरंतर पसारो है । ”

(निशि-दिन नेत्रों के बरसते रहने से जिस प्रकार सूर की गोपियों पर सदैव वर्षा ऋतु ही छायी रहती थी, उसी प्रकार रत्नाकर की गोपियों पर हेमन्त का प्रभाव चिरस्थायी है । प्रस्तुत और अप्रस्तुत का ऐसा सुन्दर समन्वय सूर जैसे कवियों को छोड़ कर अन्यत्र कठिनाता से मिलेगा । हेमन्त में हंसों का मानसरोवर से कहीं दूर चले जाना, पाला पड़ना, तथा कमलों का कुम्हला जाना इत्यादि दृश्य ऋतु सुलभ सामान्य व्यापार हैं । इन्हीं सामान्य व्यापारों के उपरोध से कवि ने धृताशया गोपियों की करुण दशा को काव्यमयी राग-रसिकता से चित्रित कर दिया है । रूपकालङ्कार के इस संप्रयोग से विह्वलताभिभूत गोपियों की घनीभूत पीड़ा की मार्मिक अभिव्यञ्जना हुई है । 'उद्धवशतक' जैसे छोटे से काव्य में भी रत्नाकरजी ऋतु वर्णन करना नहीं भूले हैं । यहाँ छः ऋतुओं पर केवल छः कवित्त लिखकर उन्होंने इस बात का भी स्पष्ट प्रमाण उपस्थित कर दिया है कि जिस प्रकार वे किसी विषय को विस्तार से लिख कर प्रभावपूर्ण बना सकते थे, उसी प्रकार विषय के संक्षिप्त साधिष्ट वर्णन में भी कुशल थे । केवल छ. कवित्तों में छः ऋतुओं का यह प्रभावशाली वर्णन रत्नाकरजी की प्रतिभा और कला का उत्कृष्ट साक्षी है । 'उद्धवशतक' से ही उद्धृत वियोगपक्ष में बसन्त का यह मर्मस्पर्शी वर्णन भी ऐसी ही प्रगल्भ व्यञ्जकता में ओत-प्रोत है ।

“बिकसित बिपिन बसंतिकावली कौ रंग
लखियत गोपिनि के अंग पियराने में ।
बौरे बृन्द लसत रसाल-बर बारिनि के
पिक की पुकार है चढ़ाव उमगाने में ॥
होत पतझार झार तरनि समूहनि कौ
बंहरि बतास लें उसास अधिकाने में ।

काम-बिधि बाम की कला में मीन-मेघ कहा

ऊधौ नित बसत बसंत बरसाने में ॥^१

एक ओर गोपियाँ वनस्थली में फूली हुई पीली-पीली सरसों को देखती हैं तो दूसरी ओर विरह के कारण पीले पड़े हुए अपने शरीर को। उधर आम्र वृक्षों पर बौर आ रहे हैं, कोयल कूक रही है, इधर मृदु-मदिर-मलय-समीर से आहत गोपियों के हृदय से हूक उठ रही है। प्रणय-व्यापार के संयोग पक्ष में हृदय प्रकृति की सभी वस्तुओं से आनन्द और उल्लास ग्रहण करने लगता है, परन्तु वियोगावस्था में विपरीत चित्तवृत्ति के कारण उन्हीं पूर्व-मुखद वस्तुओं से दुःख का संग्रह करता है। अतीत के शून्य पर भावनाओं के मेघ घुमड़ने पर गोपियों को भी वर्षा की सुषमा कष्टदायक प्रतीत हो रही है :—

रहित सदाई हरियाई हिय-घायनि में
ऊरध उसास सो झकोर पुरवा की है
पीव-पीव गोपी पीर-पूरित पुकारति हैं
सोई रतनाकर पुकार पपिहा की है ॥
लागी रहै नैननि सौं नीर की झरी औ
उठे चित में चमक सो चमक चपला की है ।
बिनु घनस्याम धाम-धाम ब्रज मंडल में
ऊधौ नित बसति बहार बरसा की है ॥^२

कजरारी आँखों की निरन्तर रिमझिम को देखकर भी क्या कोई सहृदय कह सकता है कि सावन नहीं आया ? प्राकृतिक दृश्यों तथा व्यापारों का ऐसा आनन्दप्रद अथवा विषण्ण रूप मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा सत्य है। विकार-रहित स्वस्थ मनो-दशा में प्रकृति आलम्बन के रूप में प्रिय होती है। ऐसी ही दशा में उसकी कमनीयता अथवा भीषणता हृदय पर आकर्षक या भयानक प्रभाव डालती है; परन्तु जितना उपर्युक्त कथन सत्य है उतना ही यह सिद्धान्त भी यथार्थ है कि स्वाभाविक मनोदशा में विकार उत्पन्न हो जाने पर प्रकृति भी मनःस्थिति के रङ्ग में रङ्ग उठती है।

षट्शतु वर्णन में रत्नाकर जी सेनापति, बिहारी, पद्माकर इत्यादि से भी प्रभावित हैं। रीतिकालीन कवियों से प्रभावित होकर जहाँ वे गड्डलिका-प्रवाह में बह गये हैं, वहाँ उनकी मनोवैज्ञानिक प्राञ्जलता अनुर्वर बौद्धिकता से आक्रान्त हो गयी है। दो-

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १८०, छन्द-संख्या ८८

२. वही, पृष्ठ १८१, छन्द-संख्या ९०

एक उदाहरण उपस्थित हैं :—

पद्माकर :

“कहै ‘पद्माकर’ त्यों जेठ की जलाकैं तहाँ ,
पावैं क्यों प्रबेस बेस बेलिन की बाटी हैं ।”^१

रत्नाकर :

“मंजुल मलाका हू न हिय सियरावैं नैकु ,
तपित सलाका भई जेठ की जलाका में ।”^२

पद्माकर :

“गुलगुली गिलमै गलीचा है गुनीजन हैं ,
चांदनी हैं चिक है चिरागन की माला है ।
कहै ‘पद्माकर’ त्यों गजक गिजा हैं सजी ,
सेज हैं सुराही हैं सुरा हैं और प्याला हैं ॥
सिसिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हें ,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं ।
तान तुक ताला है बिनोद के रसाला है ,
सुबाला है दुसाला है बिसाला चित्रसाला है ॥”^३

रत्नाकर :

“मृगमद-केसर-अगर-धूप-धूम कांपि ,
सीत-भीत कांपनि की रीतिहि बुझावैं है ।
कहै रतनाकर त्यों परदे दरीचिनि के ।
हिलि हिलि हिलन अजोगता सुझावैं है ॥
संग-सुख-संपति न वंपति बिहाइ सकैं ,
प्रीति सौं परस्पर यों भाषि अरुझावैं है ।
सिसिर-निसा में निसरन कौ न बाह कहैं ,
गिलिम गलीचा पाइ गहि समुझावैं है ॥”^४

१. पंचामृत, जगद्विनोद, पृष्ठ १५९, छन्द-संख्या ३८२

२. ग्रीष्माष्टक, पृष्ठ ४५७, छन्द-संख्या २

३. पंचामृत, जगद्विनोद, पृष्ठ १६१, छन्द-संख्या ३८९

४. शिशिराष्टक, पृष्ठ ४७५, छन्द-संख्या ६

सेनापति :

“भीषम तपत रितु ग्रीषम सकुचि तातें ,
सीरक छिपी है तहखानन में जाइ कै ॥”^१

रत्नाकर :

“छात छिति छिरकीं कपूर चोवा चंदन सों ,
सीत छिपी आनि जहां ग्रीषम दहल मैं ॥”^२

बिहारी :

“कहलाने एकत बसत अहि मयूर, मृग बाघ ,
जगनु तपोवन सौ कियौ दीरघ दाघ निदाघ ॥”^३

रत्नाकर :

“कहै रतनाकर गई है रहि रंचक हूँ ,
झपक न बाज में न झझक बलाका में ॥
हेरत फिरत बारि बृच्छ कहलाने सबै
होति अडकौसल कुरंगी औ अलाका में ॥”^४

बिहारी :

“नाहिंन ए पावक प्रबल लुबैं चलैं चहुँ पास
मानहु बिरह बसन्त कै ग्रीषम लेत उसास ॥”^५

रत्नाकर :

“कैधों ऋतुराज काज अवनि उसास लेति
कैधों यह ग्रीषम की भीषम लुआर है ॥”^६

रीतिकालीन कवियों का प्रभाव प्रकृति-चित्रण में ही नहीं प्रत्युत रत्नाकरजी की रचनाओं में अन्यत्र भी परिलक्षित होता है; तथापि उन्होंने प्रायः सर्वत्र ही गृहीत भावों अथवा शब्दों को अपनी कल्पना के स्वस्थ उपकरणों से अलङ्कृत करके अपनी छाप लगा दी है। यद्यपि उनकी रचनाओं को पढ़ते समय स्थल-स्थल पर

१. 'सेनापति', कवित-रतनाकर, पृष्ठ ७४, छन्द-संख्या १२

२. ग्रीष्माष्टक, पृष्ठ ४५९, छन्द-संख्या ६

३. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ २०२, छन्द-संख्या ४८९

४. ग्रीष्माष्टक, पृष्ठ ४५७, छन्द-संख्या २

५. बिहारी रत्नाकर, पृष्ठ २०१, दोहा-संख्या ४८८

६. शृङ्गारलहरी, पृष्ठ ३६९, छन्द-संख्या १४९

पद्माकर, बिहारी, घनानन्द, देव इत्यादि कवियों का स्मरण हो आता है; यही नहीं कहीं-कहीं रीतिकालीन कवियों के शब्दों को भी उन्होंने ग्रहण किया है, परन्तु उनकी रचनाएँ चोरी के दोष से सर्वथा मुक्त हैं। कवि-कर्म भाव-सिक्त शब्द-विन्यास पर आधारित होता है, अतः अर्थ-गर्भित सरस शब्दों के प्रभूत सञ्चय द्वारा निज शब्द भाण्डार-समृद्धि की लालसा साहित्यकार में समुपचित रहती है। शब्द-भाण्डार-विवृद्धि का मुख्य स्रोत अध्ययन है। अध्ययनशील लेखक विभिन्न कृतियों में समुपलब्ध भाव-विभूतियों एवं साधिष्ठ शब्द-प्रयोगों पर मुरध होता हुआ, उन्हें अपने अन्तस् में सञ्चित करता रहता है, अतः उसकी रचनाओं में अनेक प्राक्तन शब्द और भाव जात-अज्ञात रूप से उपन्यस्त हो जाते हैं। इन प्रयुक्त शब्दों और भावों के उत्स की समीक्षा से अनुसन्धित्सु लेखक के विस्तृत अध्ययन से परिचित होता है, किन्तु तदपेक्षया जिस आशंमु की जिज्ञासा यह होती है कि गृहीत शब्दों या भावों का तलस्पर्शी विश्लेषण करके, अपनी प्रतिभा-प्रसूत-कल्पना से कवि ने उनका विन्यास कैसा किया है, वह कवि की विधायकता (constructiveness) से भी परिचित हो जाता है। उपरिनिर्दिष्ट सहज-चयन-प्रवृत्ति (acquisation) यदि दूषित है, तब तो निश्चय ही मानव-स्वभाव भी विकल्मष नहीं है। तुलसी जैसे कवि भी इस दृष्टि से शब्द-भाव-विप्रलुम्पक मात्र हैं। कवि के हृदय का वसन्त पुरातन सृष्टि का नूतन शृङ्गार कर देता है। वर्षा के आगमन से जिस प्रकार वृक्ष और लताएँ प्राचीन होते हुए भी नवीन-सी भासित होने लगती हैं, उसी प्रकार रत्नाकरजी की प्रतिभा को छूकर पुराने शब्द और भाव भी रत्न बन जाते हैं। इतनी शक्ति तो लोहे में भी नहीं होती कि पारस-स्पर्श करके भी निज-स्वरूप-परिवर्तन रोक सके।

रत्नाकरजी ने प्राचीन कवियों के समान आलङ्कारिक शैली में भी प्रकृति-चित्रण किया है; परन्तु ऐसे स्थलों पर उनका उद्देश्य चमत्कार-प्रदर्शन है, प्रकृति-चित्रण नहीं। कृष्ण के नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने पर यह चमत्कृति परिलक्षित होती है।

“सील-सनी मुरुचि मुबात चलै पूरब की
औरे ओष उमगी दूगनि मिदुराने तें ।
कहै रतनाकर अचानक चमक उठी
उर घनस्याम कै अधीर अकुलाने तें ॥
आसाछन्न दुरदिन बीस्यौ मुरपुर माहि
बज मैं सुविन बारि-बन्द हरियाने तें ।

नीर कों प्रवाह कान्ह-नैननि कें तीर बह्यौ
धीर बह्यौ ऊधौ-उर-अचल रसाने तैं ॥”^१

निम्नोद्धृत कवित्त में भी हृदय की सच्ची पुकार की स्निग्धता नहीं है। साङ्ग-रूपक के निर्वाह के लिए यहाँ वसन्त पर समुद्र का आरोप किया गया है। ‘किसुक प्रसून जाल’ बड़वानल की ज्वाला बन गये हैं। वसन्त रूपी समुद्र में वियोगिनी डूबने लगी है। शीतल-मंद-सुगन्ध पवन समुद्र की उत्ताल तरंगों के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है और इस प्रकार अलङ्कार की आभा में विरहिणी की मादक अभिलाषाएँ निष्प्रभ-सी हो गयी हैं :—

“बारिधि बसंत बद्धौ चाव चद्धौ आवत है ,
बिबस बियोगिनि करेजौ थामि थहरें ।
कहै रतनाकर त्यों किसुक-प्रसून जाल ,
ज्वाल बड़वानल की हेरि हियें हहरें ।
तुम समुझावति कहा हौ समुझौ तौ यह ,
धीरज-धरा पे अब कैसे पग ठहरें ।
भौर चहुँ ओर अमें एकौ पल नाहि थम्हें ,
शीतल सुगंध मंद मास्त की लहरें ॥”^२

वसन्त का निम्नोक्त वर्णन भी आलङ्कारिक ही है। यहाँ गुलाब की कलियों का चटकना तोप की गर्जना बन गया है। कुपित महाराज कामदेव के अभियान में भौरों का समूह सिपाहियों का दल, और कोयल की कूक युद्धस्थल की तुरही प्रतीत हो रही है, अतः दुर्बल बौद्धिक भूमिका के कारण प्राणों का प्रतिष्ठान यहाँ भी नहीं हो सका है :—

“पथिक तुरंत जाइ कंतहि जताइ दीजौ ,
आइगौ बसंत उर अमित उछाह लै ।
कहै रतनाकर न चटक गुलाबनि की ,
कोप कें चढ़त तोप मैं बादसाह लै ॥
कोकिल के कूकनि की तुरही रही है बाजि ,
बिरहिनि भाजि कहौ कौन की पनाह लै ।

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १५०, छन्द-संख्या १३

२. बसन्ताष्टक, पृष्ठ ४५४, छन्द-संख्या ४

सीतल समीर पे सवार सरबार गंध ,
मंद मंद आवत मल्लिह की सिपाह ले ॥”^१

उपर्युक्त वर्णन में मन अलङ्कारों के चमत्कार में ही उलझ कर रह जाता है । इस ऊहात्मक अभिव्यक्ति में मात्र बात की करामात शेष रह गयी है । नायिका के विरह-ताप की तुलना में अलङ्कारों की चमचमाहट अनुपात से भी अधिक है, फलतः न तो नायिका की विरह-वेदना के प्रति संवेदना जाग्रत होती है, और न वसन्त ऋतु की सुषमा के ही दर्शन हो पाते हैं ।

आलङ्कारिक शैली में रत्नाकरजी का यह ग्रीष्म-वर्णन भी विलक्षण चमत्कार से सम्पन्न है :—

“कंधों अति दुसह दवागि की दपेट कंधों ,
बाड़व की विषम झपेट-झर-झार है ।
कहै रतनाकर वहकि बाह बाहुन सों ,
उगिलत आग कंधों पावक-पहार है ॥
रुद्र-दृग तीसरे की कंधों बिकराल ज्वाल ,
फेकत फुलिंग के फनिद फुफुकार है ।
कंधों ऋतुराज काज अवनि उसास लेति ,
कंधों यह ग्रीष्म की भीषम लुआर है ॥”^२

यहाँ झुलसाती हुई लू का संवेदनात्मक स्वरूप इतना स्पष्ट नहीं है जितना सन्देहालङ्कार का चमत्कार विस्पष्ट है । सूर्य-किरणों से तपी हुई, प्रचण्ड उष्णता सद्गीरित करने वाली धरित्री, तथा भीषण लू के अङ्गारमय वातावरण से खिन्न होकर लोग आग बरसने की चर्चा तो करने लगते हैं, किन्तु “कंधों ऋतुराज काज अवनि उसास लेत” इत्यादि पंक्तियों से लू की प्रचण्डता पर उतना ध्यान नहीं जाता जितना कवि के शब्द-चमत्कार और अलङ्कार-कौशल से बुद्धि चमत्कृत होती है । उपर्युक्त वर्णन से रत्नाकरजी के निम्नलिखित ग्रीष्म वर्णन की तुलना करने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है :—

“छायौ रितु ग्रीष्म की भीषम प्रचंड दाप ,
जाकी छाप सब छिति-मंडल सही लगी ।

१. बसंतारण्यक, पृष्ठ ४५३, छन्द-संख्या २

२. शृंगारलहरी, पृष्ठ ३६९, छन्द-संख्या १४९

कहै रतनाकर बयारि बारि सीरे कहूँ ,
 पंयें नेंकु एक रहें अहक यही लगी ॥
 करवट लै लै बरवट ही बिताई राति ,
 पलक लगाए हूँ न पलक रही लगी ।
 अबहीं सिरान्यौ ना सँताप कलही कौ फेरि ।
 ताप सौं तपाकर के तपन मही लगी ॥”^१

स्पष्ट ही यहाँ कवि का उद्देश्य अलङ्कारों का प्रदर्शन नहीं है । ग्रीष्म-कालीन विषमता का उसने सूक्ष्म निरीक्षण किया है और बिना किसी आडम्बर के उसका जीता-जागता चित्र खड़ा कर दिया है । तात्पर्य यह है कि प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की रत्नाकरजी में पूर्ण क्षमता है, तथा जहाँ उन्होंने चाहा है, वहाँ प्रकृति के मनोमुग्धकारी स्वरूप तथा उसके व्यापारों का प्रभावशाली वर्णन भी किया है । हिन्दी में प्रभात और सायंकाल के वर्णन भी परम्परा से होते आये हैं । महाकाव्य लिखने वाले सभी कवियों ने इस प्रकार के दृश्य उपस्थित किए हैं । रत्नाकरजी ने भी प्रत्यूष और प्रदोषकाल का मनोरम वर्णन किया है । यहाँ उन्होंने साधारण और चलते हुए वर्णन से संतोष नहीं किया है । प्रातःकालीन सुषमा का एक दृश्य यह है :—

“ऊषा कौ प्रकास लाग्यौ लौकन अकास मांहि ,
 सुमन बिकास कैं हुलास भरिबे लगे ।
 कहै रतनाकर त्यों बिटप निवासनि में ,
 द्विजगन चेति कसमस करिबे लगे ॥
 मुनिजन लागे लेन चुभकी गगन गंग ,
 गौन पौन-पथिक हिये मै धरिबे लगे ।
 तमचुर-बंदी धरे अरुन-सुबाने सीस ,
 ताकौ राज-रोर चहुँ ओर भरिबे लगे ॥”^२

नभ-मण्डल में उषाकालीन क्षीण प्रभा दृष्टिगत होने लगी है । ‘लौकन’ शब्द के संप्रयोग से कवि ने इसी भाव को बड़ी खूबी से व्यक्त किया है । पुष्पों के खिलने के साथ ही पक्षियों का अपने-अपने नीड़ों में कसमसा उठना भी बड़ा स्वाभाविक है । कवि ने ताम्रचूड़ के मस्तक की रक्त कलङ्गी का स्मरण दिलाकर, निकट भविष्य में उदय होने वाले सूर्य के लाल प्रतिबिम्ब का सङ्केत भी कलात्मक ढंग से दिया है ।

१. ग्रीष्माष्टक, पृष्ठ ४५७, छन्द-संख्या १

२. प्रभाताष्टक, पृष्ठ ४७७, छन्द-संख्या १

काल-पुरुष के भय से अन्धकार सन्त्रस्त हो उठा है ।

“साजे सीस बानों तमचुर ज्यों प्रभाकर को ,
प्रगट पुकारि तासु आगम जनायौ है ।
कहै रतनाकर गुलाब चटकारी देत ,
दिसि बिदिसानि त्यों सुगंध सरसायौ है ॥
आयौ अगवानी कौ समीर धीर दक्खिन को ,
चहकि बिहंग मंगलीक गान गायौ है ।
ज्यों ज्यों ब्योम बढ़त प्रकास-पुंज पूरब सौं ,
त्यों त्यों तम-तोम जात पच्छिम परायौ है ॥”^१

अन्तिम पंक्ति में विभावरी के अवसान और सूर्य के उदय की अभिव्यञ्जना अतीव मनोरम और प्रशस्त है । जैसे-जैसे प्राची में सूर्य का लाल बिम्ब निकलता आ रहा है, वैसे-वैसे अन्धकार प्रतीची की ओर भागता जा रहा है । नाना प्रकार के सुरभित पुष्पों की गन्ध से वातावरण पूरित है । ताम्रचूड़ उच्च कण्ठ से सूर्योदय की सूचना दे रहा है । परिदृश्यमान जगत से गृहात ऐसे साक्षात् संस्पर्श रत्नाकरजी की रचनाओं में विरल नहीं हैं । प्रकृति की संध्याकालीन सुषमा का एक आकर्षक चित्र यह है :—

“छाई छबि स्यामल सुहाई रजनी-मुख की ,
रंच पियराई रही ऊपर मुरेरे के ।
कहै रतनाकर उमगि तरु-छाया चली ,
बढ़ि अगवानी हेत आवत अंधेरे के ॥
घर घर साजें सेज अंगना सिंगारि अंग ,
लौटत उमंग भरे बिछुरे सबेरे के ।
जोगी जती जंगम जहाँ हीं तहाँ डेरे देत ,
फेरे देत फुदकि बिहंगम बसेरे के ॥”^२

रात्रि का अन्धकार चारों ओर विकीर्ण होने लगा है । इस समय मरीचि-माली की किरणें क्षीण होकर पीली पड़ जाती हैं । सूर्य के अस्त होने के कुछ पूर्व यह पीत आभा ऊँचे मकानों के मुँडेरों अथवा तरु-शिखरों की चूड़ा पर ही दिखायी देती है । इसी बात को कवि ने ‘रंच पियराई रही ऊपर मुरेरे के’ कह कर बड़े कौशल से व्यक्त

१. प्रभाताष्टक, पृष्ठ ४७७, छन्द-संख्या २

२. संध्याष्टक, पृष्ठ ४८१, छन्द-संख्या २

किया है। उसके सूक्ष्म निरीक्षण से कोई बात छूटी नहीं है। सायंकाल में वृक्षों की लम्बी परछाईं तथा अपने-अपने मीड़ों के चारों ओर पक्षियों का आकर फुदकने लगना भी कितना स्वाभाविक है ! इस वर्णन को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो मानस नेत्रों के सम्मुख प्रकृति के ये सब सामान्य व्यापार प्रत्यक्ष घटित हो रहे हैं। बाह्य प्रकृति के साथ यहाँ नर प्रकृति का भी सुन्दर निरूपण है। दिनभर काम करके घर लौटने वाले प्रियतमों के स्वागत-हेतु उनकी पत्नियाँ उत्सुक हो रही हैं। संध्या हो जाने के कारण 'जोगी जती जंगम' जहाँ थे, वहीं रात्रि व्यतीत करने के लिए रुक गये हैं। आलम्बन के सम्मुख आते ही रत्नाकरजी का हृदय उसके साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और फिर कोई बात ऐसी नहीं रह जाती जो उनके सूक्ष्म निरीक्षण से छूट सके। उनकी भाव-सम्पत्ति का असाधारण ऐश्वर्य और काव्य-कौशल की सृजनारम्भकता ऐसे स्थलों में अतीव स्पष्ट है।

सूर्यास्त का एक दृश्य और है। यहाँ वर्णन कुछ आलङ्कारिक अवश्य है, परन्तु उससे प्रकृति की शोभा में कहीं अन्तर नहीं पड़ा है। पूर्व दिशा में चन्द्रोदय के कारण शुभ्र प्रकाश फैल रहा है तो पश्चिम में सूर्यास्त की लालिमा है। आकाश-मण्डल में शनैः-शनैः बहुत से तारे भी निकलते आ रहे हैं :—

“जानि नभनाथ को पयान सैन-मंदिर कों,
मंगलीक नान में दुजाली भूरि भूली है।
कहै रतनाकर बिनोद चहुं कोव बढ्यो,
कामिनी तरुनि पै प्रमोद-प्रभा झूली है,
मोती-माल चारुती बिगंगना उमंग भरीं,
तारा ह्वै अकास-अंगना लों परं कूली है।
प्राची मुख सेत उत सेत जावनी है कियो,
तूली साजि अंबर प्रतीची इत फूली है ॥”

रत्नाकरजी ने उपदेश के लिए भी प्रकृति का चित्रण किया है, पर सब पूछिए तो उनकी प्रकृति उपदेश देने की न थी। यही कारण है कि जहाँ उन्होंने प्रकृति को उपदेश का माध्यम बनाया भी है वहाँ उपदेश केवल संक्षेप रूप में ही आया है। सूर्य के उदय और अस्त के उपधान से जीवन के प्रारम्भ, विकास, उत्कर्ष, निगति तथा

अन्त के इस निरूपण में अर्थ-पूर्ण अविनाशिन् सन्देश प्रणिहित है — .

बालपन बिसद बिताइ उदयाचल पै ,
 संबलित कलित कलानि ह्वं उमाहै है ।
 कहं रतनाकर बहुरि तम-तोम जीति ,
 उच्च-पद आसन लै सासन उछाहै है ॥
 पुनि पब सोऊ त्यागि तीसरे बिभाग माहि ,
 न्यून-तेज ह्वं कै सून मास में निबाहै है ।
 जानि पन बीथी अब भेष कै भगौहों भानु ,
 अस्ताचल धान में पयान कियौ चाहै है ॥”

तात्पर्य यह है कि रत्नाकरजी ने अपने समय की प्रचलित प्रायः सभी शैलियों में प्रकृति के अनूठे चित्र उत्तारे तथा किसी भी शैली में वे पीछे नहीं रहे । उनके अन्तिम दिनों में हिन्दी में छायावादी युग प्रारम्भ हो चुका था, परन्तु उन्हें न तो खड़ीबोली प्रिय थी, और न छायावाद, अतः प्रकृति को मानवीय रूप प्रदान करके अथवा प्रकृति को देवी सत्ता की अभिव्यक्ति मान कर उसका वर्णन उन्होंने नहीं किया, किन्तु उनके काव्य में संस्कृत कवियों के समान प्रकृति आलम्बन के रूप में भी सामने आयी तथा रीतिकालीन कवियों के समान उद्दीपन के रूप में भी; उन्होंने अलङ्कार-योजना में भी प्रकृति को सहायक बनाया है तथा कहीं-कहीं प्रकृति के सामान्य व्यवहारों को उपदेशात्मक सङ्केतों के रूप में भी व्यक्त किया है । वस्तुतः क्या नर-प्रकृति, और क्या बाह्य प्रकृति दोनों ही के सजीव चित्रण में उनकी तूलिका सधी हुई थी, अतः उन्होंने जिन चित्रों का निर्माण किया वे निश्चय ही कल्पना की रङ्गीनी और माधुर्य के ऐश्वर्य से समृद्ध हैं ।

प्रतिभा-प्रकर्ष और बहुज्ञता

कवि की वह जन्म-जात शक्ति जो मनन-चिन्तन, एकाग्रता और अध्यवसाय से और भी उन्नमित होकर उसके काव्य-कौशल का शृङ्गार करती है, प्रतिभा कहलाती है। काव्य को रमणीयता प्रदान करने वाली यही नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि आवश्यकता होते ही काव्योत्कर्षाधायक शब्दों और अर्थों को कवि के हृदय में विद्युत-स्वरा से उन्मिषित कर देती है। प्रतिभा-प्रकर्ष के द्वारा कवि काव्यानुभूति में प्राण-सञ्चार कर देता है, फलतः उसकी वर्णना सामाजिकों को प्रत्यक्ष सी भासित होने लगती है। प्रत्यक्ष वस्तुओं की तो बात ही क्या है प्रतिभा-बल से कवि अप्रत्यक्ष वस्तुओं में भी चेतना का ऐसा चारुत्व समाहित कर देता है कि वे प्रमाता के हृदय में सहज ही प्रतिभासित हो उठती हैं। ऐसे कवि के काव्य में यदि कोई कमी रह भी जाती है, तो कवि की प्रखर प्रतिभा उसकी अपूर्णता को अतीव प्रगल्भता से आच्छादित कर लेती है, अतः उस ओर सहसा दृष्टि नहीं जाती, किन्तु ध्यान आकर्षित न होने से विकृतियों का विमोचन नहीं हो जाता। विच्छित्ति प्रायः स्फीत लोकानुभव के अभाव में होती है, परन्तु व्युत्पत्ति-बल-समन्वित् प्रतिभा से कवि का काव्य सहृदय-श्लाघ्य हो जाता है। प्राणवान् कवि का कमनीय काव्य-कौशल और समुल्लास उसकी नैसर्गिक कारयित्री प्रतिभा पर ही नहीं, सतत अभ्यास, निपुणता और बहुज्ञता (व्युत्पत्ति-बल) पर भी आधृत रहता है, अतः कवि के लिए जितनी प्रतिभा काम्य है, उतनी ही बहुज्ञता अथवा व्युत्पत्ति भी वरेण्य है; और जहाँ प्रतिभा और व्युत्पत्ति का सम्प्लवन हो जाता है, वहाँ सोने में सुगन्ध आ जाती है।

संसार में कोई बात ऐसी नहीं है, जो काव्य का विषय न बन सके; अतः कवि के लिए यथा सम्भव समस्त शास्त्रों और कलाओं से परिचित होना आवश्यक है। काव्य-कला इतर सभी कलाओं से इतनी उपकृत है कि लोकानुभव के अतिरिक्त छन्द, व्याकरण, कोश, प्राणि-विद्या, इतिहास, पुराण, चौंसठ-कला इत्यादि का अनुशीलन उर्वर-मस्तिष्क कवि के लिए भी अपरिहार्य हो जाता है; ^१ इसी कारण भरत, वामन, रुद्रट,

१. छन्दोव्याकरण कलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात् ।

युक्तयुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन ॥

विस्तरतस्तु किमन्यत्तत इह वाच्यं न वाचकं लोके ।

न भवति यस्काव्याङ्गं सर्वज्ञत्वं ततोऽन्येषा ॥

(काव्यालङ्कारे १, १८, १९)

क्षेमेन्द्र, राजशेखर प्रभृति ने आत्म-प्रज्ञा की वृद्धि और सत्-काव्य सर्जना के लिए कवि का बहुविषयज्ञ होना अनिवार्य माना है ।^१

रत्नाकरजी के संस्कारों और युग-धर्म ने उनकी स्फुरन्मुखी प्रतिभा का विक्रान्त विकास किया था । समृद्धानुभूति से अनुप्राणित होकर ही उनका काव्य वाङ्मधु-परिस्रवण में समर्थ हो सका है । उनके काव्य में वेदान्त, तर्कशास्त्र, वैद्यक, सङ्गीत, रसायनशास्त्र, योग-दर्शन, विज्ञान इत्यादि के सिद्धान्त यथास्थान मानसिक उर्वरता से समावेष्टित होकर काव्योत्कर्ष में सहायक हुए हैं । विविध विषयों की अनुभूति को परिचित ज्ञान से सम्पृक्त करके प्रवाहमयी, सशक्त भावानुगामिनी भाषा एवं नवनवोन्मेषशालिनी सजीव कल्पना द्वारा प्रभावोत्पादक ढंग से अभिव्यक्त करदेना ही कलाकार की कुशलता है, और इसमें सन्देह नहीं कि रस को उद्गीरित करने वाला यह कौशल रत्नाकरजी में अशेष रूप से विद्यमान था । इस कथन की पुष्टि के लिए उनके काव्य में बिखरे अनेक उदाहरणों में से निम्नोक्त दस पन्द्रह उदाहरण पर्याप्त होंगे । 'उद्धवशतक' में वर्णित पारद भस्म रासायनिक प्रक्रिया से ही निर्मित हुई है :—

दीन्यो प्रेम-नेम-गुरूवाई-गुन ऊधव कों
हिय सों हमेव-हुरूवाई बहिराइ कै ।
कहै रतनाकर त्यों कंचन बनाई काय
ज्ञान-अभिमान की तमाई बिनसाइ कै ॥
दातनि की धौक सों धमाई चहुं कोदनि सों
निज बिरहानल तपाइ पघिलाइ कै ।
गोप की बधूटी प्रेमी-बूटी के सहारे मारे
चल-चित-पारे की भसम भुरकाइ कै ॥^२

१. श्रुतिः, स्मृतिः, इतिहासः, पुराणं, प्रमाणविद्या, समयविद्या, राजसिद्धान्त-त्रयी, लोको, विरचिता, प्रकीर्णकं च काव्यार्थानां द्वादश योनयः" इति आचार्याः ।

"उचित संयोगेन, योक्त्रसंयोगेन, उत्पाद्यसंयोगेन, संयोगविकारेण च सह षोडश"
इति यायावरीयः । राजशेखर-काव्यमीमांसा-अष्टमोऽध्यायः

२. उद्धवशतक, पृष्ठ १८६ छन्द-संख्या १०२

जपा कुमुम (गुड़हल) के समान लाल पारद भस्म का सम्पूर्ण रोगों के शमनार्थ प्रयोग होता है । अनुपान भेद से यह मृत्यु और बुढ़ापे को भी नष्ट करती है ।

बन्धूकपुष्पावणमीशजस्य

भस्म प्रयोज्यं सकलामयेषु ।

उद्धव इसी प्रेम-रसायन को लेकर मधुरा लौटे थे :

चल-चित-पारव की बंभ-कंचुलीं कै दूरि
 ब्रजः मग धूरि प्रेम-मूरि सुभसोली लै ।
 कहै रतनाकर सु जोगनि विधान भावि
 अमित प्रमान ज्ञान-गंधक गुनीली लै ॥
 जारि घट-अंतर हौं आह-धूम मारि सबै
 गोपी बिरहाग्नि निरंतर जगोली लै ।
 आए लौटि उद्धव विभूति भव्य भायनि की
 कायनि की रुचिर रसायन रसीली लै ॥ १

आयुर्वेद में विषमज्वर के निवारणार्थ सुदर्शन चूर्ण का प्रयोग बताया गया है । वैद्य के लिए नाड़ी ज्ञान आवश्यक है । नाड़ी ज्ञान से ही रोग का निदान तथा रोग के अनुसार औषधि का प्रयोग किया जाता है । रत्नाकरजी ने अपने इसी ज्ञान के आधार पर गोपियों के मुख से कहलवाया है :

निजानुपानंमरणं जराञ्च

हन्त्यस्य वल्लः क्रमसेवनेन ॥

(रसेन्द्र सार संग्रह, श्लोक संख्या ६४)

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १८७

पारे के स्वाभाविक आठ महादोष ये हैं:—

सीसा, बंग, मल, अग्निगुण, चञ्चलता, विष, गिरि, और असह्याग्नि । इन दोषों से युक्त रहने पर पारा अतीव हानिकारक होता है ।

अन्तर्धूम पारव भस्म (रस सिन्दूर) के निर्माण की प्रक्रिया यह है:—

शुद्ध पारव १ भाग, शुद्ध गंधक ३ भाग की कञ्जली बनाकर उसमें नौसादर १ माशा, मिला दिया जाता है । इसे ७ कपड़मिट्टी की हुई आत्तशी शीशी में भर देते हैं । शीशी का एक भाग औषध-द्रव्य से भरा रहता है और तीन चौथाई खाली रहता है । हँडिया के बीच में कनिष्कान्गुलि मूल प्रवेश योग्य छिद्र बनाकर हाँडी के बाहर भी तीन चार कपड़मिट्टीकर हाँडी को सुखा लेते हैं । हाँडी के भीतर छिद्र के ऊपर अभ्रक का पत्र रखकर उसमें शीशी को रख देते हैं । फिर हाँडी में शीशी के गले तक बालू भर दी जाती है । शीशी बन्द करने के लिए एक ठोस डाठ मिट्टी आदि की बना ली जाती है । हाँडी को चूल्हे पर रखकर प्रथम दिन मंद, दूसरे दिन मध्य और अन्त के तीसरे दिन तीव्र अग्नि दी जाती है । तत्पश्चात्

रस के प्रयोगनि के सुख सुजोगनि के
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं ।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन
बेत ना सुवसन हूँ यों सुधि सिराई हैं ॥
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिनि को
भाय क्यों अनारिनि को भरत कम्हाई हैं ।
ह्याँ तौ बिषमज्वर-बिभोग की चढ़ाई यह
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं ॥^१

रत्नाकरजी के मन-वैद्य का आयुर्वेद शास्त्र पर आधृत निदान और पथ्यापथ्य-निर्देश यह है :—

बिषम बिभोग-रोग-पीर सों अधीर हूँ कैं
बेदन कौ भेद मन बैद कौ सुनायो है ।
कहै रत्नाकर सुनारी-उदबेग जानि
निपट निदान कैं बिधान ठहरायो है ॥
नेह कौ पचंबो तप्यो जीवन अंचंबो घूटि
नींद भूमि प्यास कौ बचंबो समुझायो है ॥
नैननि कैं पाथक्वाथ कुमुद-हिये कौ कह्यो
दलित करेजी पथ्य पावन बतायो है ॥^२

प्रेम, लोक-लाज और विरह के त्रिदोष से त्रस्त इस विरहिणी की दशा भी बड़ी

स्वाङ्गशीतल होने पर शीशी के गले में लगी जपा कुसुम के समान लाल पारद भस्म प्राप्त होती है ।

देखिये, 'रसेन्द्रसार संग्रह', श्लोक संख्या ६२-६३

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १५९ छन्द-संख्या ३५

सुवर्शन चूर्ण वात पित्त और कफ तीनों दोषों को नष्ट करता है । यह सब प्रकार के ज्वरों को भी निःसन्देह नष्ट करता है । पृथग्, द्वन्द्वज, आगन्तुक, धातुस्थ विषम, सान्निपातिक और मानस ज्वरों को भी यह चूर्ण नष्ट करता है । सुवर्शन चूर्ण जिस प्रकार दानवों का नाश करता है, उसी प्रकार सुवर्शन चूर्ण समस्त ज्वरों का नाशक है ।

देखिये, शार्ङ्गधर संहिता, द्वितीय खण्ड, अध्याय ६, श्लोक ३३, ३४, ३७ ।

२. प्रकीर्ण पद्यावली, पृष्ठ ५६५ छन्द-संख्या ३२

दयनीय है :—

हाल बाल परी है बिहाल नंदलाल प्यारे,
ज्वाल सी जगी है अंग देखें दीठिजारे देति ।
प्रेम लोकलाज मिलि विरह त्रिदोष भयो,
कहै रतनाकर सु नैन नीर ढारे देति ॥
सत्तर धनत्तर से हारि रहे आनि मुख ,
चंद्रोदय आखिरी इलाज है पुकारे देति ।
झांवरी भई है दुति बावरी भई है मति ,
और की कहा है सुधि रावरी बिसारे देति ॥^१

आयुर्वेद के अनुसार सम मात्रा में घृत तथा शहद मिलाने से विष बन जाता है ।
इसी सिद्धान्त के आधार पर रत्नाकरजी ने यह सुन्दर रूपक बाँधा है :—

आइ निरगुन गुन-गाइ ब्रज में जो अब
ताकौ उदगार ब्रह्मज्ञान-रस गारें हैं ।
मिलि सो तिहारौ मधु मधुप हमारे नेह
देह में अछेह बिष बिषम बगारें है ॥^२

१. शृंगार लहरी, पृष्ठ ३५५-३५६ छन्द-संख्या १४४

(क) वात पित्त कफ को त्रिदोष कहा जाता है । ये विकृत होने पर शरीर को नष्ट करते हैं और प्रकृतावस्था में शरीर का पोषण करते हैं
“विकृताऽविकृता देहं णन्ति ते वर्तयन्ति च ।”

(अष्टांगहृदय सूत्रस्थान अध्याय १ श्लोक ७)

(ख) चन्द्रोदय :—यथामृत्युञ्जयोऽभ्यासात् मृत्युञ्जयति देहिनाम्,

तथाऽयं साधकेन्द्रस्य जराभरण नाशनः ॥

रसेन्द्रसारसंग्रहे, रसायनवाजीकरणाधिकार : पृष्ठ २९९, श्लोक ॥७४॥

(चन्द्रोदय, मृत्यु और बुढ़ापा नाश करने वाली औषधि है । चित्त विभ्रम, प्रलाप, उन्माद, शक्तिहीनता इत्यादि का नाश करती है । इसके सेवन समय में घृत मधुर पदार्थ विशेष लाभप्रद है ।)

२. उद्धवशतक पृष्ठ १७५ । छन्द-संख्या ७६

मधु, घृत, चर्बी, तेल और पानी में से कोई दो या कोई तीन सम अंश में एकत्रित होने पर परस्पर विरोधी हैं ।

(अष्टांगहृदय सूत्रस्थान, अध्याय ७ श्लोक, ३८-३९)

विज्ञान के प्रकाश तथा प्रतिबिम्ब सम्बन्धी सिद्धान्त का भी उनकी रचनाओं में अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। बिम्ब जितनी दूर हटता जाता है, दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब उतना ही गहरा प्रविष्ट होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। 'उद्धवशतक' की गोपियों के मन रूपी दर्पण में कृष्ण का प्रतिबिम्ब भी इसी प्रकार अधिकाधिक गहरा होता जा रहा है :—

संतत पिय प्यारे बसत मो हिय दर्पन माहि
धँसत जातूँ त्यों सखी ज्यों हीं ज्यों बिलगाहि ॥^१

उद्धव को अपनी मनोदशा समझाते समय भी गोपियों ने यही कहा था :—

चाहत निकारन तिन्हें जो उर अंतर तें
ताकौ जोग नाहि जोग मंतर तिहारे में ।
कहै रतनाकर बिलग करिबे मैं होति
नीति बिपरीत महा कहति पुकारे मैं ॥
तातें तिन्हें ल्याइ लाइ हिय तें हमारे बेगि
सोचिये उपाय फेरि चित्त चेतवारे मैं ।
ज्यों-ज्यों बसे जात दूरि-दूरि पिय प्रान-मूरि
त्यों-त्यों धँसे जात मन मुकुर हमारे में ॥^२

दर्पण में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उसमें एक विशेषता यह भी होती है कि बिम्ब का दाहिना अङ्ग प्रतिबिम्ब का बाँया अङ्ग बन जाता है। इस वैज्ञानिक सिद्धान्त को रत्नाकरजी ने बड़े चमत्कारपूर्ण ढंग से प्रेम-दशा में घटित किया है।

तब तो हजार मनुहार के रिभाई पर,
अब उपचार के विचार सब ख्वे गए।
कहै रतनाकर ललकि उन लंबौ कहा,
पाइ हूँ अनेकनि उपाइ सौं न छ्वे गए ॥

१. प्रकीर्णपद्मावली, पृष्ठ ५९१, बोहा-संख्या १६।

“The image lies on a line from the object, perpendicular to the mirror and it lies as far behind the mirror as the object is in front.”

Introduction to Physics page 494 By Harley Howe.

२. उद्धवशतक, पृष्ठ १७७, छन्द-संख्या ८१

देखत तो बंसेई लगत पर सांची सुनौ,
सरस सनेह के सुगंध - गुन ग्वं गए ।
पैठत ही प्यारे मन मुकुर हमारे हाय,
सारे बख दाहिने तिहारे बाम ह्वं गए ॥^१

नायिका की निम्नांकित उक्ति में भी यही वैज्ञानिक प्रगल्भता है :—

हा हा खाइ हाय कै बुखी ह्वं दूरिहीं सों देखि ,
सैननि में मंजु मूक बैन जे उचारे हैं ।
कहै रतनाकर न रंच तिनकी है सुधि ,
बिकल हिये के भाय सकल बिसारे हैं ॥
हों तो रही दंग देखि निपट निरालौ दंग ,
भाव उलटे ही सब अब तुम धारे हैं ।
पावत ही धाम मन-मुकुर हमारें स्याम ,
दच्छिन तैं बाम भए तेवर तिहारे है ॥^२

रत्नाकरजी के कवि-हृदय को इसी प्रकार अन्यत्र भी काव्योपयोगी उपकरण सहज ही उपलब्ध हो गये हैं । 'तिय-लिलार-बेंदी' का प्रत्युदाहरण उपस्थित करके बिहारी ने एक दिन अङ्क-गणित के सिद्धान्त को असत्य सिद्ध कर दिया था^३; इधर रत्नाकर जो की विलक्षण कल्पना ने रेखागणित के उपधान से क्षीण-काय भगीरथ का यह चित्र उपस्थित किया है :—

रह्यो भूप को रूप भावना के लेखा सों ,
अस्ति नास्ति कै बीच गनित कल्पित रेखा सों ,,

१. शृंगार लहरी, पृष्ठ ३४७

“Image of an object in a plane mirror suffers lateral inversion, i.e. right side of the object becomes the left side of the image and *vice versa*.”

A Text book of Intermediate Physics, Part II Light
page 20 by H.R. Sarana.

२. शृंगार लहरी, पृष्ठ ३४९, छन्द-संख्या ९४.

३. कहत सब बेंदी दियें, आंकु दस गुनौ होतु ।

तिय लिलार बेंदी दियें, अगिनितु बढ़तु उदोत ॥^१

बिहारी रत्नाकर पृष्ठ १३७

सुर मुनि अग्र समग्र देखि तप उग्र सिंहाये ।

नृपहि निवारन हेत सबनि बहु हेत बुझाये ॥^१

रेखागणित के अनुसार रेखा की लम्बाई तो होती है परन्तु चौड़ाई और मोटाई नहीं होती । तप करते-करते भगीरथ इतने दुर्बल हो गये हैं कि उनकी तुलना रेखा-गणित की ऐसी रेखा से की जा सकती है जिसमें लम्बाई तो है, परन्तु मोटाई और चौड़ाई नहीं है । “अस्ति नास्ति के बीच गणित कल्पित रेखा सौ” जैसी अपूर्व चमत्कार पूर्ण कल्पना रत्नाकरजी इसी आधार पर कर सके हैं ।

उनकी रचनाओं से यह भी स्पष्ट है कि वे छन्दशास्त्र तथा रस-सिद्धान्त के पूर्ण ज्ञाता थे । कहीं-कहीं उनकी मौलिक उपमाएँ और अनूठी उत्प्रेक्षाएँ इसी ज्ञान पर आधृत हैं ‘गंगावतरण’ का ही एक प्रसङ्ग है :—

भयौ हुतौ भ्रू-भंग-भाव जो भव निदरन को ।

तामैं पलटि प्रभाव पर्यौ हिय हेरि हरन को ॥

प्रगटत सोइ अनुभाव भाव औरें सुखकारी ।

हैं थाई उतसाह भयौ रति को संचारी ॥^२

छन्द-शास्त्र में लघु का चिह्न एक खड़ी रेखा [।] तथा गुरु का चिह्न सर्पाकार वक्र रेखा [S] है । गुरु-लघु के आधार पर ही छन्दों का प्रस्तार होता है । हिमालय से उतरती हुई गङ्गा कहीं सरल रेखा के रूप में तो कहीं सर्पाकार घूमती हुई प्रवाहित होती है । इसी का निरूपण करते हुए रत्नाकरजी कहते हैं :—

“कहुँ विस्तर थल पाइ बारि-विस्तार बढ़ावति ।

लघु गुरु बीच पसारि छंद-प्रस्तार पढ़ावति ॥”^३

रत्नाकरजी ने भारतीय दर्शन शास्त्र का भी भलीभाँति अध्ययन किया था । विभिन्न आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों से वे अच्छी तरह परिचित थे । ‘उद्धव शतक’ में उन्होंने उद्धव के मुख से अनेकत्व में एकत्व के सिद्धान्त का निरूपण इस प्रकार करवाया है :

“पंच तत्व में जो सच्चिदानन्द की सत्ता सो तौ ,

हम तुम उनमें समान ही समोई है ।

१. गंगावतरण पृष्ठ २४१, छन्द ७

२. वही पृष्ठ २५६ । छन्द संख्या ३८

३. वही, पृष्ठ, २६३, छंद-संख्या २६

कहै रतनाकर विभूति पंच-भूत हू की ,
 एक ही सी सकल प्रभूतनि में पोई है ॥
 माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सब ,
 काँच-फलकनि ज्यों अनेक एक सोई है ।
 देखौ भ्रम-पटल उधारि ज्ञान-आँखनि सौं ,
 कान्ह सब ही में कान्ह ही में सब कोई है ॥^१

उनकी रचनाओं में कही-कही ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान भी उपेत है । कुण्डली में ग्रहों का छटा-आठवाँ योग विरोधी, फलतः हानिकारक होता है । 'उद्धवशतक' के निम्नोक्त कवित्त में ज्योतिष के इसी योग का चमत्कार है :—

“प्रेम अरु जोग में है जोग छुँ-आठे पर्यौ ,
 एक ह्वै रहै क्यों दोऊ हीरा अरु काँच ह्वै ।
 तीन गुन पाँच तत्त्व बहकि बतावत सौं ,
 जैहै तीन तेरह तिहारी तीन-पाँच ह्वै ॥^२

गणना करते समय ज्योतिषियों की स्वाभाविक चेष्टाओं तथा भविष्य का कथन करते समय उनकी अस्पष्ट सी भाषा का भी उन्होंने अतीव सजीव वर्णन किया है । 'गंगावतरण' के द्वितीय सर्ग में वह स्थल देखिए जहाँ दैवज्ञ लोग इन्द्र द्वारा चुराये हुए यज्ञ के घोड़े के विषय में विचार कर रहे हैं :—

जोग लगन दिन नखत सोधि सब लगे विचारन ।
 रेखा अंक खंचाइ दीठि पाटी पर पारन ॥
 करि-करि पृथक् बिचार मेलि सब सार निसार्यौ ।
 गनपति गिरा-मनाइ-नाइ-सिर बचन उचार्यौ ॥^३

बाजी गयौ पताल यहै ग्रह-चाल बतावति ।
 हरनहार कौ धाम ठाम ऊँचौ ठहरावति ॥
 है मिलिबौ स्त्रम-साध्य दैव पर अंत मिलैहै ।
 ह्वै है सुभ परिनाम आदि अति असुभ लखैहै ॥^४

१. उद्धवशतक, पृष्ठ १५८, छन्द-संख्या ३२

२. वही, पृष्ठ १७७, छन्द-संख्या ७९

३. गंगावतरण, पृष्ठ २०३, छन्द-संख्या ४

४. वही, पृष्ठ २०४, छन्द-संख्या ५

सुनि गनकनि की गूढ़ गिरा सब बिस्मय पागे ।

असुभ-त्रास-सुभ-आस-भरे निरखन मुख लागे ॥^१

रत्नाकरजी की इस बहुज्ञता ने उनके काव्य को सर्वत्र आकर्षण प्रदान किया है, किन्तु उनका उद्देश्य कहीं भी पाण्डित-प्रदर्शन नहीं है। औचित्य का ध्यान रखते हुए ही उन्होंने इतर विषयों के ज्ञान से काव्य-कला का शृङ्गार किया है। काव्य और सङ्गीत तो एक दूसरे की अनुपूरक कलाएँ ही हैं, अतः उनकी रचनाओं में अनेक स्थलों पर सङ्गीत-तत्त्वों का भी समावेश हो जाना सहज स्वाभाविक है।

यह कहना तो कदाचित् अत्युक्ति मात्र हो कि सङ्गीत-तत्त्व से शून्य होने पर कविता का अस्तित्व ही लुप्त हो जाता है, किन्तु इतना सर्वथा असन्दिग्ध है कि संच्ची कविता में सङ्गीत किसी-न-किसी रूप में उपेत अवश्य रहता है। गीत, वाद्य और नृत्य को आत्मसात् करने वाले सङ्गीत का क्षेत्र अनीव व्यापक है। वस्तुतः कण्ठ-स्वर के आवेग पूर्ण उतार-चढ़ाव, अर्थ-ध्वनन करने वाले शब्दों के सम्प्रयोग, अथवा भावपूर्ण शारीरिक मुद्राओं की सफल अभिव्यञ्जना से भी कविता में सङ्गीत-तत्त्वों का प्रभूत सञ्चय हो जाता है। निश्चय ही ये कला-जगत की अनुभूतियाँ हैं। प्रत्येक कला अपना सीमा की परिधि में रह कर इन्हीं की अभिव्यक्ति करती है, किन्तु गीत, वाद्य और नृत्य का तो इनसे और भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। सङ्गीत का चरमलक्ष्य ही इन्हीं की कलात्मक अभिव्यक्ति है।

सङ्गीत सुनते समय गायक के विशेषत्व अथवा वाद्य-यन्त्र के वैलक्षण्य से निष्काम रह कर भी स्वरों से सान्द्र सुखानुभूति प्राप्त की जा सकती है, किन्तु स्वरों की सान्द्रता का भेदन करके श्रोता नाद के उस अन्तस्तत्त्व के दर्शन अवश्य करना चाहता है जिस की अन्तर्गत अर्थ-सम्पत्ति से उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ चमत्कृत हो उठती हैं। स्वरों के उतार-चढ़ाव से—कण्ठ-स्वर के भावानुकूल मार्दव से—हृदय के आवेगों को व्यक्त करने की कला कम लोग जानते हैं, किन्तु जो इसे जानते हैं, वे शारीरिक भाव-भङ्गिमाओं की भी विशेष चिन्ता किये बिना अपने आवेगों की सक्षम अभिव्यक्ति में बहुत दूर तक सफल हो जाते हैं। रत्नाकरजी ने छन्द सौष्ठव और शब्दालङ्कारों की चाखता से तो काव्यगत आन्तरिक सङ्गीत का वैभव दिखाया ही है, सङ्गीत के पारिभाषिक शब्दों के सफल प्रयोग, कण्ठ-स्वर के उतार-चढ़ाव अथवा नृत्योपयोगी भाव-पूर्ण शारीरिक मुद्राओं द्वारा भी अपने पात्रों के हृद्गत आवेगों को सफलता पूर्वक व्यक्त किया है। साङ्गीतिक शब्दावली के सम्प्रयोग से ही 'हिडोला' काव्य का वातावरण इतना सङ्गीतमय हो गया

है । उदहरणार्थ ये छन्द उपस्थित हैं:—

गवइ मल्हार छाइ आनंद कोउ सारंग-नैनी,
कल कल्यान-मेघ-सर लावति कोकिल-बैनी ।
लेत देस की ललित तान कोउ ऐरावत-गति ,
दमकावति गूजरि मुद मंगल सौदामिनि-तति^१

सुभ सुघरह-दीपक-लौ सी कोउ गोप कुमारी ,
भूपाली सौं देति कान्हार्याहिं सुख भारी ।
ध्रुवपद सौं इक ध्रुव-पद करति राग रागिनि कों ,
सरिगम सौं इक निधिप करति लुति बढ़-भागिनि कों ॥^२

अलबेली इक तान - जोड़ के परी ख्याल में ,
आरोही अवरोही करति अलाप-चाल में ।
कोउ गमकावति गमक ठमकि कोउ तमकि तराना ,
कोउ ताननि के तनति तरल बहु ताना-बाना ॥^३

सुभ अवसर जिय जानि मानि मन मोद महाई ,
केती मिलि लुति-धारिनि की ज्यौनार जमाई ।
कोऊ पक्षावज - कलस लिये सनमान-जतावति ,
परन-नीर लं जगत पीर सौं हाथ धुवावति ॥^४

कोऊ तानपूरा की लं कर माहि सुराही ,
मधुर सुखद सुर-सरबत मंजुल देति उमाही ।
कोउ काँधे पर लिये बीन-बहंगी बर नारी ,
षट-रस अयंजन रागनि के बरसति रुचिकारी ॥^५

१. हिंदोला, पृष्ठ १३, छन्द-संख्या ५४

२. वही, पृष्ठ १३, छन्द-संख्या ५५

३. वही पृष्ठ १३ । छन्द-संख्या ५६

४. वही, पृष्ठ १४, छन्द-संख्या ५७

५. वही, पृष्ठ १४, छन्द-संख्या ५८

लिए सारंगी की किसती कोऊ सुकुमारी,
मृदु मोदक, कतरी कादति ताननि की ठारी।
बेति ताल-चटनी कोउ लं मंजीर-कटोरी,
सकल सवाद सँवारन के हित आनंद-बोरी ॥^१

ले मुहचंग उमंग भरी कोउ बिनय सुनावति,
जेवंहु जेवंहु जेवंहु जेवंहु की धुनि लावति,
कोऊ पाकसासन-समाज पर ताल बजावति,
कोउ सुर-बनितनि कौं चट-चुटकिनि माँझ उड़ावति ॥^२

शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से उपर्युक्त छन्दों में मुद्रालङ्कार का चमत्कार मात्र दृष्टि-गत होगा, किन्तु मल्हार, छाइ, (छायानट), आनन्द, सारंग, कल्यान, मेघ, देस, ललित गूजरि (गूजरी टोड़ी) सुधराई, दीपक, भूपाली, कान्हड़ा जैसे राग नामों का इतना सफल प्रयोग निश्चय ही ठोस सङ्गीत-ज्ञान की अपेक्षा रखता है। इन राग-नामों के अतिरिक्त उन्होंने ध्रुपद, ख्याल तथा तराना आदि गीत शैलियों का, पखावज, तानपूरा, बीन सारंगी, मंजीरा, मुहचंग जैसे वाद्य यंत्रों का, तथा सरिगम तान, ऐरावत-गति (गज-परन) राग, रागिनी, आरोही अवरोही, गमक, परन, ताल, अलाप इत्यादि पारिभाषिक शब्दों का सफल प्रयोग करके अभीप्सित वातावरण को भी प्रत्यक्ष कर दिया है। उनके प्रिय छन्द रोला के सङ्गीतात्मक प्रवाह से समवेत होकर पंक्तियाँ यहाँ सजीव हो उठी हैं।

‘कोउ ताननि के तनित तरल बहु ताना-बाना’, जैसी पंक्ति के लयात्मक उच्चारण मात्र से सफल तान का भान होने लगता है। इसी प्रकार “परन नीर लं जगत पीर सौं हाथ धुवावत” के लयात्मक उच्चारण में परन का माधुर्य सन्निहित है। मुहचंग की ध्वनि अधोलिखित पंक्तियों में साकार हो उठी है:—

ले मुहचंग उमंग भरी कोउ बिनय सुनावति,
जेवंहु जेवंहु जेवंहु जेवंहु की ध्वनि लावति।

इसी प्रकार ‘गंवावतरण’ के दशम सर्ग की निम्नांकित पंक्तियों में भी सङ्गीत का चमत्कार उपन्यस्त है:—

नाचत मंजुल मोर और साजत सारंगी,
करत कोकिला बाव तान तानति बहुरंगी ॥

१. हिन्दोला पृष्ठ १४, छन्द-संख्या ५९

२. वही, पृष्ठ १४, छन्द-संख्या ६०

स्यामा सीटी बेति चटक चुटकी चुटकावत

धूमि झूमि झुकि कल कपोत तबला गुटकावत ॥^१

मोर का नृत्य तो खैर प्रसिद्ध ही है, परन्तु भ्रमर की गुनगुन को सारंगी का सजाना [मिलाना] तथा चटक की चटचट को चुटकी बजाना [हाथ से ताल देना] कह कर रत्नाकरजी ने अपनी प्रतिभा का साधिष्ठ परिचय दे दिया है। अन्तिम पंक्ति में कबूतर की गुटरगूँ को तबले की गुमक बताकर तो कवि ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण का प्रगल्भ प्रमाण उपस्थित कर दिया है। “धूम झूमि झुक” इत्यादि शब्दों से मानस नेत्रों के सम्मुख तबला-वादक की मुद्रा का सजीव चित्र उपस्थित हो जाता है। कोकिल के गान का उल्लेख तो बहुत से कवियों ने किया है, परन्तु रत्नाकरजी ने “तान तानति बहुरंगी” और जोड़कर किसी कोकिल कण्ठी की सरल तान, फिरत तान, रागाङ्गतान बोलतान, गमकतान, आलङ्कारिक तान इत्यादि का भी अनायास ही स्मरण करा दिया है।

कण्ठ-सङ्गीत की साधना करने वाले सङ्गीतज्ञ का चरम लक्ष्य लय-बद्ध स्वरों के समुचित उच्चारण द्वारा भावों को मूर्तिमान करना होता है। भावानुकूल कण्ठ-स्वर मार्दव से वह ऐसे ध्वनि-जगत का निर्माण कर डालता है जिसके निवासी कर्णेन्द्रिय मात्र से भावों का आदान-प्रदान करते दिखायी देते हैं। इस कलात्मकता का प्रारम्भिक रूप व्यावहारिक वार्त्तालाप के उन क्षणों में देखा जा सकता है जहाँ भावावेग के कारण वक्ता के कण्ठ में स्वभावतः ओज, आर्द्रता इत्यादि का समावेश हो जाता है। वाणी द्वारा जो कुछ अभिव्यक्त होता है, उसके नादपरक सौन्दर्य और अर्थ-गाम्भीर्य के अनुपात में न्यूनाधिकता हो सकती है, किन्तु भाषा की नादात्मक सुषमा एकान्ततः कभी तिरोहित नहीं होती। कवि की भाषा में यह गुण जितना अधिक होता है, सङ्गीतात्मकता के कारण उसकी कविता में हृदय की स्निग्धता भी उतनी ही बढ़ जाती है। वाणी के साङ्गीतिक उतार-चढ़ाव से कविता की उस जड़ता का सहज ही परिष्कार हो जाता है जो भाषा की जकड़बंदी के कारण उसमें प्रायः आ जाती है। रत्नाकरजी ने अनेक स्थलों पर भावानुकूल कण्ठ-स्वर मार्दव के समावेश द्वारा अपनी उक्तियों को मनोवैज्ञानिक प्राञ्जलता प्रदान की है। अधोलिखित उदाहरणों में अभिव्यक्ति के इसी कौशल से अन्तर् की भावात्मक उत्तेजना प्रत्यक्ष हो उठी है:—

हम जमराज की धरावर्ति जमा न कछू,

सुर-पति-संपति की चार्हति न ढेरी हैं।

चेरी हैं न ऊधौ ! काहू ब्रह्म के बबा की हम
सूधौ कहे देति एक कान्ह की कमेरी हैं ॥

उद्धवशतक छन्द-संख्या ४९

उपर्युक्त पंक्तियों में गोपियों का हृदय ही स्पष्ट नहीं हुआ है, झुंझलाहट से भरा वह कण्ठ-स्वर भी सर्वथा स्पष्ट है जिसके द्वारा उन्होंने अपने मन की बात कही थी। इसी प्रकार अधोलिखित छन्द में भी गोपियों के कण्ठ-स्वर का ओज उक्ति की स्वाभाविकता प्रदान कर रहा है :

कहहिं प्रतीत प्रीति नीति हूँ त्रिबाचा बाँधि ,
ऊधौ साँच मन की हिये की अरु जी की हें ।
वै तो हैं हमारे ही हमारे ही हमारे ही औ ,
हम उनहीं की उनहीं की उनहीं की है ॥

उद्धवशतक,—छन्द-संख्या ६१

रत्नाकरजी की रचनाओं में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं। कवि का हृदय जब अपने पात्रों से तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तब वह उनके मुख से स्वयं ही बोलने लगता है, फलतः उसके पात्रों की उक्तियाँ प्रत्यक्ष सुनायी देने लगती हैं। 'गंगावतरण' में गङ्गा की इस दर्पोक्ति में भी इसी कारण इतनी स्वाभाविकता आ गयी है :—

गंग कह्यौ उर भरि उमंग तौ गंग सही में ,
निज तरंग-बल जौ हर-गिर हर-संग मही में ।
लै स-त्रेग बिक्रम पताल-पुरि तुरत सिधाऊँ ,
ब्रह्म-लोक कौ बहुरि पलटि कँदुक इव आऊँ ॥

गंगावतरण-सर्ग ७, छन्द-संख्या ८

ऐसे स्थलों में कवन की मार्मिकता कण्ठ-स्वर के स्वाभाविक उतार-चढ़ाव पर ही अवलिम्बित रहती है। निम्नस्थ उदाहरण में भी नायिका की आन्तरिक प्रसन्नता किन्तु ऊपरी झुंझलाहट की ऐसी ही सुन्दर व्यञ्जना है, परन्तु कण्ठ-स्वर की समुचित सङ्गी-तात्मकता तिरोहित होते ही अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है :—

कान्ह-गति-जानि कं सुजान मन मोद मानि ,
“करत कहा हो” कह्यौ मुरि मुसुकाइ कं ।

शृङ्गारलहरी-छन्द-संख्या ५५

यदि वाद्य सङ्गीत की दृष्टि से विचार किया जाय तो कतिपय विशेष व्यञ्जनों का प्रयोग कविता में बड़ा उपयोगी होता है। बीणा और सितार जैसे वाद्यों में द, र, ड तथा ण का विशेष महत्व है। इसी प्रकार घनवाद्यों (मृदंग, तबला इत्यादि) में

क, ग, घ, ट, ड, ङ, र, तथा पूरे तवर्ग की सहायता ली जाती है, अतः इनके लयात्मक प्रयोग से कविता में वाद्य-सङ्गीत की विशेषताएँ उभरने लगती हैं। अपने अर्थ का स्वतः ध्वनन करने वाले हिन्दी के अनेक शब्द भी ऐसे ही हैं जिनका निर्माण उपर्युक्त एक या अधिक व्यञ्जनों की सहायता से हुआ है। अनुकरण मूलक शब्द प्रायः इन्हीं की सहायता से बनते हैं, अतः इन व्यञ्जनों का कलात्मक प्रयोग कविता में बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है। वायु की सरसराहट, नदी का आवेगपूर्ण प्रवाह, दावाग्नि से पेड़ों के चटचटाने आदि के वर्णनों में उपर्युक्त व्यञ्जनों से निर्मित शब्द अतीव अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करते हैं। अस्तु, बादल की गरज में मृदङ्ग की परन के बोल भी किसी ऐसे ही कवि को सुनायी दे सकते हैं, जो सङ्गीत के मर्म को समझने की क्षमता रखता है। उमड़-धुमड़कर आकाश में छा जाने वाली घनघोर घटाओं का गर्जन सुनकर रत्नाकरजी कहते हैं :—

आए चढ़ूँ ओर तँ घुमंड़ि घनघोर घेरि,
 टक्करनि लेत ज्यों मतंग मतवारे हैं ।
 कहै रतनाकर धराधर अकास धरा,
 एक मेक ह्वै के धूमधार-रंग धारे हैं ॥
 कत्तड़ान कड़ान घड़ान घेड़ैन घेड़ैन घेन्नडान,
 धधकतान धधकतान धधकतान वारे हैं ।
 मनसा - महान - बिस्व - बिजय - बिधान आनि,
 बाजत ये मदन-महीप के नगारे हैं ॥^१

इस कवित्त में आद्यन्त उन्हीं व्यञ्जनों का प्राधान्य है जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। प्रथम दो पंक्तियों में घुमंड़, घनघोर, घेरि, टक्करन इत्यादि शब्दों से घुमड़ कर आने वाले बादलों की ध्वनि प्रत्यक्ष हो जाती है। तीसरी और चौथी पंक्ति में उस वारि-धारा की ध्वनि है जिसने पृथ्वी और आकाश को एक कर दिया है। पाँचवीं और छठी पंक्ति की कलात्मकता तो सर्वथा अद्भुत है। इतनी सच्ची लयकारी के साथ मृदङ्ग की परन को कवित्त की लय में निभा देना रत्नाकरजी की आश्चर्य-जनक सफलता है। इस परन से बादलों की गर्जना कानों में गूँज उठती है। अन्तिम दो पंक्तियों में घनवाद्योपयोगी व्यञ्जनों के कलात्मक विन्यास से मदन-महीप के नगाड़ों का जो उल्लेख हुआ है, उससे कवित्त में भाव की संवर्धनीय अन्विति भी हो गयी है।

रत्नाकरजी की रचनाओं में कण्ठ सङ्गीत और वाद्य सङ्गीत की ही नहीं

नृत्य की विशेषताएँ भी उपन्यस्त है। नृत्य सङ्गीत कला का तीसरा अङ्ग है जिसका सीधा सम्बन्ध शारीरिक मुद्राओं से है। प्रेम, क्रीड़ा, आश्चर्य, भय, आतङ्क, घृणा इत्यादि के कारण उद्भूत स्वाभाविक भाव-भङ्गिमाएँ प्रत्यक्ष जीवन की वास्तविकताएँ हैं। इन्हीं के अनुकरण पर भरतनाट्यम्, कथक, कथाकाली, मणिपुरी इत्यादि विभिन्न नृत्य-शैलियों में मुद्राओं का अपने-अपने ढंग से कलात्मक विकास हुआ है। पैरों की विभिन्न मुद्राओं, उँगलियों की भिन्न-भिन्न स्थितियों, भ्रू-विक्षेप अथवा शरीर के विभिन्न मरोड़ों द्वारा हृदय के आवेगों की अभिव्यक्ति बड़ी सक्षम होती है, अतः सङ्गीत के इस अङ्ग के समावेश से भी कवि-कर्म में अद्भुत सजीवता आ जाती है। निम्नाङ्कित उद्धरणों में रत्नाकरजी की सफलता का कारण ऐसी ही स्वाभाविक भाव भङ्गिमाएँ हैं :—

सुर-सुन्दरी ससंक बंक दीरघ दृग-कीने ।

लगीं मनावन सुकृति हाथ कानन पर दीने ॥

गंगावतरण, सर्ग ७, छन्द-संख्या १८

कोउ उरुनि बिच दाबि बसन गीले गहि गारति ,

उसरत पट कटि उरसि संक-जुत बंक निहारति ।

कोउ लंकहि लचकाइ लचकि कच-भार निचोरति ,

मर्कत-बल्लिनि मीड़ि मंजु मुक्ता-फल झोरति ।

गंगावतरण, सर्ग ११, छन्द-संख्या १९

हौंस-भरे हुलसि निहारत निहारि उन्हें ,

घूँघट कियौ सौ घट घूमि घालि घालि उठै ।

बंक लखि लौटनि में लंक की अनौखी अति ,

ऐरी वह लचक हिये में हालि हालि उठै ।

शृङ्गारलहरी, छन्द-संख्या ३६

दाएँ कर गागरि सँभरि झुक बाईं ओर ,

बाएँ कर-कंज नैकुँ घूँघट उठाइ कै ।

दे गई हिये में हाय दुसह उदेग दाग ,

लै गई लड़ेती मन मुरि मुसुकाइ कै ॥

शृङ्गारलहरी, छन्द-संख्या ३८

जुगल बंध बल-बंध हुमकि हुमताइ उचाए ,
 दोउ भुज-बंध उर्वड तोल ताने तमकाए ।
 कर जमाइ करिहायें नैन नभ-ओर लगाए ,
 गंगागम की बाट लगे जोहन हर ठाए ॥

गंगावतरण, सर्ग ७ छन्द-संख्या १३

उपर्युक्त उद्धरणों में कहीं नेत्रों द्वारा भय और आतङ्क की सफल अभिव्यक्ति है तो कहीं नेत्र, कटि, घूँघट इत्यादि की विशिष्ट मुद्राओं द्वारा क्रीड़ा की क्रीड़ा । अन्तिम उदाहरण में भगवान् शङ्कर का जो स्वरूप चित्रित है वह भी अभिनयात्मक होने के कारण जितना सङ्गीत-कला के निकट है, उतना चित्रकला के नहीं । चित्रकला का लक्ष्य स्थूल सौंदर्य की कलात्मक अभिव्यक्ति है, किन्तु इस अभिव्यञ्जना में गत्यात्मकता का समावेश चित्रकला के बस की बात नहीं है । ऐसा प्रयत्न करते ही चित्रकार अपनी कला की परिधि का अतिक्रमण करने लगेगा, किन्तु नृत्यकला का तो आधार ही लययुक्त कलात्मक अभिनय है, अतः ऐसे शब्द-चित्र जो अनुभावों के व्यञ्जक तथा अपनी प्रकृति में गत्यात्मक हैं, काव्यकला की अपेक्षा नृत्यकला की विशेषताओं से अधिक सम्पन्न होते हैं । विस्मयादिबोधकों तथा भ्रू, नेत्र, कटि, हस्तादि के सङ्केतों से जो अभिव्यक्ति होती है, उसे भाषा की परिभाषा समेट ही कहाँ पाती है ।

अपने शब्द-चित्रों में कवि अलकों, कपोलों आदि के जिस कलात्मक सौन्दर्य की सर्जना करता है, वह चाहे ठीक वैसा ही मांसल सौन्दर्य न हो जो भौतिक शरीर का यथार्थ और चित्रकला का सत्य है, तथापि उसकी वर्णना में रूप-आकार की शाब्दिक रेखाएँ विस्पष्ट रहने के कारण अद्भुत चित्रोपमता आ जाती है, अतः चित्रकार के चित्रों से कवि के शब्द-चित्र अपनी प्रकृति में भिन्न होते हुये भी होते चित्र ही हैं; इसी लिए कभी-कभी चित्रों को मूक कविता और कविता को मुखर चित्र कह दिया जाता है । रत्नाकरजी की रचनाओं में भी ऐसे सजीव चित्रों की कमी नहीं है । उदाहरणार्थ 'हरिश्चन्द्र' काव्य से मरघट के डोम चौधरी का यह चित्र उपस्थित है :—

डोम चौधरी मरघट कौ तिहि अवसर आयो
 इक सेवक कं संग सुरा कं रंग रंगायी ,

कारौ तन विकराल बदन [लघु वृग मतवारे ।
 लाल भाल पे तिलक केस छोटे घुँघरारे ॥'

और यह कापालिक का रूप धारण किये हुए धर्म का चित्र हैं :—

करि कापालिक बेस धर्म तब तिहि ठाँ आयौ ।
बसन गेहआ अंग भंग कै रंग समायौ ।

छूटे लांबे केस नैन राजत रतनारे ।
सिर सेंदुर कौ तिलक भस्म सब तन में धारे ।
एक हाथ खप्पर चिमटा दूजें कर आजत ।
गरें हाड़ के हार सहित तरिवार बिराजत ।^१

‘गंगावतरण’ में भगवान् शङ्कर का यह चित्र भी बड़ा आकर्षक है :—

हेम-बरन सिर जटा चंद-छबि-छटा भाल पर ।
कलित कृपा की कटा-घटा लोचन बिसाल पर ॥
फनि-पति-हार-बिहार-भूमि बचछस्थल राजें ।
जग-अवलंब प्रलंब भुजनि फरकति छबि छाजें

दृढ़ कटि-धाम ललाम धाम सुभ दुरद-दुवन कौ ।
गूढ़ जानु जो भार भरत सहजहि त्रिभुवन कौ ॥
अरुन-कोकनद चरन सरन जो असरन जन के ।
जिनकौ गुन-गुंजार करत मन-अलि-मुनि-गन के

गौर सरीर बिभूति भूति त्रिभुवन की सोहै
आनन परम-उदार-प्रकृति-छबि-छलक बिमोहै
उमगि कृपा कौ बारि पगनि डगमग उपजावत
तकि तकि ताँडव नचत दमकि-दम डमरू बजावत ।^२

यहाँ अन्तिम दो पंक्तियों में यद्यपि नृत्यकला की विशेषताएँ उभरने लगी हैं, किन्तु मूलतः यह वर्णन चित्रकला के ही अधिक निकट है। सच तो यह है कि कला के उपकरण साहित्य-सर्जना में सहायक होते हैं, और साहित्य के माध्यम से कला का व्याख्यापन होता है। सङ्गीत और चित्रकला का तो काव्य से है ही घनिष्ठ सम्बन्ध, अतः रत्नाकरजी की काव्य-कला में इन दोनों की विशेषताओं का आ जाना स्वाभाविक ही

१. हरिश्चन्द्र, पृष्ठ ९४, छन्द-संख्या १५-१६,

२. गंगावतरण, पृष्ठ २४६, छन्द-संख्या ३२, ३३, ३४

है,^१ किन्तु इनके अतिरिक्त भी वैद्यक, ज्योतिष, दर्शन, विज्ञान इत्यादि से सम्बन्धित ज्ञान द्वारा उन्होंने अपनी काव्य-कला को जो रस-सम्पत्ति प्रदान की है, उसे देख कर यही विश्वास उद्भूत होता है कि प्रत्येक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति चाहे कलाकार हो या न हो परन्तु कलाकार प्रतिभा-सम्पन्न अवश्य होता है ।

१. काव्य-कला संगीत सरिस जानौ मन माहीं
 बोज में सोन्दर्य किते जे उचरत नाहीं
 तिन्हें सिखावन जोग सूत्र कोउ कहूँ नाहीं
 केवल परम प्रवीननि के आवत कर माहीं

समालोचनादर्श, पृष्ठ ३०, ३१

दशम अध्याय

उपसंहार

(क)

ब्रज-भाषा-कवियों में रत्नाकरजी का स्थान

आधुनिक युग में जन्म लेकर भी रत्नाकरजी मुख्यतः मध्यकालीन कवि थे। उनका ठाठ यदि रीतिकालीन था, तो राग-रसिकता भी कला-युग की थी; इसीलिए उनकी सौन्दर्य-साधना का वादी स्वर शृङ्गार और संवादी स्वर अलङ्कार-प्रियता है। देश-प्रेम, समाज-सुधार, भक्ति, वीर-भावना इत्यादि तो केवल अनुवादी स्वर हैं, जो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हुए भी उनके राग के वादी और संवादी स्वरों को सञ्चरण की सुविधा प्रदान करते रहते हैं।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास लेखकों ने जो काल-विभाजन किया है, उसका उद्देश्य अध्ययन की सुविधा मात्र है। युग-परिस्थितियों के करवट बदलते ही किसी ऐन्द्रजालिक क्रिया से साहित्य में हठात् परिवर्तन नहीं हो जाता, इसीलिए भारतेन्दु-युग की कविता में नवीन स्वर सुनायी देते हुए भी उसमें रीतिकालीन राग-रसिकता निरस्त नहीं है। तत्कालीन इसी विशिष्ट मनोवृत्ति को लेकर भारतेन्दुयुग की अन्तिम आभा रत्नाकरजी ने अपनी काव्य-कला का शृङ्गार किया था। रीतिकाल की प्रायः सभी साहित्यिक मनोवृत्तियाँ उनके काव्य में समुपन्यस्त हैं, किन्तु अपने व्यक्तित्व से संश्लिष्ट करके ही उन्होंने उन्हें ग्रहण किया है।

रीतिकाल में आचार्यत्व और कवित्व साथ-साथ संचरण करते दिखायी देते हैं। रत्नाकरजी ने यद्यपि लक्षण-निरूपण के साथ उदाहरण उपस्थित नहीं किये हैं, परन्तु दोहा, घनाक्षरी, सवैया, रोला इत्यादि छन्दों पर, ब्रजभाषा और उसके व्याकरण पर, या 'समालोचनादर्श' के मौलिक अंश में काव्यालोचन पर उन्होंने जो सामग्री उपस्थित की है, वह उनके आचार्यत्व की ही परिचायिका है। उनकी कविताएँ बिहारी, प्रीतम, नेवाज, रसनिधि, पजनेस जैसे उन कवियों की श्रेणी की हैं जिन्होंने चाहे रीति, गुण, दोष, अलङ्कार, नायिका-भेद इत्यादि से दूर रहकर कविताएँ लिखी हों, किन्तु प्रत्येक कविता में जिनका ध्यान लक्षणों पर केन्द्रित था। जिस प्रकार काव्य-सिद्धान्तों से अनभिज्ञ पाठक इन कवियों को भली-भाँति नहीं समझ सकता, उसी प्रकार रत्नाकरजी की कविताओं का पूर्ण रसास्वादन भी उसके लिए सरल नहीं है।

नख-शिख, नायिका भेद, षट्शतवर्णन और अष्टयाम भी रीतिकालीन शृङ्गारी कवियों के प्रिय विषय रहे हैं। अष्टयाम का विशेष प्रचार तो रीतिकाल में भी नहीं

हुआ और रत्नाकरजी ने भी स्वतन्त्र रूप से इसे नहीं अपनाया, किन्तु नख-शिख, नायिका भेद और ऋतुवर्णन के एक-से-एक सुन्दर उदाहरण उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। प्रस्तुत प्रवर्तन में रत्नाकरजी की इन विशेषताओं को आद्यन्त इङ्गित किया गया है।

रत्नाकरजी का सौन्दर्य-दर्शन प्रायः सर्वत्र सत्-काव्योचित-शालीनता से मण्डित है। कवि की ह्लादस्वरूपा वाणी का आकर्षण बहुतांश में उसकी सौन्दर्य-साधना की क्षमता पर अवलम्बित रहता है। सौन्दर्य से प्रेरणा ग्रहण करके ही कलाकार अपनी कृति में कलात्मक सत्य^१ और कलात्मक शिव की स्थापना में समर्थ हो पाता है। सौन्दर्य की रसात्मक अनुभूति का ही दूसरा नाम प्रेम है और इसी अनुभूति का शिल्प-विधान कला का चरम-लक्ष्य है। विश्वशिल्पी ने सौन्दर्य की मादकता को नारी में ऐसा केन्द्रीभूत किया है कि वह पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को एक साथ अभिभूत करने में समर्थ है^२, इसी कारण कलाकार की मुख्य प्रेरणा नारी बन जाती है। अस्तु, रीतिकालीन परम्परा के कलाकारों में शृङ्गार के अतिशय आग्रह का एक कारण यह भी है। न केवल उस युग के काव्य में प्रत्युत सभी ललित कलाओं में कच, कुच, कटाक्ष की कमनीयता में उन्मत्त तन्मयता मुखर है। 'सङ्गीत दर्पण' जैसी पुस्तकों में वर्णित राग-रागनियों के ध्यान में, ठुमरी और ख्याल गायिकों की आक्षिप्तिकाओं में, राजपूत कलम से निर्मित रागमाला के चित्रों में अथवा उस युग की वास्तुकला में भी यही बात दृष्टिगोचर होती है। व्यथित हृदय शाहजहाँ ने शृङ्गार कुसुमाकर के रूपोदधान की मंदिर समीर से आहत होकर ताजमहल के निर्माण द्वारा काल की करालता को कला के कान्त सूत्रों में आबद्ध कर लिया था। मुमताज के आभूषणों का सौन्दर्य ताज की नक्काशी में उतर आया था, तो उसकी गोराई कठोर संगमरमर की सुकुमार प्रभा में फूट पड़ी थी। उस युग का कवि भी रूप-चषक में यौवन कादम्ब का पान करके मदमस्त था। नारी के मादक

१. Poets are all who love, who feel great truths,
And tell them, and the truth of truth is love.

—बेली।

२. ब्रष्टयेषु किमुत्तमं मृगदृशां 'प्रेमप्रसन्नं मुखं
प्रातयेष्वपि किं तदास्यपवनः आद्येषु किं तद्वचः ॥
किं स्वाद्येषु तदोष्टपल्लवरसः स्पृश्येषु किं तत्तनु-
र्ध्वं किं नवयोवनं सुहृदयः सर्वत्र तद्विभ्रमः ॥

भर्तृहरि-शृंगारशतक, 'श्लोक संख्या ७

मांसल रूप को उसने जी भर कर देखा और उस सौन्दर्य की अन्तःवर्ती रसिकता से काव्यानुभूति ग्रहण करके नख-शिख और नायिका-भेद के चित्रों की कोमल सुकुमार सर्जना की। यह रूप-दर्शन चाहे एकाङ्गी हो, परन्तु अपने आप में निःसन्देह पूर्ण है, साधिष्ठ है। नेत्र यदि बने ही देखने के लिये हैं तब तो सौन्दर्य की स्वतःनिरपेक्ष सत्ता अपने ही अधिकार से सर्वथा अभिशंसन-मुक्त है^१। सौन्दर्योपासक कलाकार की समृद्धानुभूतियाँ ही तो उसकी कला के हृदय की रक्तवाहिनी शिराएँ हैं। रीति-कालीन कवियों ने भी अपनी नायिका में रूप, यौवन, शील, त्याग, कुलीनता प्रभृति गुणों की स्थापना करके उसे इतना हृदय ग्राही बना लिया था कि पूरे दो सौ वर्षों तक नख-शिख और नायिका-भेद निरूपण करते रहने पर भी उनकी तृप्ति सौन्दर्य-चेतना अतृप्त बनी रही थी। यद्यपि रीति कालीन कवियों की तरह रत्नाकरजी के नख-शिख और नायिका-भेद में पुनरावृत्ति और किसी सीमा तक अर्थान्तरण भी है^२, परन्तु भारती का निरन्तर भुक्त कल्पना-भाण्डार रहता सदैव अक्षय ही है^३। प्रतिभाशील कवियों की नूतन व्युत्पत्ति से बारम्बार वर्णित वस्तुओं में भी नवीन आकर्षण व्याप्त हो जाता है, यही

१. (क) Rhodora ! if the sages ask thee why
This charm is wasted on the earth and sky ?
Tell them, dear, that if eyes are made for seeing,
Then beauty is its own excuse for being.

R. W. Emerson.

(ख) चित चितवनि कौं दीन्यौ बिन तकरार

सह्यौ कौन तगादी बरंवार

प्रकीर्ण पद्यावली पृष्ठ ५९०, छन्द-संख्या ५

२. नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वाणिग्नः ।

स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम् ॥

राजशेखर-काव्यमीमांसा-एकादशोऽध्यायः

३. (क) “आसंसारमुदारैः कविभिः प्रतिदिनं गृहीतं सारोऽपि ।

आध्याप्यभिन्नमद्रो विभाति वाचां परिस्थन्दः” ॥

काव्यमीमांसा-द्वादशोऽध्यायः

(ख) “वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः ।

निबद्धापि क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥

आनन्दवर्धन-ध्वन्यालोक-कारिका १० चतुर्थं उद्योतः

कारण है कि रत्नाकरजी ने नायिका भेद जैसे घिसे-पिटे विषय पर भी जो चित्र उपस्थित किये, उनमें सौन्दर्य-बोध की सङ्कीर्णता नहीं है। उदाहरणार्थ भूत-सुरति-सङ्गोपना के निम्नस्थ वर्णन में चर्चित-चर्वणा चाहे हो, किन्तु शृङ्गारिक मनोविज्ञान का एकान्त अभाव नहीं है।

फटि जात बसन हिये में लागि काँट जात ,
कैसे डाँट अपने बिराने की बरेंहें हम ।
कहै रतनाकर त्यों सखिनि सहेलिनि के ,
कूट-काल कूट-घूंट घातक अँचेंहें ' हम ।
अब लौ भई सो भई कब लौं दई कै गई ,
ननद-जिठानी-सास-त्रास सिर सेंहें हम ।
लेंहें बर बेली चार चटक चमेली चुन ,
सुमन गुलाब के न चुनन सिधेंहें हम ॥^१

रीतिकाल में षट्ऋतु वर्णन मुख्यतः उद्दीपन की दृष्टि से ही किया जाता था । सच तो यह है कि अद्यतन प्रकृति-चित्रण प्रायः हुआ ही मानव-प्रसङ्ग में है । आलम्बन की दृष्टि से प्रकृति-चित्रण की जो बात उठायी जाती है, उसका ऐश्वर्य संस्कृत साहित्य में भी प्रचुर नहीं है । वाल्मीकि, भवभूति और कालिदास के नाम उँगलियों पर गिन लेने के बाद और कितने नाम सरलता से सूझ पाते हैं? रत्नाकरजी का ऋतु-वर्णन भी प्रधानतः उद्दीपन की दृष्टि से ही हुआ है, तथापि अपने स्वतः निरपेक्ष रूप में भी प्रकृति उन्हें प्रिय है । अधोलिखित कवित्त में मात्र श्वेत और काले रङ्गों की सहायता से रत्नाकरजी ने धवलमा की मूर्तिमती धारा गङ्गा का यह आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया है :—

पावस अमावस की रैन में बिलोकी जाइ ,
सुर-सरिता पे छबि छलकति छाजी है ।
कहै रतनाकर चहूँधा अन्धकार—रासि ,
अवनि अकास एकमेक रुचि साजी है ।
हिलिमिल तामें धोल धार की अनौखी छटा ,
कबि-मुख चोखी चार उबित उपराजी है ।

तम-गुन-तोम गिरि कज्जल के बीब मनौ ,

उज्जल सतोगुन रजत रेख राजी है ।^१

तथापि समग्र रूप में उनके प्रकृति-चित्रण में रीतिकालीन मनोवृत्ति ही प्रबल है। कहीं-कहीं छायावादी कवियों के समान प्रकृति के मानवीकरण की ओर भी उनकी रुचि उन्मुख सी प्रतीत होती है, परन्तु ऐसे स्थलों पर नायिका भेद का प्रभाव अथवा श्रृङ्गारिक उपमाओं उत्प्रेक्षाओं इत्यादि का चमत्कार जितना प्रबल है, उतना मानवीकरण का आग्रह नहीं। उदाहरणार्थ यह कवित्त लिया जा सकता है :—

सरद निसा की सरिता की सुखदाई छबि ,

हेरत ही हेरत हिये में सरसाति है ।

कहै रतनाकर अमंद चंद्रिका के परें ।

सारी जरतारी की छटा री छहराति है ॥

मीन दृग, चन्द्र-बिंब आनन, सिवार केस ,

कल कल नूपुर की सुधुनि सुहाति है ।

सज्जत सिंगार अभिसारिका रसीली मनौ ,

जीवन-अधार कैं अगार चली जाति है ॥^२

अस्तु, रतनाकरजी का प्रकृति-चित्रण, सौन्दर्य-दर्शन, अथवा श्रृङ्गार-वर्णन पर्याप्त रीति-बद्ध है। उनकी रचनाओं में विभाव, अनुभाव, सखी, दूती, उद्दीपन, कामदशा इत्यादि काव्यगत रूढ़ियाँ बिना प्रयास खोजी जा सकती हैं। यही नहीं, अनेक स्थलों पर रूपक, यमक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, श्लेष जैसे रूढ़िगत अलङ्कारों द्वारा उन्होंने भी रचनात्मक अभिव्यञ्जना को चारुता प्रदान की है। निश्चय ही उनके विरह-वर्णन में अनुभूति-सिक्त मार्मिकता है, परन्तु रूढ़ि-बद्ध ऊहासैली भी सर्वथा उत्सृष्ट नहीं है। स्पष्ट ही काव्य के प्रति रीतिमुक्त कवियों जैसा दृष्टिकोण रतनाकरजी का न था; हो भी नहीं सकता था क्योंकि कलाकार जब तक प्रयत्नपूर्वक कलात्मकता से तटस्थ रहने का उपक्रम न करे, तब तक उसकी कृति बुद्धि-व्यापार-वक्रता से कठिनता से ही बच पाती है, अतः रतनाकरजी रीतिकालीन आचार्य कवियों या रीति-सिद्ध कवियों के जितने निकट हैं, उतने रीतिमुक्त कवियों के नहीं। सांसारिक अनुभव में वे यदि 'बिहारी' के समान बढ़े-चढ़े थे तो ग्रंथ-पाण्डित्य में 'केशव' के समान वर्चस्वी भी थे, इसीलिए उनकी रचनाओं में आत्मनिष्ठता के साथ कलागत प्रयास भी उपपन्न है।

१. प्रकीर्ण पद्यावली, पृष्ठ ५८२, छन्द-संख्या ७४

२. वही, पृष्ठ ५८१, छन्द-संख्या ७२

काव्य का निर्माण जब शुद्ध आत्मोन्मेष की प्रेरणा से होता है तब कवि के हृदय-रस से सिक्त होकर भाषा की रूप-श्री अकृत्रिम शोभा से सम्पन्न हो उठती है। ऐसी स्थिति में काव्य-भाषा के कृत्रिम सौकुमार्य, विकटत्व, मसृणत्व, कांति और माधुर्य से उसका व्यवच्छेद भी हो जाता है, किन्तु रत्नाकरजी की भाषा रीति-शृंगार-चातुरी से विसंयुक्त नहीं है; उसमें कला-नैपुण्य भी है और रचनात्मक जीवन-चेतना का स्पन्दन भी, अतः उनके काव्य में भाव-वैभव के साथ कलात्मक विचार-सम्पत्ति का भी मणि-काञ्चन संयोग हो गया है।

काव्य-रूपों की दृष्टि से रीतिकाल में कथात्मक प्रबन्धकाव्य, वर्णनात्मक काव्य और गेय अथवा पाठ्य मुक्तक लिखे गये। रत्नाकर-काव्य भी अपने रूपाकार में ऐसा ही है। उनका 'हरिश्चन्द्र' यदि प्रबन्ध काव्य है तो 'हिंडोला' और 'कला-काशी' वर्णनात्मक रचनाएँ हैं। निश्चय ही 'गंगावतरण' में भी कथा सूत्र इतना दुर्बल नहीं है कि उसे प्रबन्ध काव्य न कहा जा सके। 'प्रकीर्ण पद्यावली' और 'शृंगारलहरी' में जो कविताएँ संगृहीत हैं वे स्वतः निरपेक्ष और अपने आप में पूर्ण हैं, अतः पूर्वापर प्रसङ्ग की अपेक्षा न रखने के कारण वे सभी मुक्तक रचनाएँ हैं। इस प्रकार रीतिकालीन प्रायः सभी काव्य रूपों में रत्नाकरजी की प्रतिभा और कला प्रतिफलित है। मुक्तक का केवल गेय प्रकार ही ऐसा है जिसे उन्होंने नहीं अपनाया है, किन्तु उनके अनेक पाठ्य मुक्तकों में गेय मुक्तकों की आत्मा का प्रतिष्ठान है। इस कथन के प्रमाण स्वरूप 'सूरसागर' और 'उद्धवशतक' के अधोलिखित उद्धरणों की तुलना की जा सकती है:-

सूरदासः— जे कच कनक कटोरा भरि भरि मेलत तेल फुलेल
तिन केसन क्यों भस्म चढ़ावत होरी कैसे खेल
जिन केसन कबरी गुहि सुन्दर अपने हाथ बनाई
तिनकों जटा कहा नीकी है कहु कैसे कहि आई

सूरसागर, दूसरा खण्ड, पृष्ठ १५३५

रत्नाकरः— चोप करि चन्दन चढ़ायौ जिन अंगनि पै,
तिनपै बजाइ तूरि धुरि बरिबौ कहौ।
रस रतनाकर सनेह निरवार्यौ जाहि,
ता कच कौं हाय जटा-जूट बरिबौ कहौ॥

उद्धवशतक, छन्द-संख्या ३९

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में भाव साम्य तो है, परन्तु शिल्प विधान की दृष्टि से प्रथम उद्धरण में यदि पद-शैली का अनुसरण है तो दूसरा घनाक्षरी में रचा गया है। गीतकाव्य की मार्मिक विशेषता सङ्गीत से सम्पृक्त वैयक्तिक तीव्र रागात्मक अनुभूति

का सहज उच्छलन है, अतः जहाँ वैयक्तिकता की निर्लेप अभिव्यक्ति होती है, वहाँ प्रगीत मुक्तक की विशेषताएँ भी उभरने लगती हैं। भावों की इस निश्छलता को आन्तरिक सङ्गीत, बाह्य सङ्गीत, अथवा इन दोनों ही प्रकार के सङ्गीत से संयुक्त करके और भी तारल्य प्रदान कर दिया जाता है। रूप-आकार की दृष्टि से ऐसी रचनाएँ चाहे परम्परागत पद-शैली में हों, चाहे रीतिकालीन कवित्त-सवैया शैली अथवा आधुनिक गीत-शैली में, उन्हें त्रिव्यात्मक सङ्गीत के रूप में ग्रहण करना कठिन नहीं होता। अस्तु, रत्नाकरजी ने रूपाकार की दृष्टि से पद-शैली को भले ही न अपनाया हो, किन्तु उनकी रचनाओं में यथास्थान परम्परागत पद-शैली की आत्मा और भावना अवश्य विद्यमान है।

रीतिकालीन भाव-धारा शृङ्गारकाव्य, वीरकाव्य, भक्तिकाव्य, नीतिकाव्य, तत्त्वज्ञानकाव्य इत्यादि विविध रूपों में प्रवाहित हुई। रत्नाकरजी पर प्रायः इन सभी का न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा है। उनकी 'शृङ्गारलहरी' यदि रीतिकालीन शृङ्गारिक भावनाओं का उत्तम प्रतिनिधित्व करती है, तो वीराष्टकों में लोकनायकों के शौर्य-वर्णन का स्वर भी वही है जो भूषण, लाल या सूदन जैसे कवियों में मुखर है। जिस प्रकार रीतिकालीन भक्तिकाव्य प्रधानतः शृङ्गारपरक कृष्णकाव्य है, उसी प्रकार रत्नाकरजी की भक्तिपरक रचनाओं में भी ऐसे उदाहरण कम नहीं हैं जिनमें राधिका-कन्हवाई-सुमिरन सचमुच केवल बहाना ही है। नीतिकाव्य और तत्त्वज्ञान सम्बन्धी काव्य रीतिकाल में भी कम लिखा गया और रत्नाकरजी भी कोई उपदेशक नहीं थे, अतः 'उद्धवशतक' 'गङ्गावतरण' इत्यादि में प्रसङ्गवशात् कहीं-कहीं तत्त्वज्ञान की चर्चा तो हो भी गयी है^१, परन्तु नीतिपरक उक्तियों के दृष्टान्त उनकी रचनाओं में क्वचित् ही दृष्टिगत होते हैं।^२

१. जैसैं एकै रूप प्रबल साया बस मैं परि,
बिचरत जग में अति अनूप बहु बिलग रूप धरि ॥
पै जब ज्ञान-बिधान ईस-सनमुख ले आवे।
तब एकै ह्वै बहुरि अमित आतम-बल पावे ॥

गंगावतरण, पृष्ठ २५४, छन्द-संख्या २८

२. (क) ऋनी धनी सौं हैं परत यों परिहरत उद्योत,
देखत दिनकर दरस उर्यो चंद मंद-मुख होत ॥

प्रकीर्ण पद्यावली, पृष्ठ ५९०, छन्द-संख्या ६

- (ख) ऊँची नीची ह्वै रहत अगनित लहत उद्योत।
जुत सिधुतल सुक्ति परि मुक्ति स्वाति-जल होत ॥

वही, पृष्ठ ५९१, छन्द-संख्या १५

अस्तु, रीतिकालीन भाषा, भाव, कल्पना, अलङ्कार-प्रियता, आचार्यस्त्व, शृङ्गारि कता इत्यादि सभी साहित्यिक विशेषताएँ रत्नाकर-काव्य में अशेष रूप से विद्यमान हैं; अतः रत्नाकरजी रीतिकालीन ब्रज-भाषा कवियों की अग्रिम पंक्ति में बैठे दिखायी देते हैं, किन्तु उनका काव्य कौशल उस युग के कवियों से कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा है। रीतिकालीन विशेषताओं के अतिरिक्त उनकी कला-सर्जना में भक्तिकालीन वैष्णव कवियों की भावुकता भी विद्यमान है, और वर्तमान युग की बौद्धिकता भी समुपन्यस्त है। राम-भक्त कवियों की प्रबन्ध-शैली को अपना कर उन्होंने 'हरिश्चन्द्र' और 'गंगावतरण' जैसे प्रबन्ध काव्य लिखे, तो 'विष्णुलहरी' में कृष्ण-भक्त कवियों की भावना का निरूपण किया; रीतिकालीन कवियों की कवित्त-सबैया-पद्धति का अनुसरण 'शृंगारलहरी' में किया, तो अपने युग की बौद्धिकता से लाभ उठाकर रीतिकालीन भावों को मनो-वैज्ञानिक प्राञ्जलता भी प्रदान की; यही कारण है कि उनकी रचना-चातुरी सङ्कलन-बुद्धि से समन्वित् दिखायी देती है। अथक परिश्रम, अवलान्त चित्त, उर्वर मस्तिष्क, भावुक हृदय और आत्मप्रज्ञा द्वारा अतीत को वर्तमान से सम्पृक्त करके उसे पुनः मूर्तिमान करने का उन्होंने जो प्रयास किया है, वह सर्वथा स्तुत्य है और यही उनकी कला का साफल्य है। इस दृष्टि से रत्नाकरजी ब्रज-भाषा-काव्य के अन्तिम 'क्लासिक' कवि हैं।

रत्नाकरजी के समय में, तथा उनके बाद भी, ब्रजभाषा का जो काव्य लिखा गया, वह उनकी रचनाओं के सम्मुख नहीं ठहरता। सत्यनारायण कविरत्न में निश्चय ही प्रतिभा थी, परन्तु वे अपने जीवन की होली खेल कर इतनी जल्दी चले गये कि उनकी प्रतिभा को विकास का अवसर ही न मिल सका। इधर सर्वश्री वियोगीहरि ने 'वीर सतसई' दुलारेलाल भागवत ने 'दुलारे दोहावली' तथा रामेश्वर 'करुण' ने 'करुण सतसई' लिखकर सतसई की परम्परा में योग दिया है। उपर्युक्त सभी रचनाएँ सुन्दर होते हुए भी रत्नाकर-काव्य के स्तर की नहीं हैं। श्री हरदयाल सिंह का 'दैत्यवंश' श्री 'रसाल' का उद्धव-गोपी संवाद तथा श्री 'सरस' का 'अभिमन्यु वध' भी अपने अपने ढंग की प्रशंसनीय रचनाएँ हैं, परन्तु रत्नाकरजी के 'हरिश्चन्द्र' 'गंगावतरण' अथवा 'उद्धव शतक' में उपलब्ध प्रबन्ध-सौष्ठव, श्रुतिमधुर भाषा, एवं भावों की आर्द्रता अन्यत्र दुर्लभ है। इसका मुख्य कारण है आधुनिक युग में खड़ीबोली का प्रचार और ब्रजभाषा की उपेक्षा। ब्रज-काव्य धारा को क्षीण देखकर, हिन्दी-संसार की रुचि पुनः ब्रजभाषा की ओर आकृष्ट करने के लिए, आचार्य शुक्ल ने 'बुद्ध चरित' की रचना की थी, परन्तु 'बुद्ध चरित' की भाषा रत्नाकरजी की स्वभावतः अनुप्रास-गर्भित सरस भाषा के सम्मुख कठोर दिखायी देती है। शुक्लजी पहले एक गद्य-लेखक तथा सफल आलोचक हैं, और

तब कवि, किन्तु रत्नाकरजी पहले कवि हैं, इसके पश्चात् काव्य-शास्त्र के पण्डित । खड़ीबोली के युग में जिन कवियों ने ब्रजभाषा का प्राचीन माधुर्य उपस्थित कर के काव्य-रसिकों के हृदयों को ब्रजभाषा-सौंदर्य की ओर आकृष्ट रखा उनमें रत्नाकर जी का नाय अग्रगण्य है । उनके काव्य में अन्तर्गतत्व और वाह्यतत्त्व के सुन्दर समन्वय से युक्त ब्रजभाषा की स्वाभाविक सङ्गीतात्मकता का माधुर्य अतीव हृदयस्पर्शी है । वस्तुतः ब्रज-काव्य-माधुरी का निर्वाणोन्मुख दीप बुझते-बुझते भी रत्नाकर काव्य के व्याज से अपनी अन्तिम ज्योति-शिखा प्रज्ज्वलित कर उठा था । उनके पश्चात् जिस ब्रजभाषा काव्य का निर्माण हुआ उसमें न तो वैसी आभ्यन्तरीण सुषमा है और न कला-चातुरी का वैशिष्ट्य, अतः निश्चय ही रत्नाकरजी ब्रजभाषा-काव्य के अन्तिम महाकवि थे ।

(ख)

हिन्दी-साहित्य के विकास में रत्नाकरजी का योग

अपने समग्ररूप में रत्नाकर काव्य ऐसा शुद्ध रस-काव्य है, जिसकी अप्रतिहत-गतिशालिनी भाषा में शब्दों का निर्बाध आकर्षण और भावों का अद्भुत तारल्य उपन्यस्त है, फलतः रत्नाकरजी के अध्येता का मन भावों की पावन धारा में सहज ही निमग्न हो जाता है। विस्तृत अध्ययन और अनुभव से उपार्जित अपने ज्ञान को निज कृतियों के माध्यम से उदारतापूर्वक हिन्दी-पंसार को दान करने में उन्होंने कहीं कृपणता नहीं दिखायी है। हिन्दी से रत्नाकरजी की रचनाओं को निकाल देने से उसके वर्तमान-कालीन साहित्य में जो अभाव खटकने लगेगा उसकी कल्पना से ही चित्त शङ्कित हो उठता है।

प्रत्येक प्रवर्तन व्यक्तिगत रुचि पर तो आधृत रहता ही है, उसमें निहित विशिष्ट दृष्टिकोण भी प्रवर्तन की प्रवृत्ति का प्रत्यक्ष प्रत्यायक होता है। हिन्दी-साहित्य के विकास में रत्नाकरजी के योगदान का मूल्याङ्कन करते समय इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वे सौन्दर्य और प्रेम के कलाकार थे। उनकी सौन्दर्य-साधना ने जो मनोरम सृष्टि की है, उसमें कलापरक आनन्द की उपलब्धि के अतिरिक्त और किसी उपयोगिता को खोजना समीचीन न होगा। ताजमहल की ही आखिर क्या उपयोगिता है? शाहजहाँ ने अपनी प्रियतमा मुमताज की स्मृति में जिस ताज का निर्माण किया था, वह आज भी शान से खड़ा हुआ निर्धन प्रेमी-प्रेमिकाओं के पवित्र प्रेम का उपहास कर रहा है। शुद्ध उपयोगिता की दृष्टि से तो वह जनता के धन और परिश्रम के निर्मम अपव्यय की लम्बी कहानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; किन्तु इस सत्य की भी तो उपेक्षा नहीं की जा सकती कि वास्तुकला के चरमोत्कर्ष का उससे भव्यतर प्रतीक अन्यत्र मिलना कठिन है। कला-कृतियाँ स्पष्टतः यह इङ्गित कर देती हैं कि अपने जीवन-दर्शन और कला सम्बन्धी दृग्विन्दु को कलाकार ने कहाँ तक स्पष्ट किया है, तथा उसकी अनुभूति की समृद्धि के स्रोत कौन-कौन से हैं, अतः कलाकार की कला का मूल्याङ्कन करने के पहले एक बार कलाकार के ही नेत्र उधार लेकर उसकी कला-कृतियों को देख लेना आवश्यक है; क्योंकि वह दूसरों की आँखों से नहीं, अपनी आँखों से वस्तुओं की रूप-श्री को देखता है और अपने हृदय-रस से सिक्त करके उन्हें अजर-अमर बना देता है।

एक बात और भी है। 'कला' शब्द का अर्थ इतना व्यापक है कि उसकी सीमाएँ चाहे निर्धारित की जा सकें, परन्तु यह भाषा की दुर्बलता है कि वह उसे परिभाषा के बन्धनों में जकड़ नहीं पाती। कठिनता यह नहीं है कि लोग 'कला' का अर्थ नहीं समझते प्रत्युत यह है कि सभी कुछ-न-कुछ अर्थ समझते हैं, और ठीक समझते हैं, परन्तु परिभाषा का प्रश्न उठने पर कला भावनाओं की सार्वजनीन भाषा भी कही जाने लगती है और अनुकरण, कल्पना, आत्मा का सङ्गीत, मस्तिष्क की सृष्टि, व्यवस्थित सौन्दर्याभिव्यक्ति इत्यादि नामों से भी अभिहित होती रहती है। यहाँ अनुकरण, कल्पना इत्यादि शब्दों के अर्थ भले ही जाने-बूझे हों, परन्तु इनसे कला का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। कला अनुकरण नहीं कलात्मक अनुकरण है, कल्पना नहीं कलात्मक कल्पना है, सृष्टि नहीं कलात्मक सृष्टि है, अतः कला और सौन्दर्य अथवा कला और अनुकरण जैसे किन्हीं दो भिन्न अर्थों में समानता स्थापित नहीं हो सकती। वस्तुतः कला की प्रकृति तथा उसके प्रभाव, कार्य, गुण, उद्देश्य इत्यादि के बीच में विस्पष्ट व्यावर्तक रेखाएँ नहीं खींची जा सकती। कला की एक विशेषता प्रेषणीयता भी है, परन्तु इसका स्वरूप भी बहुत स्पष्ट नहीं है। कलाकार के दृष्टिकोण के अनुरूप यदि प्रमाता में ग्रहणशीलता विद्यमान न हो तो कलामात्र से प्रेषणीयता का अस्तित्व डाँवाडोल हो उठेगा, फलतः कला का अस्तित्व स्वीकार करते ही सहृदय का अस्तित्व भी स्वीकार करना पड़ता है। इसीलिए कला सहृदय संवेदक मानी जाती है, और निश्चय ही रत्नाकरजी की कला भी इसका अपवाद नहीं है।

अस्तु, मानव-हृदय का मन्थन करने वाली शाश्वत भावनाएँ रत्नाकर-काव्य का 'सत्य' हैं भावनाओं का परिष्कार उपका 'शिव' है, अभिव्यञ्जना कौशल 'सुन्दर' है तथा इस सत्य, शिव, और सुन्दर में आद्यन्त कलात्मकता अनुस्यूत है।

रत्नाकरजी का ध्येय काव्य में आलङ्कारिक शैली से भावों का चित्रण था। मध्यकालीन कवियों में से कुछ ने भावों को प्रधानता दी तो कुछ ने अलङ्कारों को, परन्तु रत्नाकरजी ने दोनों का समन्वय करके ब्रज-भाषा के नवीन कवियों के लिए जो सुन्दर आदर्श उपस्थित किया, वह हिन्दी-साहित्य की गति-विधि के नये मोड़ को इङ्गित करता है। शोक, प्रेम, क्रोध, घृणा, उत्साह, इत्यादि को प्रकट करने वाली बाह्य चेष्टाओं के जिन अनुपम चित्रों का उन्होंने निर्माण किया, वे हिन्दी की मूल्यवान् सम्पत्ति हैं। उनके चित्र काल्पनिक होते हुए भी यथार्थ से भासित होते हैं। दृश्यमान जगत से गृहीत संपत्तियों के अतिरिक्त किसी अन्य यथार्थ की कल्पना में जन साधारण का मन अधिक देर तक नहीं रमता। दार्शनिक, वैज्ञानिक, कवि, सभी को घूम फिर कर इसी सामान्य भावभूमि पर आना पड़ता है। जीवन के इस यथार्थ को अनुभूतियाँ भिन्न-

भिन्न होती हैं तथा मन इनमें से भी कभी एक तो कभी दूसरी के यथार्थ का समर्थक बनता रहता है। रत्नाकरजी इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे, इसीलिए भावों के मनोवैज्ञानिक चित्रण में वे इतने सफल हुए हैं। न तो वे किसी दार्शनिक की तरह अपने यथार्थ में लीन हो जाना चाहते थे और न किसी वैज्ञानिक की तरह यथार्थ को परामूर्त कर उस पर विजय-प्राप्ति के आकांक्षी थे। वे तो उसमें तन्मग्न होकर हृदय की राग-रसिकता के साथ उसके सौन्दर्य की कलात्मक अभिव्यक्ति में रस लेते थे और यही कारण है कि उनकी रचनाओं में इतनी स्वाभाविकता आ गयी है। अस्तु, रत्नाकर जी की कला एक ओर तो रीतिकालीन कला के चरम विकास का निर्देश करती है दूसरी ओर अपनी मार्मिक विशेषताओं द्वारा उन्हें महान कलाकार भी घोषित करती है। परवर्ती कवियों के लिए तो उनकी कला निश्चित रूप से अनुकरणीय तथा मार्ग-प्रदर्शक रही है। श्री 'रसाल' तथा श्री 'सरस' इत्यादि ने उनकी कला के अनुकरण का प्रयत्न भी किया है, परन्तु रत्नाकरजी की कला से उत्कृष्ट स्वरूप अभी तक किसी ने उपस्थित नहीं किया। सच तो यह है कि उनके परवर्ती कवियों में से किसी की कला अभी उनकी समता तक नहीं कर सकी है, फिर उनसे आगे बढ़ जाना तो बड़ी दूर की बात है।

हिन्दी-साहित्य को उल्लास और आत्मविश्वास का स्वर प्रदान करने वाले कवियों में रत्नाकरजी का स्थान बहुत ऊँचा है। आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त रहने के कारण निराशा रत्नाकरजी को कभी अधिक अभिभूत न कर सकी। पूर्ववर्ती जिन कवियों को उन्होंने अपना आदर्श मान रखा था, उन्होंने भी जीवन के आनन्द, वैभव और सुख के ही गीत गाये थे, फलतः रत्नाकरजी की रचनाएँ निराशावाद से बहुत दूर रही हैं। छायावाद के युग में भी उनकी रचनाओं में नैराश्य और जीवन से पलायन के स्थान पर मध्ययुगीन कवियों के उल्लास ओज, कला-चातुरी, भावप्रवणता और पाण्डित्य के ही दर्शन होते हैं। उनका दृष्टिकोण एकाङ्गी भी नहीं है। अपने युग की राजनीतिक सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक मनोवृत्तियों को अपनाकर उन्होंने राष्ट्रीय नवचेतना के उद्घाटन में भी निज रचनाओं द्वारा सहयोग प्रदान किया। अतीत की परम्परा और उसके समुज्ज्वल प्रकाश पर ऐसी निष्ठा एवं उसके भावी आलोक पर इतना भरोसा उनके आत्मविश्वास की चरम सीमा है; इसीलिए उनकी रचनाएँ जीवन के बसस और अतीत के गौरव का सन्देश लेकर पाठकों के सम्मुख उपस्थित होती हैं। परिवर्तन की विषमताओं में अविचल रहकर उल्लास और उत्साह के सङ्गीत का स्वर-सम्पान करते रहना सब के बस की बात नहीं है।

वक्त्र-भाषा के परिष्कार में भी रत्नाकरजी ने पूर्ण सहयोग प्रदान किया है। द्विवेदीजी

ने अपने युग में जिस प्रकार खड़ीबोली को व्याकरण सम्पन्न रूप प्रदान किया था, उसी प्रकार रत्नाकरजी ने ब्रज-भाषा को व्याकरण की दृष्टि से प्रौढ़ता प्रदान की। यह भी एक संयोग की बात है कि एक ही युग में द्विवेदीजी खड़ीबोली को तथा रत्नाकरजी ब्रजभाषा को व्याकरण सम्बन्धी एकरूपता प्रदान करने में प्रयत्नशील थे। द्विवेदीजी ने विशेषतः अपने आलोचनात्मक लेखों द्वारा नवीन साहित्य सेवियों को मार्ग दिखाया, किन्तु रत्नाकरजी ने ब्रजभाषा के सम्बन्ध में लेखादि लिखने के अतिरिक्त प्रधानतः अपनी कृतियों का आदर्श सामने रख कर साहित्यिकों को प्रोत्साहन दिया। वस्तुतः भाषा के परिष्कार का जो कार्य आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ीबोली के क्षेत्र में किया वही ब्रज-भाषा के क्षेत्र में मनीषी रत्नाकरजी ने किया।

उनके गद्य लेखों का भी हिन्दी-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। हिन्दी-गद्य-साहित्य के विकास में उनके लेख सहायक हुए हैं। यद्यपि उनके गद्य लेखों की संख्या अधिक नहीं है, परन्तु उन्होंने जो कुछ लिखा है वह हिन्दी-साहित्य की स्थायी वस्तु है। कवित्त, सबैया, दोहा तथा रोला पर उन्होंने जो लेख लिखे हैं, वे आज भी वैसे ही उपयोगी हैं जैसे अपने प्रकाशन के युग में थे।

रत्नाकरजी की सम्पादित पुस्तकें तथा 'बिहारी' पर उनकी टीका भी हिन्दी-संसार को महत्वपूर्ण देन है। 'बिहारी' पर उपलब्ध चालीस से भी अधिक टीकाओं में आज 'बिहारी रत्नाकर' को जो आदर प्राप्त है वह और किसी को नहीं है। उनकी यह टीका सर्वथा प्रामाणिक मानी जाती है। 'सूरसागर' के प्रामाणिक संस्करण के लिए भी हिन्दी-संसार उनका चिरकृतज्ञ रहेगा। उन्होंने स्वसंपादित पुस्तकों से हिन्दी में सम्पादन-कला का मार्ग खोल दिया। उनके द्वारा संपादित 'हमीर हठ' की आलोचनात्मक भूमिका उसी शैली की ओर सङ्केत करती है, जिसका पूर्ण परिपाक आगे चलकर आचार्य शुक्ल द्वारा सम्पादित पुस्तकों में दृष्टिगत होता है।

समन्वयवादी मनोवृत्ति से प्रेरित होकर, जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने खड़ीबोली के भी कुछ कवित्त लिखे थे। कलाकार ज्यों-ज्यों बूढ़ा होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी कला जवान होती जाती है; यही कारण है कि खड़ीबोली के इन कवित्तों में भी उनकी रचना-चातुरी के स्पष्ट दर्शन होते हैं। यों तो आधुनिक काल के कतिपय अन्य कवियों ने भी खड़ी बोली में कवित्त लिखे हैं तथा 'अनूप' जैसे सफल कवियों के कवित्त पर्याप्त प्रौढ़ भी हैं, किन्तु रत्नाकरजी के खड़ीबोली के कवित्तों में ब्रजभाषा के कवित्तों जैसा जो सङ्गीतात्मक प्रवाह मिलता है, वह खड़ी बोली में कवित्त लिखने वालों के लिए अभी तक मार्ग-प्रदर्शक बना हुआ है।

अस्तु, रत्नाकरजी हिन्दी के महान कवि ही नहीं सफल गद्यलेखक, भाषाशास्त्री

टीकाकार, छन्दशास्त्री, पुरातत्त्वान्वेषी, अनुवादक, सम्पादक तथा आलोचक भी हैं । उनके अदम्य उत्साह ने उन्हें साहित्य के अनेक क्षेत्रों में प्रेरणा प्रदान की थी तथा इसमें सन्देह नहीं कि जिस क्षेत्र में उन्होंने पदार्पण किया उसी में सराहनीय सफलता प्राप्त की । अपने जीवन के प्रभात में उन्होंने जिस उपनाम 'रत्नाकर' को स्वीकार किया था, उनकी प्रतिभा और कला के द्वारा कालान्तर में वह हिन्दी-संसार में स्वीकृत ही नहीं सर्वथा सत्य भी सिद्ध हुआ । 'रत्नाकर' की रत्न-राजियों से हिन्दी-साहित्य निश्चय ही समृद्ध बना है ।



सहायक पुस्तकें

जिन पुस्तकों से इस प्रबन्ध में उद्धरण लिये गये हैं, उनका नामोल्लेख यथास्थान कर दिया गया है । अन्य सहायक ग्रन्थों की सूची यहाँ दी जा रही है । इनके तथा इनके अतिरिक्त भी जिन विद्वानों अथवा उनकी रचनाओं से मुझे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में एक शब्द की भी सहायता मिली है उन सब के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ ।

—लेखक

हिन्दी

सर्व श्री

१. उमाशङ्कर शुक्ल (सम्पादक)
२. ऋषीश्वर नाथ भट्ट (अनुवादक)
३. कन्हैयालाल पोद्दार
४. कृष्णबिहारी मिश्र (सम्पादक)
५. कृष्णशङ्कर शुक्ल
६. केशव नारायण सिंह
७. जगन्नाथदास रत्नाकर
८. जगन्नाथप्रसाद शर्मा
९. नन्ददुलारे वाजपेयी
१०. नगेंद्र
११. पट्टाभिसीतारामैया
१२. बलदेव प्रसाद मिश्र
१३. रामचन्द्र शुक्ल

पुस्तक

- सेनापति कृत कवित्त रत्नाकर
बाणभट्ट कृत कादम्बरी
काव्य कल्पद्रुम (दो भाग)
मतिराम ग्रंथावली
आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास
कविवर रत्नाकर
कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत
उद्धवशतक (इण्डियन प्रेस)
गंगावतरण (इण्डियन प्रेस)
हिन्दी की गद्यशैली का विकास
हिन्दी-साहित्य बीसवीं शताब्दी
रीतिकाव्य की भूमिका
कांग्रेस का इतिहास
तुलसी-दर्शन
गोस्वामी तुलसीदास
चिन्तामणि
भ्रमरगीत सार
सूरदास
हिन्दी-साहित्य का इतिहास

(छ)

- | | |
|-------------------------------------|-------------------------------|
| १४. रामविलास शर्मा | भारतेन्दु युग |
| १५. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (सम्पादक) | पद्माकर पञ्चामृत |
| १६. शान्तिप्रिय द्विवेदी | युग और साहित्य
सञ्चारिणी |
| १७. श्यामसुन्दर दास | रत्नाकर (नागरी प्रचारिणी सभा) |
| | हिन्दी भाषा और साहित्य |
| १८. हजारी प्रसाद द्विवेदी | हिन्दी-साहित्य की भूमिका |

अंग्रेजी

- | | |
|------------------------|--------------------------|
| १. इरविन एडमैन | अटॅस एण्ड दी मन |
| २. जान चर्टन (सम्पादक) | ऐसे आन क्रिटिसिज्म (पोप) |

शुद्धि-पत्र

इस पुस्तक में उपस्थित छापे की अशुद्धियों का शुद्धि-पत्र नीचे दिया जा रहा है। हो सकता है कि अभी कुछ और त्रुटियाँ रह गयी हों। यदि पाठकों ने इस ओर ध्यान आकृष्ट करने की कृपा की तो दूसरी आवृत्ति में उनके सुझावों से अवश्य लाभ उठाया जायगा। कहीं-कहीं विरामादि की त्रुटियाँ भी रह गयी हैं, जिनका निराकरण अगले संस्करण में हो जायगा।

प्रकाशक

पृष्ठ पंक्ति अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ पंक्ति अशुद्ध	शुद्ध
२ १८ पसा	पैसा	३० २७ आध्यात्म	अध्यात्म
४ ८ लिये	लिए	३३ २५ वैसे	वैसी
६ २५ लिये	लिए	३४ ५ ऐसा	ऐसा
७ ६ म	में	३८ १७ उन्होंने	उन्होंने
८ १२ ह	हैं	३९ १५ व	वे
९ २३ थ	थे	४० १८ कसे	कैसे
११ १८ लिये	लिए	४२ ४ म	में
११ २२ न	ने	४३ ६ अपन	अपने
१२ ११ ो	तो	४४ ५ न	ने
१५ २० कलकत्त	कलकत्ते	४४ ७ समा	समय
१८ १३ साहित्यकों	साहित्यिकों	४६ ९ जोवन	जीवन
२१ १९ व्रजपात	वज्रपात	४६ १० पियान	पयान
२३ १९ लिये	लिए	४७ ७ दृष्टियों	दृष्टियों
२४ २८ रङ्गमञ्च	रङ्गमञ्च	४८ २१ इस	उस
२४ ३२ घम	घूम	५० ८ ह	हैं
२४ ३२ आ	था	५१ २५ चमि	चूमि
२५ १० मे	से	५३ २ थ	थे
२५ १५ ।	,	५३ २८ म	में
२७ ३१ सदव	सदैव	५५ १९ ह	हैं
२७ ३१ लिये	लिए	५८ २९ शली	शैली
२९ २७ हिन्दू	हिन्दू	५९ ७ वर्माजि	वर्माजी
३० ६ अथ	अर्थ	६५ १८ ध्यन	ध्यान

पृष्ठ पंक्ति अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ पंक्ति अशुद्ध	शुद्ध
६६. २८ इन	इस	१३६ २६ धवाइ	धुवाइ
६८ २४ पीछे	पीछे	१३७ १८ सकते	सके
७१ १८	में	१३७ २० लिये	लिए
७३ २३ १	२	१३८ ११ कछ	कछु
७३ ३२ १	२	१३८ १६ लटैहें	लुटैहें
७७ २ साहित्यिक	साहित्यिक	१४० ४ जगबारी	जुगबारी
७७ ९ करने	करने	१४० २४ चित्रगुप्त	चित्रगुप्त
७८ २४ निरूपण	निरूपण	१४० २६ आय	आयु
८१ ४ स	इस	१४१ ८ जसे	जैसे
८३ १५ एव	एक	१४३ ३ पभाव	प्रभाव
९१ २२ पंक्तिरों	पंक्तियों	१४३ ४ ऐसी	ऐसी
९४ ११ मूल	मूल	१४३ ६ किन्यौ	कीन्यौ
९५ ४ निरूपण	निरूपण	१४३ १० संड	सुंड
९७ ८ अनवाद	अनुवाद	१५७ १० अपनी	अपने
९९ १० साहित्यिक	साहित्यिक	१६६ ३ पाछे	पाछे
१०७ २६ लिये	लिए	१६७ २१ साध	साधु
१११ १६ हवै	हैं	१६९ ४ समस्य-पूर्तियों	समस्या-
११७ १२ आभा	आशा		पूर्तियों
११९ ३ दखा	देखा	१७५ २५ गन	गुन
१२० १९ को	की	१७६ १२ सुपर्णभगनी	सुपर्णभगिनी
१२१ ४ परा	परी	१७६ २५ अससञ्ज	असमञ्ज
१२५ ११ प्रम	प्रेम	१७७ १३ जयमानस्य	यजमानस्य
१२५ १२ प्रसंगानसार	प्रसङ्गानुसार	१७८ १० पदभेद	पदभेद-
१२५ १५ अद्वैतवाद	अद्वैतवाद		विरामेण
१२६ २६ भेदेऽभेद :	भेदेऽभेद :	१७८ १५ बभूव	बबूव
१३२ २ करने	करने	१७९ २९ अदूरदर्शिता	अदूरदर्शिता
१३२ १६ अमूलचूल	आमूलचूल	१८० ८ दशा	दिशा
१३३ ७ दर	बर	१८० २४ विरहणी	विरहिणी
१३३ २१ कै	के	१८० २७ देखता	देखता है
१३४ २० फुरहरि	फुरहरी	१८३ ६ कर्तव्य	कर्तव्य
१३५ १२ ।	का (राम का)	१८५ २० त्रिलोके	त्रिलोक

पृष्ठ पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८८	५ होता	होती	२३३	५ कशल	कौशल
१९०	८ अपन	अपने	२३३	९ बनाती	बनाती
२०१	२० अनढ़ा	अनूढ़ा	२३३	२३ Pages	Page
२०१	२० सम्बध	सम्बन्ध	२३८	१९ महावरा	मुहावरा
२०४	१० सन्देहालङ्कार	सन्देहालङ्कार	२४२	८ भाा	भाषा
२०४	१२ उमेय	उपमेय	२४५	१० तरनी	तरनि
२०४	२२ क	की	२४५	१९ ओजगुण	ओजगुण
२०४	२३ मनोर	मनोरम	२४६	२१ मानी	मानौ
२०४	२४ अलङ्कार	अलङ्कार	२४७	२५ पथ-प्रदर्शक	पथ-प्रदर्शक
२०४	२५ अेक	अनेक	२४७	३१ वविता	कविता
२०४	२६ उस्थित	उपस्थित	२४९	२ अाने	अपने
२०५	६ बरालय	बरुनालय	२५१	२३ excits	excites
२०५	१३ भीषाता	भीषणता	२५७	३ अमोद	आमोद
२०८	१२ भ	भी	२६१	२७ अनौखी	अनोखी
२१०	१८ उर्युक्त	उपर्युक्त	२६५	१२ यमना	यमुना
२१०	२४ सहेलिनी	सहेलिनि	२६८	३० शृंगारसहरी	शृंगारलहरी
२११	३ नीजर	नीरज	२७३	१ वभव	वैभव
२१३	१८ क	की	२७४	१७ २.(क)	२.
२१३	२८ कलाना	कल्पना	२७४	२२ (ख)	१. (क)
२१४	२ उनम	उनमें	२७४	२२ दधाननं	दग्धाननं
२१४	२६ वृद्धार्क	वृद्धार्क	२७४	२७ (ग)	१. (ख)
२१७	१८ ऊार	ऊपर	२७४	२९ कतिकै	कसिकै
२२०	२० बापुरो	बापुरौ	२७५	२३ आाम	अनुपम
२२४	१३ बाह्यावरण	बाह्याडम्बर	२७९	२४ प	पै
२२५	९ प्रवह	प्रवाह	२८१	१६ है।	समिद्ध है।
२२५	२९ म	में	२८३	६ त्येही	त्यौंही
२२६	२ एसी	ऐसी	२८३	११ हो	ही
२२६	१२ बााँ	बातों	२८३	१२ ऊार	ऊपर
२२७	२२ प्रवह	प्रवाह	२८४	१५ ह	हैं
२३२	७ भण्डार	भाण्डार	२८७	१५ दृग	दृग
२३२	११ वचस्व	वचस्व	२९१	१३ समझते	समझाते

पृष्ठ पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२९४ २६ मरि		मुरि	३५९ १६ भूमि		भूख
२९९ १२ तोलों		तौलों	३५९ २५ चर्ण		चूर्ण
३०० २८ अभिव्यक्ति		अभिव्यक्ति	३६१ २६ प्रकीर्णपद्मावली		प्रकीर्णपद्मा-
३०६ १५ न		ने			वली
३०९ ५ गय		गये	३६३ ७ के		कें
३०९ २५ ह		हू	३६५ १६ अपना		अपनी
३१४ ११ धामक		धार्मिक	३७० १५ के		कैं
३२६ १२ नबारौ		निबारौ	३७६ १६ रागनियों		रागिनियों
३२७ ११ ऊजाड़		ऊजड़	३७६ १७ गायकों		गायकों
३२९ २४ चत		चेत	३७८ ३ सङ्कीर्णता		सङ्कीर्णता
३३१ २० न		ने	३७८ ७ अपने		आपने
३३३ १६ देखि		देखै	३८० ११ 'कला-कांशी'		'कल-काशी'
३३९ २४ मुनि		पुनि	३८० ३२ की		का
३४१ १४ उत्कर्ष		उत्कर्ष	३८० ३२ विशेषता		वैशिष्ट्य
३४२ ७ वाला		वाले	३८२ १० सबैयां		सबैया
३४३ १६ होता कि		होता है कि	३८६ १३ उत्कृष्ट		उत्कृष्ट
३५२ २३ अरुन-सुबान		अरुन-सुबाने	३८७ २८ खड़ी बोली		खड़ीबोली
३५३ १५ गृहात		गृहीत	३८७ १ २८७		३८७
३५७ २९ शमनाथ		शमनार्थ	३८७ २५ कवित		कवित्त
३५८ २७ कनिष्कान्गुलि		कनिष्ठाङ्गुलि			

